ओ३म्

योगदर्शनम्

इस भाष्य में योगसूत्रों की मौलिक, विशद्, मनोहारी व व्यवहारिक व्याख्या की गई है। जिस प्रकार माता बालक की रक्षा करती है उसी प्रकार यह भाष्य भी योग-जिज्ञासुओं को योगमार्ग में सतत् बने रहने के लिए सदा प्रवत्त करेगा।
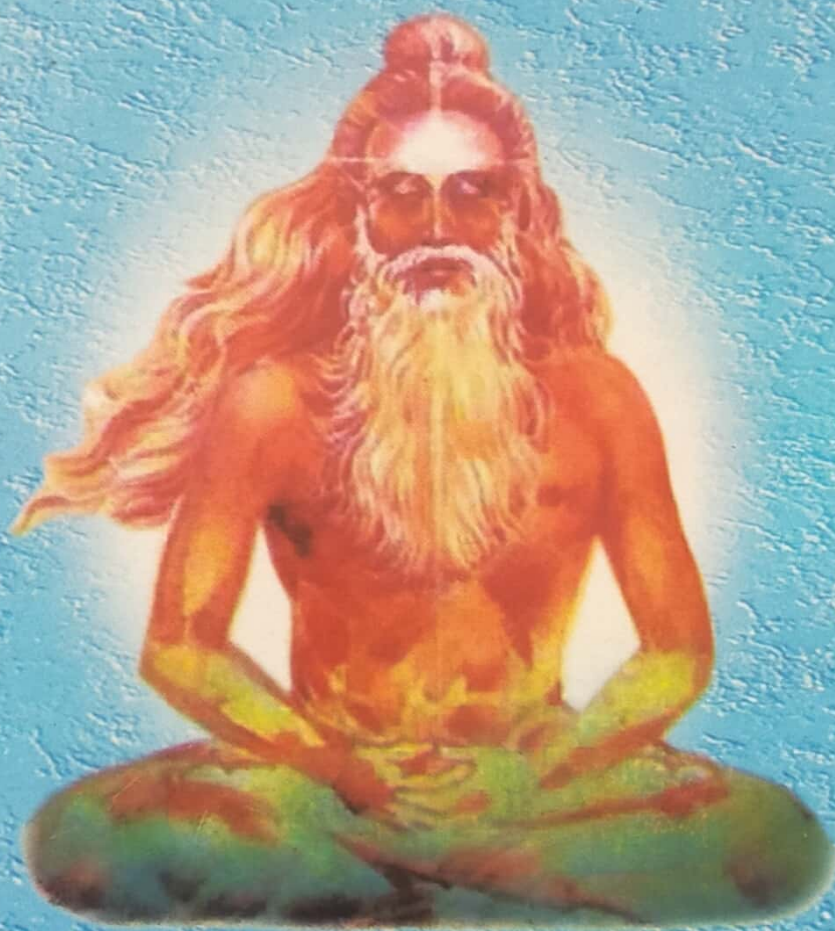
विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्याय-वैशेषिक,
सांख्य-योग तीर्थ, वेदान्ताचार्य शास्त्रशेवधि

आचार्य उदयवीर शास्त्री

॥ ओ३म् ॥

उदयवीर शास्त्री ग्रन्थावली

४

पातञ्जल-योगदर्शनम्

(अभिनवाभिव्यक्तयोगप्रक्रियादिपरिष्कृत-विद्योदयभाष्यसहितम्)

विद्याभास्कर, वेदरत्न

उदयवीर शास्त्री

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति, शास्त्रशेवधि

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

भूमिका

प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों ने आधिभौतिक जगत् की छानबीन के साथ आध्यात्मिक जगत् में भी अनुपम रहस्यों के उद्घाटन में अभिनन्दनीय सफलता प्राप्त की। भारतीय वाङ्मय में अध्यात्म का जितना उच्चकोटि का महत्त्वपूर्ण विवरण उपलब्ध है, संसार के अन्य किसी साहित्य में उपलब्ध नहीं है। वैदिक वाङ्मय का उपनिषद् भाग केवल इसी विषय को विविध प्रक्रियाओं के रूप में प्रस्तुत करता है। उसी स्तर में महर्षि पतञ्जलि की रचना 'योगदर्शन' है, जो अध्यात्म के शिखर पर चढ़ने के लिए एकमात्र नसेनी है जिसमें आठ डण्डे हैं, उनका आश्रय लेकर अध्यात्म के उच्चतम स्तर पर निर्बाध पहुँचा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति सदा सुख-आनन्द का अभिलाषी रहता है। लोक में रहते हुए अनेक रूपों तथा अवस्थाओं में सुख का अनुभव होता है, किन्तु लौकिक साधनों से प्राप्त सुख में कहीं-न-कहीं दुःख का मिश्रण बना रहता है। देहादि से सम्बद्ध होने के कारण उस सुख में स्थायित्व एवं नैरन्तर्य नहीं होता। एक दुःख की निवृत्ति होने पर अन्य दुःखों की अनुवृत्ति होती रहती है। स्थायी सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति उसी के सान्निध्य में सम्भव है, जो स्वयं आनन्दस्वरूप हो। योगदर्शन ने क्लेश-कर्म आदि से अछूत पुरुष विशेष को ईश्वर नाम से अभिहित किया है। 'पुरुष' पद जीवात्मा-परमात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। जैसा चेतन तत्त्व परमात्मा है वैसा ही चेतन तत्त्व जीवात्मा है, किन्तु परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् महत्परिमाण, सत्यसंकल्प तथा आनन्दस्वरूप है, जबकि जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, अणुपरिमाण है और मिथ्याज्ञान राग-द्वेष, प्रमाद आदि से अभिभूत तथा सुख-दुःख मोहान्वित है। इस

प्रकार जीवात्मा के समान चेतन होने पर भी क्लेशादि जीवात्मधर्मों से सर्वथा अलिप्त रहने के कारण उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। उपनिषदों में उसी को **'आनन्दो वै ब्रह्म'** (तै० ३-६) तथा **'रसो वै सः'** (तै० २-७) कहा है। उसी को पाकर जीवात्मा आनन्दमय होता है– **'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** (तै० २-७)। ऋग्वेद (७-११-१) में कहा है– **'न ऋते त्वदमृता मादयन्ते'** अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त किये बिना जीवात्मा आनन्द से वंचित रहता है। यजुर्वेद (३१-१८) के **'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** में भी इसी की ध्वनि है। अतएव ब्रह्म का साक्षात्कार ही मनुष्य जीवन की समस्त क्रियाओं का लक्ष्य है। ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही वह आनन्द से आप्लावित हो जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति योग से ही सम्भव है। कैवल्य-मोक्षरूप परमानन्द की प्राप्ति योग का सर्वोच्च लक्ष्य है।

पातञ्जल योगसूत्र सांख्य के सैद्धान्तिक पक्ष एवं योग के व्यावहारिक पहलू दोनों दृष्टियों से अपने विषय का सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ है। मूलतः वह प्रयोगात्मक शास्त्र है। योग के अंगों का अनुष्ठान उसके अध्ययन का प्रयोजन है। चित्त त्रिगुणात्मक है। उसकी वृत्तियों को रोकना ही योग है। चित्त की पाँच अवस्थायें होती हैं–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें से एकाग्र और निरुद्ध ये दो अवस्थायें योग की हैं। अभ्यास और वैराग्य से चित्त पहले एकाग्र और तदनन्तर निरुद्ध होता है। ओ३म् का जप और ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन ईश्वर-प्रणिधान है। इसी से चित्त को विक्षिप्त करने वाले विघ्न दूर हो जाते हैं। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग है, जो अविद्या आदि पाँच क्लेशों को दूर कर देता है।

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि आठ योग के डण्डे वा अंग हैं। इन योगांगों के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होकर प्रकृति-पुरुष का विवेक प्राप्त होता है।

अहिंसा, सत्य आदि पाँच यम और शौच-सन्तोष आदि पाँच नियम हैं। इनके अनुष्ठान से चित्त की चंचलता दूर होती है और विविध प्रकार के सुखों की भी प्राप्ति होती है। नैतिकता के सर्वोच्च रूप में प्रतिपादित यम-नियमों का आत्यन्तिक पालन किये बिना उच्चतम योगांगों का अभ्यास व्यर्थ है। साँस की गति को नियन्त्रित करना प्राणायाम है। इससे मल धोये जाते हैं और मन धारणा के योग्य हो जाता है। बहिर्मुख इन्द्रियों का अन्तर्मुख हो जाना प्रत्याहार है। इससे मनुष्य जितेन्द्रिय हो जाता है।

योग के अन्तरंग अंग धारणा, ध्यान और समाधि हैं। चित्त को किसी एक स्थान पर टिकाना धारणा है। जिस प्रदेश में चित्त को टिकाया जाय उसी प्रदेश में उसकी वृत्ति का एकाग्र होना ध्यान है। योगाभ्यास की सातवीं सीढ़ी पर पहुँचने पर चित्त की जिस एकाग्र अवस्था में ध्याता-ध्येय-ध्यान तीनों की प्रतीति होती है, उसे ध्यान कहते हैं। जब ध्यान अति प्रगाढ़ हो जाता है अथवा ध्याता ध्यान में इतना लीन हो जाता है कि ध्यान के होते हुए भी ध्याता को उसकी प्रतीति नहीं होती वह समाधि की अवस्था होती है। उस अवस्था में अपनी विस्मृति हो जाती है और केवल ध्येय विषयक सत्ता-आत्मतत्त्व की ही उपलब्धि होती है; अर्थात् ध्येय से तादाम्य हो जाने से अपना पृथक्त्व प्रतीत नहीं होता। ध्येय विषय पर इस प्रकार का चित्तस्थैर्य समाधि है। इस समाधि की प्राप्ति में योग का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

योगसूत्रों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए व्यासभाष्य तथा उस पर वाचस्पति-मिश्रकृत 'तत्त्ववैशारदी' एवं विज्ञानभिक्षुकृत 'योगवार्तिक' आदि के परिप्रेक्ष्य में अद्यावधि संस्कृत में अनेक टीकायें लिखी गईं। कालक्रम से वे भी व्याख्यासाध्य हो गईं। हिन्दी में जो भी व्याख्यायें लिखी गईं वे दुर्बोध होने के कारण सर्वसाधारण के हाथों में न पहुँच पाईं, परिणामतः योग के नाम

पर फैली अनेक भ्रान्तियों के कारण उसका वास्तविक स्वरूप लुप्त होता गया। उदाहरण के रूप में योगदर्शन में योगाभ्यासी के लिए केवल एक आसन का विधान है—जिस स्थिति में कोई सुखपूर्वक देर तक बैठा रह सके वही उसका आसन है। परन्तु आज शरीर के व्यायाम भी आसन के नाम से अभिहित होते हैं।

योग के प्रकृत स्वरूप को जानने और योगविद्या के सूक्ष्मतत्त्वों को समझने के लिए योगदर्शन का आद्योपान्त अनुशीलन आवश्यक है और इसके लिए योगसूत्रों का ऐसा भाष्य अपेक्षित है जो विवेचनात्मक होने के साथ-साथ योग के रहस्यों को सुन्दर, सरल भाषा में उपस्थित कर सके। आचार्यप्रवर पं० श्री उदयवीर जी शास्त्री दर्शनों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। योगदर्शन का विद्योदय भाष्य आचार्य जी के दीर्घकालीन चिन्तन-मनन का परिणाम है। इस भाष्य के माध्यम से उन्होंने योगसूत्रों के सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक पक्ष को विद्वज्जनों तथा अन्य जिज्ञासुओं तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है।

मूलसूत्रों में आये पदों को उनके सन्दर्भगत अर्थों में जँचाकर की गई यह व्याख्या योगविद्या के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। इस भाष्य के अध्ययन से अनेक सूत्रों के गूढ़ार्थ को जानकर योग जैसे क्लिष्ट विषय को आसानी से समझा जा सकता है। उपासना की विधि तथा अनुभूत प्रयोग व अनुष्ठान का उल्लेख होने से सामान्यतः दर्शनशास्त्र में रुचि रखनेवाले और विशेषतः योगमार्ग पर चलनेवाले मुमुक्षुजनों के सन्मुख विद्योदय भाष्य की यह द्वितीय आवृत्ति प्रस्तुत है। जनता ने इसको सराहा और अपनाया है। निश्चयं ही सुजन इससे लाभान्वित होंगे।

आचार्य उदयवीर जी द्वारा प्रणीत साहित्य का प्रकाशन अब तक श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ द्वारा संस्थापित, श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी द्वारा पोषित तथा श्री आचार्य उदयवीर

जी द्वारा प्रतिष्ठित विरजानन्द वैदिक (शोध) संस्थान द्वारा होता रहा है। आचार्य जी के अशक्त हो जाने तथा इस कारण उससे संन्यास ले लेने के परिणामस्वरूप यह संस्थान श्रीहीन हो गया। परन्तु इतने उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से समाज वंचित न हो, इसलिए भविष्य में आचार्य जी की सम्पूर्ण रचनाओं के प्रकाशन का दायित्व गोविन्दराम हासानन्द के स्वत्वाधिकारी श्री विजयकुमार जी ने अपने ऊपर ले लिया। गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन संस्थान की स्थापना महान् गोभक्त हासानन्द जी के सुपुत्र श्री विजयकुमार जी के पिता श्री गोविन्दराम जी ने आर्यसमाज के उदयकाल में की थी। योगदर्शन के प्रस्तुत संशोधित संस्करण का प्रकाशन उसी के द्वारा हो रहा है। श्री विजयकुमार जी को अनेकशः साधुवाद एवं आशीर्वाद।

डी-१४/१६ मॉडल टाउन, दिल्ली —**विद्यानन्द सरस्वती**
१६-१०-९०

॥ ओ३म् ॥

भाष्यकार का निवेदन

छह दर्शन—भारतीय वैदिक छह दर्शनों में एक योगदर्शन है। पर्याप्त प्राचीन काल से यह परम्परा चालू है कि इन छह दर्शनों को दो-दो के तीन जोड़ों में प्रस्तुत किया जाता है—न्याय-वैशेषिक; सांख्य-योग; मीमांसा-वेदान्त। इनमें प्रत्येक जोड़े को आपस में समानशास्त्र अथवा समानतन्त्र कहा जाता है। इनके प्रतिपाद्य सिद्धान्त अधिकाधिक रूप में एक-दूसरे को स्वीकृत होते हैं। मान्यताओं की दृष्टि से अन्य जोड़ों के साथ उनकी इतनी अधिक समानता नहीं होती। फिर भी अनेक मान्यतायें ऐसी हैं, जिनको प्रत्येक दर्शन समानरूप से स्वीकार करता है।[१] न्याय में इस तथ्य का विवेचन उपलब्ध होता है कि जो सिद्धान्त सभी दर्शनों में समानरूप से मान्य हैं, उन्हें 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' कहा जाता है, परन्तु जो सिद्धान्त किसी एक दर्शन अथवा केवल एक जोड़े में मान्य हैं, वे 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' हैं। यह विवेचन छह वैदिक दर्शनों तक सीमित न रहकर तथाकथित अवैदिक तीन लोकायत, बौद्ध, आर्हतदर्शनों को भी अपनी सीमा में घेरता है।

सर्वतन्त्र मान्यता—विभिन्न दर्शनों के अपने विशेष प्रतिपाद्य सिद्धान्त कुछ भी हों; पर इन मान्यताओं से किसी को नकार नहीं कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है, कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता। घ्राण आदि इन्द्रियाँ हैं। पृथिवी आदि भूत हैं; इत्यादि मान्यतायें प्रत्येक दर्शन को स्वीकार्य हैं, भले ही वे दर्शन वैदिक हों अथवा अवैदिक।

भारतीय दार्शनिक वाङ्मय-तरु की इन दोनों पद्धतियों

---

१. द्रष्टव्य, न्यायदर्शन—१।१।२६-३१॥

अथवा शाखाओं के लिए यहाँ 'वैदिक-अवैदिक' पदों का प्रयोग एक विशिष्ट भावना से किया गया है। अनेक लेखक दर्शनों की इन पद्धतियों के लिए यथाक्रम 'आस्तिक-नास्तिक' पदों का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में आस्तिक दर्शन न्याय आदि छह तथा नास्तिक दर्शन लोकायत आदि तीन हैं। परन्तु विभिन्न वर्गीय आचार्यों ने इन पदों का प्रयोग अपने लिए 'आस्तिक' और अन्य वर्ग के लिए 'नास्तिक' किया है।[१] इस प्रकार वे दोनों वर्ग आस्तिक तथा नास्तिक रह जाते हैं। फलतः ये पद दो वर्गों के विभाजक नहीं कहे जा सकते। 'वैदिक-अवैदिक' पद विभाजक-रेखा कहे जा सकते हैं, इसका प्रसंगप्राप्त विवेचन कर देना उपयुक्त होगा।

आस्तिक-नास्तिक कौन? हरिभद्रसूरि ने 'षड्दर्शन-समुच्चय' नामक अपनी रचना में छह दर्शनों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। वे दर्शन हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, बौद्ध एवं आर्हत। इनमें पहले चार दर्शन वैदिक तथा अन्तिम दो अवैदिक हैं। हरिभद्र सूरि की यह रचना पद्यमय है। अपने वर्ण्यमान दर्शनों की सूची तीसरे श्लोक में वह इस क्रम से देता है—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक एवं जैमिनीय।[२] इन दर्शनों के अभिमत विवरण के अनन्तर रचना के अन्तिम उपसंहार भाग में सूरि लिखता है—

जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम्॥७७॥

संक्षेप में जैमिनीय मत का भी उल्लेख कर दिया, इस प्रकार आस्तिक वादों का यह संक्षिप्त वर्णन किया गया। यहाँ ध्यान देने की बात यही है कि सूरि ने इन विवृत दर्शनों को

---

१. इसके लिए देखें—हरिभद्र सूरि का 'षड्दर्शनसमुच्चय' गुणरत्न सूरिकृत व्याख्या सहित। इसका संक्षिप्त विवरण अगली पंक्तियों में प्रस्तुत है।

२. बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो॥३॥

'आस्तिकवाद' कहा है। उसके विचार से इन दर्शनों के अतिरिक्त शेष भारतीय दर्शन नास्तिक हैं। इसके साथ सूरि ने दर्शनों की छह संख्या के विषय में अन्य आचार्यों के विचार का निर्देश इस प्रकार किया—

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥७८॥

अन्य कतिपय आचार्य नैयायिक मत से वैशेषिकों के साथ भेद नहीं मानते तब उनके मत में आस्तिकवादी दर्शन पाँच ही रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ के 'षड्दर्शनसमुच्चय' नाम का सामञ्जस्य कैसे होगा? इसके सामञ्जस्य के लिए सूरि अगले पद्य में कहता है—

षष्ठदर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल।
लोकायतमतक्षेपात् कथ्यते तेन तन्मतम् ॥७९॥

जिन आचार्यों ने न्याय-वैशेषिक को एक ही दर्शन माना है, उनके मत से—ग्रन्थ नाम के सामञ्जस्य के लिए छठे दर्शन की संख्या लोकायत मत को सम्मिलित कर पूरी की जाती है, इस कारण अब लोकायत मत का उल्लेख करते हैं।

ग्रन्थकार सूरि ने प्रस्तुत प्रसंग में इन छह दर्शनों को दो बार 'आस्तिकवादी' मत बताया है तथा उसी आस्तिकवाद मत में छठे लोकायत मत को सम्मिलित किया है। इससे स्पष्ट है कि सूरि चार्वाक (लोकायत) दर्शन को आस्तिकवादी दर्शन मानता है। इन दर्शनों को आस्तिकवादी माने जाने का आधार क्या है? यह विचारणीय है।

वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करना या न करना आस्तिक नास्तिकवाद का आधार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त दर्शनों में कतिपय दर्शन (न्याय आदि) वेद प्रामाण्य को स्वीकार करनेवाले हैं, दूसरे बौद्ध, जैन एवं लोकायत वेद के प्रामाण्य को नितान्त स्वीकार नहीं करते। यहाँ परिगणित दर्शनों के आस्तिकवादी होने का कोई ऐसा आधार होना चाहिए, जो

इन सबके लिए समानरूप से मान्य हो। मानव धर्मशास्त्र[१] आदि में जहाँ वेद की निन्दा करनेवाले को नास्तिक कहा है, वहाँ हरिभद्र सूरि उनको आस्तिक बता रहा है। इसलिए इन दर्शनों के आस्तिकवाद का आधार 'ईश्वर के अभाव को स्वीकार करना' कहा जा सकता है।

पाणिनि व्याकरण[२] के अनुसार जिस विषय में किसी व्यक्ति का विचार उस विषय को स्वीकार करने में है, तो उस विषय की दृष्टि से वह आस्तिक कहा जायगा। यदि व्यक्ति का विचार विषय को अस्वीकार करने में है, तो वह नास्तिक होगा। इसके अनुसार **'ईश्वराभावे अस्ति मतिर्यस्य स आस्तिकः'** तात्पर्य हुआ–ईश्वर के अभाव में जिसकी मान्यता है, वह आस्तिक है। वेद के प्रामाण्य को चाहे वह माने या न माने, पर ईश्वर के अभाव को मानता हो, वह आस्तिक है। इस रूप में हरिभद्र सूरि के उक्त दर्शन आस्तिकवादी हैं, क्योंकि वे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

ईश्वर की अमान्यता–बौद्ध, जैन एवं लोकायत दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते, यह विद्वत्समाज में सर्वविदित है। वैदिक छह दर्शनों में से चार की गणना यहाँ ईश्वरास्तित्व को न माननेवालों में की गई है। भारतीय वाङ्मय–इतिवृत्त के मध्यकाल में जब बौद्धदर्शन उभार में आया और उसके कर्कश तर्कों का दबाव वैदिक दर्शनों पर पड़ा, तब इनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों की गहरी छान–बीन हुई। इनमें साधारणरूप से कहे गये कुछ ऐसे तत्त्व विरोधी दार्शनिकों ने पकड़े तथा उनको इस रूप में श्रमपूर्वक उछाला गया, इस बात को उन आधारों पर उजागर किया गया कि ईश्वर के वैसे अस्तित्व को इन दर्शनों की प्रक्रिया के अनुसार सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो वैदिक वाङ्मय में अभिमत है। भले ही वे वेदों के गीत गाते रहें, पर

१. मनुस्मृति २।११॥
२. पाणिनीय अष्टाध्यायी ४।४।६०॥

वैसे ईश्वर के न मानने का कलङ्क हम पर ही क्यों आरोपित किया जाता है?

चार वैदिक दर्शनों को जिन आधारों पर निरीश्वरवादी कहा गया, वे तत्त्व संक्षेप में इस प्रकार समझने चाहिएँ—न्याय-वैशेषिक और मीमांसा का 'अदृष्टवाद' अथवा धर्माधर्मवाद', मानव जो शुभ-अशुभ या पुण्य-पापरूप कर्म करता है, उससे जो धर्म-अधर्मरूप संस्कार आत्मा में सञ्चित हो जाते हैं, उन्हीं के अनुसार शरीर इन्द्रिय आदि तथा अन्य भूत-भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति हुआ करती है। समस्त सृष्टि-रचना के प्रति इन कर्मों की कारणता पर इतना बल दिया गया कि उन दर्शनों में कर्म ही कारण रह गये, सृष्टिकर्त्ता ईश्वर उपेक्षित हो गया। वेदविरोधी तार्किकों ने इस स्थिति को इतने प्रबल रूप में प्रस्तुत किया कि दार्शनिक समाज में यह विचार भी स्थान पा गया कि ये दर्शन निरीश्वरवादी हैं।

यद्यपि न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा में कोई ऐसा स्पष्ट लेख उपलब्ध नहीं है, जिससे इनके निरीश्वरवाद का संकेत मिलता हो। प्रत्युत इसके विपरीत मूल[१] सूत्रों तथा व्याख्याग्रन्थों में अनेक ऐसे स्पष्ट लेख उपलब्ध हैं, जिनसे इन दर्शनों में ईश्वर के अस्तित्व की मान्यता उपपादित होती है। पर उस काल में विरोधी दार्शनिकों ने जैसे इन दर्शनों की निरीश्वरवादिता को उभारा और अच्छी तरह उछाला, प्रचारा, वैसे ही वैदिक दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों की छाया में ईश्वरसिद्धि विषयक महत्त्वपूर्ण प्राञ्जल ग्रन्थों की रचना की। इस विषय पर उस काल में दोनों वर्गों के महान विद्वानों के बड़े-बड़े ऐतिहासिक शास्त्रार्थ संपन्न होते रहे। जिनके परिणामस्वरूप अपने-अपने वर्ग की रचनाओं में जय-पराजय के उल्लेख उलपब्ध होते हैं।

---

१. न्याय, २।१।६८॥, ४।१।१९-२१॥, ४।२।३८-४६॥ वैशेषिक, १।१।३॥, २।१।१८-१९॥, १०।२।९॥ प्रशस्तपादभाष्य, प्रारम्भिक प्रसंग तथा सृष्टि-संहार विधि प्रकरण। न्यायकुसुमाञ्जलि, आचार्य उदयन कृत।

न्याय आदि तीन दर्शनों में भले ही निरीश्वरवाद का कोई स्पष्ट उल्लेख न रहा हो, पर सांख्यदर्शन में यह स्थिति दुहरा बल लेकर सामने दिखाई दी। वहाँ ईश्वर की असिद्धि[१] के स्पष्ट निर्देश के साथ जगद्रचना में प्रकृति के स्वतन्त्र होने का उल्लेख भी स्पष्ट है। इससे सांख्य की निरीश्वरवादिता के प्रचार-प्रसार को बहुत बल मिला। इससे न केवल समस्त विद्वत्समाज में सांख्यदर्शन एवं सांख्य के प्रवक्ता परमर्षि कपिल निरीश्वरवादी के रूप में जाने जाते हैं, प्रत्युत वह वर्ग भी जिसने कभी सांख्य को देखा-सुना तक नहीं--उनको दावे के साथ निरीश्वरवादी समझता है। यद्यपि सांख्य में ईश्वर की असिद्धि, ईश्वर को जगत् के उपादानकारणरूप में असिद्ध बताना है, न कि उसके अस्तित्व व जगत्कर्ता के रूप में असिद्ध बताना। प्रकृति की स्वतन्त्रता का तात्पर्य भी केवल इतना है कि प्रकृति जगद्रूप में परिणाम के लिए अन्य किसी को अपना साथी नहीं बनाती। परिणाम के रूप में उसका अन्य कोई सहयोगी नहीं, उतने अंश में वह स्वतन्त्र है। तात्पर्य है जगद्रूप परिणाम केवल प्रकृति का है, अन्य कोई तत्त्व उसके साथ परिणत नहीं होता।

प्रचार का परिणाम—उस काल में इतनी बात की ओर किसी का ध्यान क्यों नहीं गया? कहा नहीं जा सकता। ऊँचे स्वर में दृढ़ता के साथ निरन्तर किया जाता प्रचार अपना महत्त्व रखता है। इस समय मुझे अपने बाल्यकाल की गाँव में हुई एक घटना का स्मरण हो आया है—

गाँव में एक जादूगर आया, बहुत मधुर बीन बजाता और जादू के खेल दिखाता था। उस समय मेरी आयु आठ-नौ वर्ष

---

१. 'ईश्वरासिद्धेः' [१।५७] सांख्यदर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है। (यह सूत्रसंख्या संस्थान से प्रकाशित संस्करण की है। इसमें ३६ जोड़कर किसी भी अन्य संस्करण में सूत्र देखा जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व को बतानेवाले सूत्र [३।५६-५७] द्रष्टव्य हैं। सूत्र [१।६१] भी द्रष्टव्य। अन्य संस्करणों में [१।९७]।

के लगभग रही होगी। विशाल पीपल का पेड़, उसकी जड़–तने के चारों ओर ऊँचा चौकोर चबूतरा, उस पर तने के साथ लगा–बड़ा सा चौकोर कंकड़ रखा रहता, जिस पर चामुण्डा देवी की आकृति उत्कीर्ण थी। इस समय कह सकता हूँ कि वह शिल्प की दृष्टि से नितान्त भद्दी, पर देवत्व की क्षमता से पूर्ण, उस पर पूजा के अक्षत माथे का सिन्दूर व कभी पुष्प आदि उधर से आने–जानेवालों को अपना सिर झुकाने के लिए यह स्थिति बरबस प्रेरित करती।

उसी पीपल की छाया में उस दिन जादूगर ने अपना झोला उतारकर नीचे टिकाया और डुगडुगी जोरों से ताल–स्वर में हिलाई। आस पास आबाल–वृद्ध सभी दो–चार मिनट में चारों ओर इकट्ठे हो गये, मैं भी अपने पितृव्य (चाचा) के साथ तमाशा देखने पहुँचा। जादूगर ने बहुत–से आश्चर्यजनक चमत्कारपूर्ण खेल दिखाये, सब दर्शकों को अचम्भित कर दिया। अन्त में बोला—''आठ–दस नौजवान पट्ठे एक ओर निकल आयें।''

जादूगर ने एक मोटे रस्से का कोना अपने झोले और चादर के नीचे से खींचकर बाहर की ओर दूर तक फेंककर कहा—''इसे आप सब पकड़कर खींचेंगे, मैं इसके दूसरे सिरे के ऊपर बैठा हूँ, दोनों हाथों से रस्से को अपनी ओर खींच रहा हूँ। आप आठ–दस नौजवान दूसरी ओर रस्से को पकड़कर मुझे खींचें। रस्से का दूसरा सिरा झोले और चादर से ढका मेरे नीचे दबा है।'' लोगों ने सोचा होगा, एक झटके में रस्सा सर्र से बाहर खिंचकर आ जायगा, इसकी क्या बिसात जो हम नौजवानों से न खिंचे। पर जादू तो जादू ही है। उन नौजवानों ने पूरा जोर लगा दिया, चेहरों पर सुर्खी चमक आई, पसीना की बूँदें झलकने लगीं, पर जादूगर के हाथों में थमा रस्सा टस–से–मस न हुआ। रस्सा छोड़कर सब नौजवान एक ओर खड़े हो गये, वे और सब दर्शक हैरान थे। जादू का करिश्मा बेनजीर था। आठ–दस नौजवान एक सींकिया तिलचट्टे को न खींच सके।

जादू, झोला और चद्दर के नीचे छिपा था।

प्रसन्नता की मुद्रा में जादूगर उठा, बीन उठाई, उछल-कूद करता हुआ बीन से मधुर स्वर-लहरी गुँजाने लगा; खुले घेरे में दर्शकों के साथ लगता हुआ तेजी से एक चक्कर लगाकर बीन रख दी और चादर पर बैठकर खुदा से सबके लिए दुआ माँगते हुए, चादर का एक कोना सबके सामने फैला दिया। लोगों ने उस पर जैसे ही पैसे डालने शुरू किये, एक नौजवान 'ठहरो-ठहरो' चिल्लाता हुआ दौड़कर आया, जो अभी तक चामुण्डा के चबूतरे के दूसरी ओर चुपचाप खड़ा तमाशा देख रहा था। वह चिल्लाकर बोला-''जादूगर को उठाकर इसकी चादर के नीचे देखो, जादू क्या है? यह चादर में हाथ न लगाने पाये।''

यह कहते-कहते उस नौजवान ने जादूगर का हाथ पकड़कर एक ओर झटके के साथ खींचकर खड़ा कर दिया और कहता जा रहा था-''दूर खड़े होकर इसका जादू भाँपता रहा हूँ। अभी सच्चे जादू का पता लग जायगा।'' यह कहते हुए पैर की ठोकर से चादर को एक ओर फेंक दिया।

चादर के हटते ही लोग अवाक् रह गये। उन्होंने देखा कि वहाँ जमीन की बराबर पीपल की एक पतली-सी जड़ उभरी हुई है। रस्सी का दूसरा किनारा उसमें फँसा हुआ है।

''खेल दिखाते हुए जादूगर ने उसको जाँचा, उसके ऊपर चादर डालकर कई बार उस पर आकर बैठा और चादर में नीचे हाथ डालकर जादू करने के बहाने रस्सी के सिरे को वहाँ फँसा दिया। उसकी इन हरकतों को खेल के बीच दूर खड़ा मैं भाँप रहा था। अब आखिर हिम्मत करके असलियत पकड़ने के खयाल से दौड़ पड़ा। अब खेल तो खत्म हो ही गया है, देखें क्या बात है? आठ-दस नौजवानों से भी रस्सा क्यों नहीं खिंच सका? अब सब देख लो, यह है-जादू।'' -नौजवान बोला।

साहित्य के जादूगर की बीन कहीं-अधिक प्रभाव रखती है। लेखनकला, भावगाम्भीर्य, पदसौष्ठव, आधिकारिक प्रशासन

वर्गीय उच्चभावना आदि सभी उस बीन के स्वरूप हैं। बौद्ध विद्वानों और बौद्ध प्रशासन के काल के संस्कृत वाङ्मय पर वह प्रभाव आज भी छाया है, यहाँ तक कि उसी को तथ्य माना जाता है। ठीक यही स्थिति आज उस साहित्य की है, जो पाश्चात्य पादरी लेखकों ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय, इतिहास, सामाजिक संघटन, राजनीति, प्रशासन, संस्कृति आदि के विषय में प्रस्तुत किया है। प्रचुर मात्रा में लिखा गया वह साहित्य कार्य की दृष्टि से अतिमात्र अभिनन्दनीय होते हुए भी परिणाम में पूर्णग्राह्य नहीं माना जा सकता। कितना भी मधुर खाद्य हो, देखकर मक्खी निगलना सम्भव नहीं होता।

फलतः तात्कालिक वैचारिक प्रभावों से बुद्धिजीवी वैदिक वर्ग आंशिक हीन-भावना से ग्रस्त हुआ, जिसके फलस्वरूप दार्शनिक वाङ्मय में जहाँ-तहाँ फेर-बदल स्वीकार कर लिया गया। कहा गया--जो जगत् को ब्रह्म-परमात्मा या ईश्वर का परिणाम मानता है, उसके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता, वही ब्रह्मवादी, परमात्मवादी अथवा ईश्वरवादी है। जो ऐसा नहीं मानता, वह निरीश्वरवादी। लिहाजा न्याय-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसा निरीश्वरवादी दर्शन मान लिये गये।

'आस्तिक-नास्तिक' की परिभाषा बदली गई। कभी मनु ने कहा था—वेद की निन्दा करनेवाला नास्तिक है,[१] आचार्य पाणिनि[२] ने बताया—जो परलोक को अर्थात् पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, वह आस्तिक तथा जो ऐसा नहीं मानता वह नास्तिक है। इस अर्थ को ऐसा भी कहा जा सकता है--जो आत्मा को देह आदि से अतिरिक्त मानकर नित्य सदा विद्यमान रहनेवाला

---

१. 'नास्तिको वेदनिन्दकः।' मनु० २।११॥

२. पाणिनीयाष्टक, ४।४।६०॥ अस्ति मतिरस्य, आस्तिकः। नास्ति मतिरस्य, नास्तिकः। न च मतिसत्तामात्रे प्रत्यय इष्यते, किं तर्हि? परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः।' तद्विपरीतो नास्तिकः। (काशिका वृत्ति)।

स्वीकार करता है, वह आस्तिक तथा जो ऐसा नहीं मानता, वह नास्तिक है। हरिभद्र सूरि ने और आगे बढ़कर बताया—जो ईश्वर के अभाव को स्वीकार करता है, वह आस्तिक और जो ऐसा नहीं मानता, वह नास्तिक है। इस रूप में न कोई आस्तिक है न नास्तिक तथा सब आस्तिक हैं और सभी नास्तिक। इसी कारण प्रस्तुत प्रसंग में भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण के लिए यहाँ 'आस्तिक-नास्तिक' पदों का प्रयोग न कर 'वैदिक-अवैदिक' रूप में उनकी विभाजन रेखा को स्वीकार करना उपयुक्त समझा है।

हरिभद्र सूरि के आस्तिक दर्शनों की सूची में चार वैदिक दर्शनों की गणना की गई है, वेदान्त और योगदर्शन ये दो छोड़ दिये गये हैं। गत पंक्तियों में यह स्पष्ट कहा गया है कि सूरि के विचार में आस्तिक दर्शन का स्वरूप है—ईश्वर के अभाव को स्वीकार करना। इसी रूप में बौद्ध, जैन एवं लोकायत दर्शनों के साथ सांख्य, मीमांसा तथा न्याय-वैशेषिक को जोड़ लिया गया है। वेदान्तदर्शन विशुद्ध-रूप से ब्रह्मतत्त्व का निरूपण करता है। उसी को अन्य दर्शनों में 'ईश्वर' नाम से कहा गया है; इस कारण वेदान्तदर्शन सूरि के आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में नहीं आता।

पातञ्जल योगदर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसके उपयोग का उल्लेख अवश्य हुआ है, पर ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश वहाँ नहीं है, जिससे यह प्रकट होता हो कि ईश्वर जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कर्त्ता एवं विश्व का नियन्ता आदि है। सृष्टिप्रक्रिया आदि के विषय में पातञ्जल योगदर्शन की मान्यता वैसी ही है, जिसका उपपादन कापिल सांख्यदर्शन में हुआ है। योगदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-पुरुषविवेकख्याति के उपायों का विवरण प्रस्तुत करना है। उसमें ईश्वर के अस्तित्व का जो उपयोग अपेक्षित है ईश्वरविषयक विवरण में उतना ही उल्लेख योगदर्शन करता है

समाधिसिद्धि के लिए ईश्वर के वाचक पद 'प्रणव' के जप का ही मुख्यरूप से वहाँ उपपादन हुआ है। यह क्यों अपेक्षित है? और यही उपाय सर्वातिशयी क्यों है? इसके भी संकेत उन सूत्रों[१] में उपलब्ध हैं। योग के उपायभूत आठ अङ्गों में 'नियम' नामक द्वितीय अङ्ग के पाँच अवयवों में अन्तिम अवयव 'ईश्वर-प्रणिधान' है।

समाधि भी मूर्द्धन्य अवस्था प्राप्त करने के लिए सर्वश्रेष्ठ एवं प्रधान उपायों के रूप में 'परवैराग्य' और 'ईश्वरप्रणिधान' दो को ही स्वीकार किया गया है। शेष सब अङ्गभूत उपाय इन्हीं के सहयोगी हैं। इनमें पहला सांसारिक आकर्षणों से आत्मा को दूर हटाता है और दूसरा उसे परमात्मा के साथ जोड़ता है, यही जीवन का परमलक्ष्य है। योगदर्शन में प्रसंगानुसार[२] एकाधिकबार 'ईश्वरप्रणिधान' का निर्देश योगसिद्धि के साधन के रूप में उसके महत्त्व को प्रकट करता है। इसी कारण योगदर्शन भी सूरि के आस्तिक दर्शनों की सूची में स्थान नहीं पा सका।

कतिपय इतिहासप्रेमी सूरि के दर्शन-परिगणन में शाङ्कर दर्शन का उल्लेख न पाकर यह कल्पना करने का साहस करते हैं कि शङ्कर हरिभद्र सूरि से परवर्त्ती आचार्य है। पर वे सतही इतिहास-कथाओं में उलझे हुए इस ओर ध्यान देने का कष्ट नहीं करते कि यह प्रश्न केवल शङ्कर का नहीं, सूरि ने तो वेदान्त व योग मूलदर्शनों का भी उल्लेख नहीं किया तो क्या बादरायण व पतञ्जलि भी सूरि के परवर्त्ती आचार्य माने जाने चाहिएँ? ऐसा दुस्साहस इतिवृत्त-तरु की पल्लवग्राहिता का ही द्योतक है।

अन्य दर्शनों का पूरक योग—समस्त वैदिक दर्शन जिन विविध विषयों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं, उनमें योगदर्शन का अपना विशिष्ट प्रतिपाद्य है। जो अन्य दर्शनों को अपेक्षित होते

१. द्रष्टव्य, सूत्र, १।२३-२८ ॥
२. देखें, जपनिर्देश [१।२७] के अतिरिक्त सूत्र २।१; २।२३; २।४५॥

हुए भी उनमें विवृत नहीं हुआ। सभी दर्शन तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति अथवा अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का निर्देश करते हैं। तत्त्वज्ञान है--तत्त्वों को यथार्थ साक्षात् रूप में जान लेना। तत्त्वों की दो विधायें हैं—एक चेतन, दूसरी जड़। समस्त विश्व इन्हीं दो विधाओं में सिमटा है, तीसरा कोई प्रकार नहीं। दर्शनों में मतिभेद से यह मान्यता तो सामने आई है कि वस्तुतत्त्व के दो प्रकार न मानकर एक से ही वैचारिक कार्य चलाया जा सकता है, चाहे वह एक चेतन हो, या जड़। परन्तु सांसारिक परिस्थितियों पर गम्भीर चिन्तन से यह तथ्य स्पष्टरूप में सामने उभरकर आता है कि इन दोनों में से पहली एक चेतनमात्र मान्यता का प्राबल्य केवल वाचिक जगत् में दिखाई देता है, व्यवहार या आचरण में कभी नहीं अंशमात्र अस्तित्व भले रहता हो। इसके विपरीत दूसरी एकमात्र जड़ सत्ता का प्राबल्य समस्त व्यवहार व आचरण में भरपूर रहता है। तात्पर्य है—अध्यात्म केवल वाचिक चर्चाओं का विषय अधिक रहता है, अधिभूत का अस्तित्व मानवमात्र के आचरण में आनेवाला उजागर विषय है।

वास्तविकता यह है कि सांसारिक स्थिति अपने स्वरूप से किसी एक मान्यता के विषय में गवाही नहीं देती। एकमात्र मान्यतावाला कोई दर्शन सांसारिक स्थिति की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। जड़वादी का चेतन से पीछा नहीं छूटा और चेतनवादी जड़तत्त्व की मान्यता से अपना पीछा नहीं छुड़ा सका। इसलिए निर्दोष मार्ग यही है कि विना किसी खटपट के दोनों सत्ताओं को स्वीकार कर आगे विचार किया जाय। इस स्थिति में वह कार्य सामने आ जाता है, जिसका विवेचन करने के लिए दर्शनशास्त्र का उद्भव हुआ। वह है—चेतन और जड़तत्त्वों के स्वरूपों का साक्षात्कार। संसार में क्या और कितना चेतन है? तथा क्या और कितना जड़ है?

खुली जानकारी के लिए पहले जड़ तत्त्व को लेते हैं। इसके लिए अब प्रस्तुत प्रसंग में 'अधिभूत' पद का प्रयोग

उपयुक्त रहेगा। मानव अथवा प्राणिमात्र सीधा जिस वातावरण में रहता, समस्त जीवन बिताता, जन्मता और मरता है, उस अधिभूत जगत् का आंशिक विवरण वैशेषिक दर्शन प्रस्तुत करता है। पृथिवी आदि स्थूलभूतों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को मूलतत्त्व मानकर वहीं से इस दृश्य-अदृश्य जगत् का सृष्टि–संहारविषयक विवेचन प्रस्तुत किया है। पृथिवी आदि के सूक्ष्मकणों की रचना अथवा उनकी पूर्वस्थिति आदि के विषय में विवेचन करना वैशेषिक का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। उन कणों को मूल मानकर आगे उनसे दृश्य जगत् की रचना पद्धति का विवेचन प्रस्तुत करना इस दर्शन का लक्ष्य है। पृथिवी आदि सूक्ष्मकण अथवा पृथिव्यादि परमाणुओं की रचना और उनसे पूर्व की तात्त्विक स्थिति का विवरण सांख्यदर्शन में प्रतिपादित किया गया है। इन तत्त्वों को व्यावहारिक रूप में जानने–समझने की पद्धति को प्रमाणों के रूप में न्यायदर्शन निरूपित करता है। विशेषरूप से अनुमान प्रमाण का निर्दोष स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसका विस्तृत विवरण न्यायदर्शन में किया गया है।

इन सभी दर्शनों में चेतन आत्मतत्त्व का भी यथायथ अपेक्षित वर्णन है। परन्तु तत्त्वज्ञान के रूप में कहे जानेवाले-चेतन और जड़ के पारस्परिक भेद का साक्षात्कार ज्ञान जिन पद्धतियों द्वारा होता है, उनका कुछ भी विवरण इन दर्शनों में नहीं है। पर इस निमित्त उन उपायों के उपयोग के लिए निर्देश अवश्य किये हैं। गौतमीय न्यायसूत्रों [४।२।४६–४८] में यह स्पष्ट कहा है– समाधि–सिद्धि के लिए यम–नियम आदि के आचरण से रागादि मलों के नाश द्वारा आत्मा को संस्कृत (शुद्ध संस्कार युक्त) बनाकर योग एवं अध्यात्म शास्त्रों में बताये उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन, निरन्तर श्रवण, चिन्तन, तथा जो अभ्यासी यौगिक क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवीण हैं, उनके सम्पर्क में रहकर उस विषय में उनसे चर्चा करना तथा क्रियाओं का सीखना अपेक्षित है।

वैशेषिक सूत्र [१।१।४] में 'धर्मविशेषप्रसूत' पद के 'धर्मविशेष' का अर्थ 'योगजधर्म' है। योगप्रतिपादित उपायों से आत्मा में जो एक विशिष्ट सामर्थ्य आविर्भूत हो जाता है, वह योगज धर्म है, सूत्र में उसी को धर्मविशेष कहा है। इसी के द्वारा समस्त पदार्थों का वास्तविक साक्षात्कार होता है, उसी को सूत्र में इन पदों से कहा है—**'धर्मविशेषप्रसूतात्...तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसम्'** उस धर्मविशेष से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। यहाँ भी तत्त्वज्ञान के लिए यौगिक उपायों के अनुष्ठान का संकेत उपलब्ध है।

सांख्यदर्शन में भी प्रकृति-पुरुष के भेद का जो उपपादन है, उससे शाब्दिक-रूप में ही भेद का ज्ञान हो पाता है। तृतीय अध्याय के [२३ से ३६ तक] सूत्रों में ज्ञान से मुक्तिप्राप्ति का विवरण दिया गया है। इसमें ज्ञान के उपाय रूप से वृत्तिनिरोध, आसन, धारणा, ध्यान, अभ्यास, वैराग्य आदि का उल्लेख किया गया है। इनके प्रयोग का विवरण योगदर्शन में उपलब्ध है। यद्यपि सांख्य, कालिक दृष्टि से प्राचीन तन्त्र है, पातञ्जल योगदर्शन उसकी अपेक्षा परवर्त्ती रचना है। परन्तु पतञ्जलि मुनि ने इन उपायों का शासन (मूलतः कथन) नहीं, प्रत्युत अनुशासन किया है **[अथ योगानुशासनम्]**, तात्पर्य है—पतञ्जलि इन उपायों के उपज्ञ नहीं हैं, उनसे भी पूर्व ऋषि-मुनियों ने इस विद्या का प्रवचन किया तथा प्रयोगात्मक रूप में प्रवर्त्तित किया। काठक [२।६।१८] तथा श्वेताश्वतर [२।८] आदि उपनिषदों में योगविधि और उसके साधारण उपायों का, पर्याप्त उल्लेख हुआ है। इसके आदि प्रवर्त्तक के रूप में ब्रह्मा व हिरण्यगर्भ[१] आदि का नाम लिया जाता है। इस तथ्य को योग

१. सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः॥
मा०भा०, शा० २४९।६५ गो०पु०सं०।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। [यो० याज्ञ० १२।५]

के अनेक व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है। योग के प्रथम सूत्र का व्याख्यान-प्रारम्भ करते हुए भाष्यकार व्यास ने कहा-'अथ इति अयम् अधिकारार्थः' इस सन्दर्भ के 'अयम्' पद की व्याख्या करते हुए, वाचस्पति मिश्र ने लिखा है-योगी याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार योग का पुरातन वक्ता हिरण्यगर्भ है, तब पतञ्जलि को योग का कर्त्ता कैसे कहा जाता है? इस आशंका का मानो समाधान करते हुए सूत्रकार ने स्वयं इस शास्त्र को योग का 'अनुशासन' कहा है' सीधा 'शासन' नहीं। हिरण्यगर्भ रचित योगविधि शास्त्र को पतञ्जलि मुनि द्वारा अनुशासित प्रस्तुत शास्त्र का उपजीव्य माने जाने में कोई बाधा नहीं है। इसी के समान योग सूत्रों की योगसुधाकर व्याख्या के रचयिता प्रायोगिक योगीराज सदाशिवेन्द्र सरस्वती तथा 'योगसूत्रवृत्ति' नामक रचना में नागोजी भट्ट ने भी इस तथ्य को **"अनेन हिरण्यगर्भाद्युपदिष्टस्यैव योगस्थ विविच्य बोधनमत्र ध्वनयता प्रामाण्यमस्य सूचितम्"** लिखकर अंगीकार किया है। पतञ्जलि मुनि ने अपने काल में उन उपायों का दार्शनिक रूप से संकलन किया। इस विषय के वे ही संकेत अन्य दर्शनों में निर्दिष्ट हैं। न्याय आदि अन्य दर्शनों के समान वेदान्तदर्शन भी योग के समाधिहेतुक विधानों को अङ्गीकार करता है। ब्रह्मसूत्रों [४।१।७-११] में चित्तवृत्तिनिरोध के लिए आसन, प्राणायाम, ध्यान, एकाग्रता आदि उन उपायों का संकेत है, जिनका विधान योगशास्त्र में किया गया है। योगविधानों का विरोध ब्रह्मसूत्र में कहीं उपलब्ध नहीं। भाष्यकारों ने जो सूत्र [२।१।३] योग के प्रतिवाद का समझा है; वह प्रौढिवादमात्र है अधिक विवेचन के लिए प्रस्तुत सूत्र का 'ब्रह्मसूत्र विद्योदयभाष्य' द्रष्टव्य है।[१] इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान के उपायों का प्रयोगात्मक रूप में विवरण प्रस्तुत करने से यह दर्शन उन दर्शनों की अपेक्षित न्यूनता को

१. आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत; तथा विरजानन्द वैदिक (शोध) संस्थान, गाजियाबाद, से प्रकाशित।

पूरा करता है। अपने विषय में यह अन्य सब दर्शनों का पूरक है।

दर्शन का कलेवर

वैदिक छह दर्शनों में पातञ्जल योगदर्शन कलेवर की दृष्टि से सबमें छोटा है। इसमें कुल चार पाद और १९५ सूत्र हैं; जो इस प्रकार हैं -

पाद	*पाद-नाम*	*सूत्र संख्या*
प्रथम पाद	समाधिपाद	५१
द्वितीय पाद	साधनपाद	५५
तृतीय पाद	विभूतिपाद	५५
चतुर्थ पाद	कैवल्यपाद	३४
४	४	१९५ पूर्ण संख्या

योगविद्या का निरूपण करनेवाला यह प्रयोगात्मक शास्त्र है। जहाँ तक सृष्टिविद्या, सर्गरचना, प्राकृतिक एवं भौतिक पदार्थों के विवेचन आदि का प्रश्न है, उस अंश में योगशास्त्र सांख्य के साथ पूर्ण समता रखता है। कहीं किसी प्रक्रियागत आंशिक भेद का होना नगण्य समझना चाहिए, इतने से कोई सिद्धान्त-भेद उभरकर सामने नहीं आता।[1]

विषय-विवेचन–योगदर्शन के प्रत्येक पाद-भाग का नाम उसके प्रतिपाद्य विषय के आधार पर दिया गया है, इससे प्रकरण-पूर्वक विषय को समझने में सुविधा रहती है। इस दृष्टि से प्रथम पाद का नाम 'समाधिपाद' है।

१. समाधिपाद–इस पाद में समाधि का स्वरूप, उसके विभाग, अवान्तर विभाग, उन सबके लक्षण, और तत्सम्बन्धी अन्य सब अपेक्षित अर्थों का विवेचन किया गया है। उसको

१. सांख्य में 'विशेष' पद से स्थूल-सूक्ष्म भूत अभिप्रेत हैं तथा 'अविशेष' पद से तन्मात्र। योग में सर्गरचना के अन्तर्गत कार्य-कारणभाव के आधार पर कार्य को 'विशेष' और कारण को 'अविशेष' कहा है। योग [२।१९।] का भाष्य।

संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिए

सूत्र-संख्या	प्रतिपाद्य विषय
१	शास्त्र का आरम्भ।
२-३	समाधि का स्वरूप एवं समाधि अवस्था।
४-११	व्युत्थान दशा, प्रमाण आदि पाँच प्रकार की वृत्तियों का विवरण।
१२-१६	वृत्तियों के निरोध का उपाय--अभ्यास और वैराग्य।
१७-२२	संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप तथा समाधि लाभ शीघ्र कैसे।
२३-२९	समाधिलाभ का अन्य उपाय ईश्वरप्रणिधान तथा उसका (ईश्वर--प्रणिधान का) फल—आत्मज्ञान एवं योगमार्ग में विघ्न बाधाओं का अभाव।
३०-३२	अन्तराय (विघ्न) और उनका निवारण।
३३-४०	चित्त को प्रसन्न, विमल, निर्दोष रखने के उपाय।
४१-४६	सम्प्रज्ञात समाधि (समापत्ति) और उसके भेद।
४७-५०	समापत्ति का फल।
५१	असम्प्रज्ञात समाधि।

२. साधनपाद—समाधिप्राप्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन इस भाग का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। संक्षेप में उसको इस प्रकार समझना चाहिए—

१-२	क्रियायोग और उसका फल।
३-९	अविद्या आदि पाँच क्लेश।
१०-११	क्लेश और क्लेशवृत्तियों के नाश का उपाय।
१२-१४	क्लेशमूल कर्माशय और उनके फल।
१५-१६	विवेकी के लिए दुःख और उनकी हेयता।
१७	दुःख का हेतु द्रष्टा और दृश्य का संयोग।
१८-१९	दृश्य का स्वरूप और उसके भेद।
२०-२१	द्रष्टा का स्वरूप और उसके लिए दृश्य का उभरना।
२२	दृश्य कब और किसके लिए उभरता तथा ओझल होता है।

२३–२६ द्रष्टा-दृश्य का संयोग, उसका हेतु, हेतु का हान और उसका उपाय।
२७ सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा।
२८–३२ योगाङ्गों के अनुष्ठान का फल एवं योग के आठ अङ्गों का महत्त्व-निर्देशपूर्वक नामोल्लेख।
३३–३४ वितर्क और उनके रोकने की पद्धति।
३५–४५ यम और नियम नामक योगाङ्गों के अनुष्ठान तथा उसकी पूर्णता पर प्राप्त होने वाले फल।
४६–४८ योगाङ्ग आसन का लक्षण, उसकी सिद्धि और फल।
४९–५३ प्राणायाम का लक्षण उसके भेद और फल।
५४–५५ प्रत्याहार योगाङ्ग का लक्षण और उसकी सिद्धि से प्राप्त होने वाला फल।

३. **विभूतिपाद**—साधनों के अनुष्ठान से प्राप्त विविध प्रकार की सिद्धियों का विवरण संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिए—

१–४ धारणा ध्यान, समाधि तीन योगाङ्गों के लक्षण तथा उनका शास्त्रीय पारिभाषिक नाम।
५–६ उनकी सिद्धि का फल तथा विभिन्न स्तरों में विनियोग।
७–८ आठ योगाङ्गों की बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग स्थिति।
९–१३ चित्त-परिणामों के भेद और उनका विवरण।
१४–१५ धर्मादि परिणामों का धर्मी तथा परिणामभेद का कारण।
१६–३५ धर्मादि तीन परिणाम तथा अन्य विविध आधारों में संयम करने एवं उसके फलस्वरूप प्राप्त विभिन्न विभूतियों का विवरण।
३६ ये विभूतियाँ व्युत्थान दशा की दृष्टि से सिद्धियाँ समझी या कही जाती हैं, पर समाधि की दृष्टि से ये सब विभूतियाँ उसके लिए बाधक हैं।
३७–४८ संयम के अनुष्ठान की सफलता से शुद्धचित्त में रहस्यमय शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, उससे योगी, विभिन्न पदार्थों व स्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार की विविध विभूतियों का विवरण।

४९ कैवल्य स्थिति प्राप्त होने का अवसर।

५० ऐसी दशा प्राप्त होने पर आसक्ति व अहंकार का सर्वात्मना अपवारण।

५१-५३ विवेकज ज्ञान का प्रादुर्भाव और उसका अभिमत परिणाम।

४. **कैवल्यपाद**–प्रस्तुत पाद में चित्त के निर्दोष स्वरूप के साथ कैवल्य (मोक्ष) का वर्णन संक्षेप से इस प्रकार समझना चाहिए–

१–३ सिद्धि प्राप्ति के अन्य साधन।

४–६ अस्मिता से निर्माण–चित्त का उद्‌भव तथा अन्य चित्तों की स्थिति।

७–९ योगी तथा अयोगी के कर्म और उनके विपाक का अवसर।

१०–११ अनादि वासना और उनके अभाव का अवसर।

१२-१४ धर्मों का अतीत–अनागत स्वरूप, उनकी गुणरूपता तथा वस्तुसत्ता।

१५-१७ चित्त और वस्तु का मार्ग भिन्न है, चित्त ज्ञान का साधन तथा वस्तु ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय रहता है।

१८–१९ ज्ञेय का ज्ञाता व बोद्धा पुरुष होता है, दृश्य अथवा परिणामी होने से चित्त ज्ञाता नहीं।

२०–२१ एक ही काल में चित्त और दृश्य का ग्रहण दोषपूर्ण होने से अमान्य।

२२-२३ आत्मा द्वारा चित्त प्रेरित होकर आत्म–चित्त संपर्क से सब ज्ञानों का सम्भव।

२४–२८ चित्त का उपयोग आत्मा के लिए होता है, पर तत्त्वज्ञानी के लिए नहीं रहता।

२९–३२ आत्मज्ञानी को समाधिलाभ, क्लेश–कर्म का अभाव, संसार की तुच्छता–नश्वरता एवं गुण-परिणाम का अवसान।

३३–३४ चेतन आत्मतत्त्व की स्वरूप प्रतिष्ठा, मोक्ष अथवा कैवल्य।

योगसूत्रकार पतञ्जलि

प्राचीन भारत में पतञ्जलि नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। इस विषय का विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपनी रचना के अष्टम अध्याय[1] में विस्तार के साथ किया है। अपेक्षित विवरण संक्षेप के साथ यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। विभिन्न कालों में हुए पतञ्जलि नामक आचार्यों का संक्षेप में निर्देश इस प्रकार समझना चाहिए—

१. योगसूत्रों का रचयिता।

२. व्याकरण महाभाष्य का रचयिता।

३. निदानसूत्र (अथवा-छन्दोविचिति) का रचयिता।

४. परमार्थसार का रचयिता, जिसको अनेक स्थलों पर 'आदि शेष' के नाम से लिखा गया है।

५. एक सांख्याचार्य पतञ्जलि, जिसका उल्लेख युक्तिदीपिका आदि सांख्ययोगविषयक ग्रन्थों में किया गया है।

६. आयुर्वेदप्रवक्ता पतञ्जलि। कहा जाता है, वर्तमान काल में उपलब्ध आयुर्वेद के 'चरकसंहिता' नामक ग्रन्थ का परिष्कर्त्ता चरक, पतञ्जलि नामक आचार्य था। इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक नाम आत्रेयसंहिता अथवा आत्रेयतन्त्र प्रसिद्ध रहा है, चरक द्वारा परिष्कार किये जाने पर उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस ग्रन्थ को प्रथम आचार्य अग्निवेश ने अपने गुरु आत्रेय पुनर्वसु के नाम पर रचा था।

७. एक अन्य कोषकार पतञ्जलि का उल्लेख हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान-चिन्तामणि' नामक कोष में अनेकत्र उपलब्ध होता है। हेमचन्द्र ने प्रारम्भिक तृतीय श्लोक में 'वासुकि' के प्रामाण्य का अपने कोष के लिए उल्लेख किया है 'वासुकि'

---

१. द्रष्टव्य, उक्त ग्रन्थ का प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५१२-५२३।

पद यहाँ पतञ्जलि के लिए प्रयुक्त हुआ माना जाता है।

हेमचन्द्र के कोष में आगे 'शेष' के नाम से उद्धृत अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। यद्यपि उनमें पतञ्जलि नाम नहीं है, पर 'शेष' पद का प्रयोग पतञ्जलि के लिए स्वीकृत होने से इसमें कोई बाधा नहीं है।

८. लोहशास्त्रकार के रूप में एक अन्य पतञ्जलि को स्मरण किया जाता है। यह व्यक्ति रसशास्त्रीय किसी ग्रन्थ विशेष का भी रचयिता है, ऐसी किन्हीं विद्वानों का विचार है।[१]

यह निश्चित है, पतञ्जलि नाम के अनेक आचार्य विभिन्न कालों में होते रहे हैं, जिन्होंने विविध विषयों पर अपनी रचना प्रस्तुत की, जो आज कुछ उपलब्ध हैं और कुछ अनुपलब्ध हैं, जिनके नाममात्र जहाँ-तहाँ प्रसंगों में शेष रह गये हैं। कतिपय रचनाओं के कुछ वाक्य या वाक्यांश अन्य आचार्यों द्वारा उनकी रचनाओं में उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं, जिनसे उनके रचित ग्रन्थ उनके सिद्धान्त तथा उनके काल के विषय में उपयुक्त प्रकाश मिलता है। चालू प्रसंग में केवल इतना लक्ष्य है कि इन पतञ्जलि नामक आचार्यों की पंक्ति-परम्परा में योगसूत्रकार पतञ्जलि को ढूँढ़ा जाय।

पर्याप्त पुराने काल से एक परम्परा चली आ रही है, जिसको भर्तृहरि, समुद्रगुप्त (कृष्णचरित के लेखक), भोज आदि ने दुहराया-तिहराया है, उसी आधार पर साधारण रूप से आज यह समझा जाता है कि योगसूत्रकार, व्याकरण महाभाष्यकार और चरक-प्रतिसंस्कारकर्त्ता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है। परन्तु आधुनिक विद्वानों में यह नितान्त भ्रान्त धारणा उन संकेतों पर पनपी है, जो पाश्चात्य ख्रीस्ट पूजक विद्वानों ने उक्त प्रसंगों में अपनी रचनाओं द्वारा अभिव्यक्त किये हैं। प्रतीत होता है, पाश्चात्य लेखकों ने भर्तृहरि आदि के एतद्विषयक उल्लेखों की

१. डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित योगसूत्र व्यासभाष्य की भूमिका, पृष्ठ ३० के अनुसार।

गम्भीरतापूर्वक विवेचन में उपेक्षा दिखाई है।

'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक रचना में विस्तार के साथ यह स्पष्ट किया गया है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि अति प्राचीन ऋषि-कोटि का महान योगविद्याप्रवीण आचार्य है। व्याकरणभाष्यकर्त्ता और चरकप्रतिसंस्कर्त्ता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति था, जो योगसूत्रकार पतञ्जलि से सर्वथा भिन्न है। उसी पतञ्जलि ने योगसूत्र प्रतिपादित योगविद्या को लक्ष्य कर उस विषय पर अपनी कोई स्वतन्त्र रचना की। यह ऐसी ही रचना प्रतीत होती है, जैसा वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद भाष्य है। वह रचना अब अनुपलब्ध है, पर उसके अनेक सन्दर्भ पतञ्जलि नाम से सांख्य-योगविषयक ग्रन्थों में उद्धृत उपलब्ध होते हैं। योग, व्याकरण और आयुर्वेद सम्बन्धी इन्हीं तीन[१] रचनाओं के आधार पर भोज, भर्त्तृहरि आदि के वे लेख हैं, जिनमें मन, वाणी और शरीर मलों की शुद्धि का श्रेय उक्त ग्रन्थों के रचयिता पतञ्जलि को दिया गया है।

भर्त्तृहरि की कारिका है-

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः॥

[वा० पा० १। १४७॥]

भर्त्तृहरि ने स्वोपज्ञ व्याख्या में इस कारिका पर लिखा है-"यथैव हि शरीरे दोषशक्तिं रत्नौषधादिषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं दृष्ट्वा चिकित्साशास्त्रमारब्धम्। रागादींश्च बुद्धेरुपप्लवानवगम्य तदुपघातहेतुज्ञानोपायभूत्तान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि। तथेदमपि साधूनां वाचः संस्काराणां ज्ञापनार्थमपभ्रंशानां चोपघातानां त्यागार्थं लक्षणमारब्धम्।"

इस सन्दर्भ में तीनों प्रकार के शास्त्रों की प्रवृत्ति के लिए जिन कृदन्त क्रिया पदों का निर्देश किया गया है, उन पर

---

१. व्याकरण महाभाष्य, चरक संहिता-प्रतिसंस्कार, योगदर्शन पर कोई स्वतन्त्र रचना, जो योगविद्याविषयक सिद्धान्त व प्रक्रियाओं को लक्ष्य कर लिखी गई।

गम्भीरता से ध्यान देना अपेक्षित है। चिकित्सा और व्याकरण दोनों शास्त्रों के लिए 'आरब्धम्' यह समान क्रियापद का प्रयोग हुआ है। इसके द्वारा प्रयोक्ता यह संकेत करता प्रतीत हो रहा है कि वह इन दोनों शास्त्रों की पतञ्जलि द्वारा की गई रचना में मानो कुछ विशिष्ट समानता देख रहा हो। उस समानता को इस प्रकार समझा जा सकता है–

आयुर्वेद में पूर्ववर्त्ती चरकसंहिता का जो क्रम व अनुपूर्वी है, पतञ्जलि ने तद्विषयक अपनी रचना में उसका पूर्णरूप में अनुसरण किया, उसको उसी रूप में अक्षुण्ण रखते हुए निदान व चिकित्सा आदि के प्रसंगों में अपने अतिरिक्त विचारों को उसमें सम्मिलित कर दिया। इसी प्रकार व्याकरण में पाणिनि–सूत्रों को उसी रूप में अक्षुण्ण रखते हुए उसी क्रम के अनुसार पतञ्जलि ने उनके व्याख्यानरूप में अपनी रचना की।

परन्तु इनके विपरीत भर्त्तृहरि ने अध्यात्मशास्त्र की रचना के लिए 'उपनिबद्धानि' क्रियापद दिया है। इससे ऐसा भाव प्रकट होता है कि जो चीज अभी तक बिखरी हुई–सी थी, उसको विषय की समीपता से अब बाँध दिया गया है। उपलब्ध पूर्ववर्त्ती पातञ्जल योगदर्शन को परवर्त्ती पतञ्जलि ने अछूता छोड़ दिया। योगविद्या के जो सिद्धान्त व प्रक्रिया वर्तमान योगदर्शन में हैं, उनका सार समझकर तथा अन्य योगविद्या सम्बन्धी सामग्री जो इधर–उधर बिखरी थी, उस सबको हृदयंगम कर इस पतञ्जलि ने अध्यात्म–विषय पर अपनी स्वतन्त्र रचना की। पूर्ववर्त्ती शास्त्र के क्रम आदि का अनुसरण नहीं किया, जैसा कि चिकित्सा व व्याकरण शास्त्र की रचनाओं में किया। भर्त्तृहरि के इस प्रसंग के क्रियापद विभेद का ऐसा भाव प्रतीत होता है।

परवर्त्ती पतञ्जलि के ग्रन्थ के जो सन्दर्भ विभिन्न शास्त्रीय व्याख्याग्रन्थों में उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं, उनको यहाँ प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा, वे इस प्रकार हैं–

१. अथ तत्त्वदर्शनोपायो योग:।[१]

२. एवं तर्हि नैवाहंकारो विद्यत इति पतञ्जलि:। महतो-ऽस्मिप्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात्।[२]

[यु० दी०, पृ० ३२, पं० १-२]

३. पतञ्जलि-पञ्चाधिकरण-वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति। तदन्येषां पुराणेतिहासप्रणेत्तॄणां महतोऽहंकारो विद्यत इति पक्ष:। महतोऽस्मिप्रत्ययकर्त्तृत्वाभ्युपगमात्।

[यु० दी०, पृ० १०८, पं० ३-५]

४. करणानां महती स्वभावातिवृत्ति:······सर्वा स्वत इति पतञ्जलि:। [यु० दी०, पृ १०८, पं० १५-१६]

५. करणं······द्वादशविधमिति पतञ्जलि:।

[यु० दी०, पृ १३२, पं० २८-३०]

६. पातञ्जले तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तत्र तत्कृताशयवशात् द्युदेशम्, यातनास्थानं वा करणानि वा प्रापय्य निवर्त्तते। तत्र चैवं युक्ताशयस्य कर्मवशाद-न्यदुत्पद्यते, यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तदपि निवर्त्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि। [यु० दी०, पृ १४४, पं० १६-२०]

७. यत्तावत् पतञ्जलि: आह-सूक्ष्मशरीरं विनिवर्त्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते। [यु० दी०, पृ १४५, पं० १-२]

८. एवं त्रिविधभावपरिग्रहात्······न सर्वं स्वत: पतञ्जलिवत्। [यु० दी०, पृ १४८-४९, पं० २९, १]

९. अयुतसिद्धावयवभेदानुगत: समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलि:। [यो० सू०, व्यासभाष्य, ३।४४]

यहाँ संगृहीत सन्दर्भों में प्रथम सन्दर्भ परवर्त्ती पतञ्जलि के

१. ब्र० सू०, शां० भा० २।१।३॥ यद्यपि यहाँ इस सन्दर्भ को पतञ्जलि के नाम से उद्धृत नहीं किया, 'योगशास्त्रेऽपि-' कहकर उद्धृत किया है। यह परवर्त्ती पतञ्जलि का योगशास्त्र है।

२. यहाँ, कलकत्ता से ई० सन् १९३८ में प्रकाशित, सांख्यकारिका-वृत्ति युक्तिदीपिका' के प्रथम संस्करण का उपयोग किया गया है।

योगशास्त्र का प्रथम सूत्र (सन्दर्भ) प्रतीत होता है। योदर्शनकार पतञ्जलि ने 'योग' का लक्षण चित्त-वृत्ति निरोध[१] किया है, परन्तु यह परवर्त्ती पतञ्जलि अपनी रचना में योग का लक्षण-तत्त्वदर्शन का उपाय करता है। तत्त्वदर्शन अर्थात् तत्त्वज्ञान का जो उपाय हो, वही योग है। सम्भव है, इस पतञ्जलि ने अपनी रचना में तत्त्वज्ञान के किन्हीं ऐसे उपायों का उपपादन किया हो, जो प्रस्तुत योगदर्शन में स्वीकृत अथवा उपपादित नहीं हैं। इससे योगदर्शनकार पतञ्जलि का इस पतञ्जलि से भिन्न होना स्पष्ट होता है।

इसके लिए अन्य सुपुष्ट प्रमाण सैद्धान्तिक भेद भी हैं। योगदर्शनकार पतञ्जलि ने अन्य सांख्याचार्यों के समान करणों की संख्या तेरह मानी है—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, अहङ्कार, बुद्धि। परन्तु यह परवर्त्ती पतञ्जलि केवल बारह करण स्वीकार करता है। प्रथम उद्धृत सन्दर्भों में संख्या दो और पाँच द्रष्टव्य हैं। चरकसंहिता में भी करण बारह स्वीकार किये गये हैं। शारीरस्थान [१।५६] में लेख है—

करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।

मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय (पाँच) और कर्मेन्द्रिय (पाँच) ये करण हैं। इस प्रकार सूत्रस्थान [८।१७ तथा १६।१८] में भी बारह करणों का निर्देश उपलब्ध होता है। अहङ्कार की गणना इनमें नहीं की गई। पतञ्जलि के संकलित सन्दर्भों में यह भावना स्पष्ट है कि वह 'अहङ्कार' को अतिरिक्त करण स्वीकार नहीं करता, 'अहम्' को बुद्धि का ही व्यापार मानकर अहङ्कार को उसी के अन्तर्गत समाविष्ट कर लेता है। उद्धृत सन्दर्भ और चरकसंहिता में यह सिद्धान्तगत समानता चरकसंहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता और उद्धृत सन्दर्भों के रचयिता पतञ्जलि को एक व्यक्ति मानने के लिए बाध्य करती है। यही स्थिति इस

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १।२॥

पतञ्जलि को योगदर्शनकार पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति सिद्ध करती है।

कृष्णचरित के रचयिता समुद्रगुप्त ने इस विषय में जो विवरण प्रस्तुत किया है, उससे उक्त विचारों को पुष्टि मिलती है। समुद्रगुप्त ने लिखा है--

विद्योद्रिक्तगुणतया भूमावमरतां गतः।
पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा॥
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम्।
धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः॥
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्॥

विद्याओं में मूर्द्धन्य स्तरों को प्राप्त कर जो लोक में अमर हो गया, वह पतञ्जलि मुनि विद्वानों के लिए सदा वन्दनीय है। जिसने शब्दशुद्धि के लिए व्याकरणभाष्य बनाया और चरकसंहिता में रोगनाशक धर्मयुक्त[१] योगों का समावेश किया तथा अत्यन्त रुचिकर काव्य-रचना के समान अद्भुत, योगसिद्धान्त व प्रक्रियाओं को दिखानेवाला योग का व्याख्यानभूत ग्रन्थ रचा।

इससे यह एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणभाष्यकार तथा चरक प्रतिसंस्कर्त्ता पतञ्जलि की योगविषयक रचना योग का व्याख्यानभूत ग्रन्थ है, मूलग्रन्थ नहीं। योग का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध सूत्रात्मक योगदर्शन ही कहा जा सकता है। योग के सिद्धान्त और प्रक्रियाओं को हृदयंगम

---

१. चिकित्सा दो प्रकार की कही जाती है-दैवी और आसुरी। आसुरी के पुनः दो भेद हैं-एक-चीर-फाड़ द्वारा, दूसरा अमेध्य वस्तुओं के प्रयोग द्वारा। अमेध्य वस्तुओं में आमिष, रक्त, मूत्र आदि का समावेश है। आसुरी चिकित्सा धर्मयुक्त नहीं मानी जाती। पतञ्जलि ने ऐसे योगों का संहिता में अधिक समावेश किया, जो ओषधि, वनस्पति, फल, पुष्प, मूल, पत्र आदि पर अवलम्बित हैं। रसायन (पारदमिश्रित योगों) का प्रयोग भी इसीमें सम्मिलित है। इसी भावना से मूल श्लोक में 'धर्मावियुक्ताः' (धर्म-अवियुक्ताः, धर्म से युक्त) विशेषण दिया गया है।

कर तथा अपने विशिष्ट अनुभव व ज्ञानगरिमा को उसमें सम्मिलित कर स्वतन्त्ररूप से लिखा गया यह ग्रन्थ योग का व्याख्यानभूत समझना चाहिए। जैसाकि वैशेषिक पर प्रशस्तपादभाष्य माना जाता है। जो कतिपय सन्दर्भ इस रचना के उद्धृतरूप में उपलब्ध हैं, उनसे इस रचना के वैशिष्ट्य का आभास मिलता है।

समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में परवर्त्ती पतञ्जलि की रचना को 'काव्य' कहकर जो याद किया है, उससे यह न समझना चाहिए कि वह रचना पद्यात्मक रही होगी। वस्तुतः सुबोध सुरुचिपूर्ण, गम्भीरभावों से युक्त, प्राञ्जल प्रवाहपूर्ण गद्य में लिखी गई रचना को भी 'काव्य' पद से स्मरण किया जाना अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। पद्य के समान गद्य का भी काव्यमय होना या कहा जाना अभिमत है।

पतञ्जलिचरित में रामभद्र दीक्षित ने 'सूत्र' पद का प्रयोग किया है। वहाँ का लेख है -

सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्त्तिकानि ततः।
कृत्वा पतञ्जलिमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्॥

पतञ्जलि मुनि ने इन जगत् की रक्षा के लिए योगशास्त्र में सूत्र और वैद्यकशास्त्र में वार्त्तिकों की रचना कर उनका प्रचार किया।

ऐसा प्रतीत होता है, पतञ्जलिचरित के रचयिता ने परवर्त्ती पतञ्जलि की योगविषयक रचना के स्वतन्त्र तथा सारभूत व गम्भीर-भावपूर्ण होने के कारण उसे 'सूत्र' पद द्वारा तथा पहले से विद्यमान वैद्यकशास्त्र में कतिपय नवीन परिष्कार व सुझावमात्र प्रस्तुत किये जाने से उन्हें 'वार्त्तिक' पद द्वारा निर्दिष्ट किया है। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है—परवर्त्ती पतञ्जलि की रचना का 'योगशास्त्र' पद से उल्लेख किया है। पहले निर्दिष्ट उद्धरणों में संख्या एक का उद्धरण ब्रह्मसूत्र [२।१।३] शांकर भाष्य में 'योगशास्त्रेऽपि' कहकर उल्लिखित हुआ है। सम्भव

है, अपने काल में यह रचना इस नाम से प्रसिद्ध रही हो, जो आद्य शंकर के काल से पतञ्जलिचरित के काल तक इस रूप में ज्ञात रही। परवर्त्ती पतञ्जलि की रचना के लिए 'पतञ्जलिचरित' में प्रयुक्त 'सूत्र' पद यदि ग्रन्थकार ने वर्तमान में उपलब्ध सूत्रात्मक योगदर्शन की भावना से किया हो, तो यह नितान्त भ्रान्तिजनित ही समझा जायगा।

कात्यायन-सर्वानुक्रमणी के व्याख्याकार षड्गुरुशिष्य ने अपनी रचना में लिखा है—

यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवांस्तु पतञ्जलिः।
व्याख्यच्छान्तनवीयेन महाभाष्येण हर्षितः॥
योगाचार्यः कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः।

इन श्लोकों में पतञ्जलि को व्याकरणमहाभाष्य, योगशास्त्र तथा निदानसूत्र का रचयिता बताया है। यहाँ वैद्यकशास्त्र की कोई चर्चा नहीं है। यहाँ पर भी पतञ्जलि की अध्यात्मविषयक रचना के लिए 'योगशास्त्र' नाम दिया है। रचनाओं में चिकित्साशास्त्र का उल्लेख न कर निदानसूत्र को जोड़ा है।

यदि पतञ्जलि सम्बन्धी इस प्रकार के सब लेखों को एकत्रित किया जाय, तो इसका यह अभिप्राय सामने आता है कि योगसूत्र, व्याकरणमहाभाष्य, चरक, निदानसूत्र, परमार्थसार एवं पतञ्जलि नाम से उद्धृत सन्दर्भों का मूलग्रन्थ आदि ये सब रचना किसी पतञ्जलि नामक एक व्यक्ति की हैं। परन्तु यह मत अथवा ऐसी स्थापना किसी प्रकार प्रमाणपुष्ट नहीं कही जा सकती, न ऐसा सम्भव है। इन ग्रन्थों की विषय-प्रतिपादनशैली, एक ही विषय में सैद्धान्तिक भेद तथा भाषा-प्रवाह आदि में भी पर्याप्त अन्तर है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक आधारों पर इन सब ग्रन्थों का रचनाकाल एक होना सम्भव नहीं। इनमें विभिन्न रचनाओं का अनेक सदियों तक का अन्तर है।

प्रतीत होता है और यह अधिक सम्भव है कि पतञ्जलि के विषय में रचनाओं के आधार पर उक्त भावनाओं को

अभिव्यक्त करनेवाले विद्वान् लेखकों को 'पतञ्जलि' नाम की समानता के कारण–विभिन्न कालों में होनेवाले अनेक व्यक्तियों के विषय में एक होने का भ्रम हुआ है। नाम की समानता से इतिहास में ऐसी भ्रान्तियों के अन्य उदाहरण भी सामने आये हैं। प्रथम किसी विद्वान् ने किसी एक पतञ्जलि के विषय में ऐसा उल्लेख किया कि उसने व्याकरण, चिकित्सा व अध्यात्म विषय पर रचना कर वाणी, शरीर और मन की शुद्धि के उपाय बताकर महान् लोकोपकार किया है। वहाँ पतञ्जलि का कोई ऐसा ठीक अता–पता नहीं है, जिससे उसकी संशयरहित पहचान की जा सके। अनन्तर काल में लिखनेवाले लेखकों ने इस विषय पर जब कभी लिखने का अवसर पाया और जहाँ कहीं पतञ्जलि नाम आया, उसी के साथ उन तीनों विषयों की रचनाओं को जोड़ दिया गया। इस प्रकार विभिन्न कालों में विविध रचनाओं के रचयिता अनेक पतञ्जलि एक व्यक्ति बन गया। यह एतद्विषयक इतिहास में ऐसी जटिल उलझनभरी गाँठ पड़ गई है, जिसका खोलना–सुलझाना सरल नहीं।

यह ज्ञातव्य है, सर्वप्रथम किस लेखक ने इस बात को उठाया कि पतञ्जलि ने व्याकरण, चिकित्सा और अध्यात्म विषय की रचना कर वाणी, शरीर तथा अन्तःकरण के मलों को दूर करने के उपाय बताकर लोक का उपकार किया। इस विषय की जिन लेखकों ने चर्चा की है, उनमें अन्यों की अपेक्षा दो अधिक पूर्ववर्त्ती प्रतीत होते हैं—एक भर्त्तृहरि वाक्यपदीयकार तथा दूसरे कृष्णचरित के रचयिता महाराजा समुद्रगुप्त। इन दोनों के लेखों मे कोई ऐसा एक टूक निर्णायक निर्देश नहीं है, जिससे इस सम्बन्ध के पतञ्जलि का निर्धारण किया जा सके। परन्तु दोनों के सम्मिलित तात्पर्य में कतिपय संकेत ऐसे अवश्य हैं, जिनके आधार पर एतद्विषयक उपयुक्त पतञ्जलि के पता लगाने का प्रयास किया जा सकता है।

गत पंक्तियों में स्पष्ट किया गया है—कृष्णचरित के

पतञ्जलि विषयक वर्णन में व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि की अध्यात्म सम्बन्धी रचना को 'व्याख्यानभूत' बताया है। इस आधार पर भाष्यकार पतञ्जलि को उपलब्ध मूलभूत सूत्रात्मक योगदर्शन का रचयिता नहीं माना जाना चाहिए। उसकी अध्यात्मविषयक रचना को 'अद्‌भुत काव्य' कहे जाने का अभिप्राय-सुरुचिपूर्ण, सुबोध, पद-वाक्यविन्यास के प्रवाहपूर्ण होने के रूप में-निभाया जा सकता है। भर्त्तृहरि की कारिका के स्वोपज्ञ व्याख्यान में विभिन्न रचनाओं के लिए विशिष्ट क्रियापदों का प्रयोग उपर्युक्त पतञ्जलिकर्त्तृ विषयक भावना को पुष्टि देता है। इन निर्देशों के आधार पर पतञ्जलिविषयक विवेचन निम्ननिर्दिष्टरूप में समझा जा सकता है-

१. पतञ्जलि
- क-व्याकरणमहाभाष्यकर्त्ता
- ख-चरकसंहिता-प्रतिसंस्कर्त्ता
- ग-अध्यात्मविषयक ग्रन्थ का रचयिता, जिसके कतिपय संदर्भ युक्तिदीपिका आदि सांख्य-योगविषयक वाङ्मय में उद्धृत उपलब्ध होते हैं।

२. पतञ्जलि
- क-उपलब्ध सूत्रात्मक योगदर्शन का कर्त्ता
- ख-निदानसूत्र का रचयिता (संभावित)

निदानसूत्र सामवेदीय सूत्र है। ऋक्, यजुः, साम, अथर्व चार वेदों के प्रतिपाद्य यथाक्रम चार विषय आचार्यों ने बताये हैं-ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान। उपासना सामवेद का विषय है। दार्शनिक दृष्टि से आत्मज्ञान के लिए उपासना पद्धति का सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण उपलब्ध योगदर्शन में विस्तारपूर्वक हुआ है। इस आधार पर ऐसी सम्भावना उपयुक्त प्रतीत होती है-योगदर्शन के रचयिता पतञ्जलि ने ही निदानसूत्र (सामवेदीय) की रचना की हो। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मज्ञान के लिए 'उद्‌गीथ' की उपासना का अतिशय महत्त्व उपपादित किया गया है।

सामशाखाओं में 'ओ३म्' को उद्गीथ कहा गया है। उसी को योग में 'प्रणव' कहा है, जो ईश्वर का वाचक पद है। आत्म-ज्ञान व समाधिसिद्धि[१] के लिए योगदर्शन में 'ईश्वरप्रणिधान' के रूप से इसका सर्वाधिक महत्त्व है। यह स्थिति भी इस विचार को पुष्ट करती है कि योगदर्शन-सूत्रकार पतञ्जलि और सामवेदीय निदानसूत्रकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है।[२]

अन्यों की अपेक्षा पूर्ववर्ती भर्तृहरि तथा समुद्रगुप्त के एतद्विषयक लेख परवर्ती भोज आदि लेखकों के लिए अनुकरणमात्र हैं। प्रतीत होता है, न उन्होंने और न आधुनिक लेखकों ने केवल पतञ्जलि नाम की समानता से अभिभूत होकर विवेचनात्मक भावना से विचार किया। फलस्वरूप पतञ्जलि नाम के विभिन्नकालिक सब व्यक्ति एक ही पतञ्जलि में गड्मगड्ड हो गये, जिसको विभिन्न तीन विषयों पर ग्रन्थों का रचयिता मान लिया गया, या बताया गया।

वस्तुत: उपलब्ध सूत्रात्मक योगदर्शन का रचयिता पतञ्जलि आर्ष कोटि का अति प्राचीन आचार्य है। महाभारत युद्धकाल से-जिसे द्वापर से अन्तिम दिनों में हुआ माना जाता है-पूर्व ही योगसूत्रकार पतञ्जलि का समय आंका जाना चाहिए।

व्याकरणभाष्यकार, चरक प्रतिसंस्कर्त्ता पतञ्जलि योगसूत्रकार पतञ्जलि से पर्याप्त परवर्ती आचार्य है, जिनके काल में अनेक शताब्दियों का अन्तराल है। इसी आचार्य पतञ्जलि ने योगसूत्र-प्रतिपादित अर्थों को सम्पुटित रूप में समाहृत कर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की, योगशास्त्रविषयक वह ऐसी रचना है, जैसे

---

१. द्रष्टव्य, योगसूत्र-'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' [२।४५]

२. 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के पतञ्जलि प्रकरण की अन्तिम पंक्तियों में लिखा है-'यह सम्भव है, योगसूत्रकार पतञ्जलि, निदानसूत्रों का भी रचयिता हो ।' इसका विस्तृत विवेचन साधक-बाधक युक्तिप्रमाण पुरस्सर डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य ने योगसूत्र व्यासभाष्य (तत्त्ववैशारदीसहित) के सम्पादन-अवसर पर ग्रन्थ की भूमिका [पृ० ३१-३४] में प्रस्तुत किया है। पर हमारा विचार इस विषय में अभी निश्चित नहीं है।

वैशेषिक शास्त्र पर प्रशस्तपाद भाष्य है। पतञ्जलि की यह रचना 'योगशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध रही, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र [२।१।३] के भाष्य में **'योगशास्त्रेऽपि'** कहकर जो सन्दर्भ–**'अर्थ तत्त्वदर्शनोपायो योगः'** उद्धृत किया है, वह इसी पतञ्जलि की रचना का प्रथम प्रारम्भिक वाक्य प्रतीत होता है। पतञ्जलिचरित में भी इस रचना को 'योगशास्त्र' कहकर याद किया है। वहाँ योगशास्त्र में सूत्र और वैद्यक में वार्त्तिकों की रचना की–ऐसा उल्लेख[१] है। सम्भव है, पतञ्जलिचरित के रचयिता ने भिन्नकालिक दोनों पतञ्जलि व्यक्तियों को अभिन्न समझकर ऐसा लिखा हो, जो प्रामाणिक न होकर नाम साम्य के कारण केवल भ्रान्तिमूलक है।

चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणि ने प्रारम्भ में कहा है–

पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रे[२]ऽहिपतये नमः॥

श्लोक के प्रथम अर्द्ध में तीन ग्रन्थों के नाम हैं–पातञ्जल–पतञ्जलि द्वारा कृत योगशास्त्रविषयक ग्रन्थ, महाभाष्य–व्याकरणविषयक ग्रन्थ या शास्त्र, चरकप्रतिसंस्कृत–चरक द्वारा प्रतिसंस्कार किया हुआ आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ या शास्त्र। इन तीनों रचनाओं द्वारा यथाक्रम मन, वाणी और शरीर के दोषों–मलों को नष्ट करनेवाले अथवा हरण–अपहरण–दूर करनेवाले अहिपति–शेष के अवताररूप पतञ्जलि के लिए नमस्कार हो। तात्पर्य है, इन तीन विषयों पर पतञ्जलि नामक आचार्य ने विशिष्ट ग्रन्थों की रचना कर लोकोपकार का अभिनन्दनीय कार्य किया।

इस विषय में काश्यपसंहिता (वृद्धजीवकीय तन्त्र) के सम्पादक तथा विस्तृत उपोद्घात के लेखक नेपालराजगुरु हेमराज

---

१. सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्त्तिकानि ततः। [पतञ्जलिचरित]
२. हेमराज शर्मा सम्पादित काश्यपसंहिता के पृष्ठ ४४ पर 'हर्त्रे' पाठ है।

शर्मा ने उपोद्घात[१] में विस्तार के साथ यह प्रमाणित किया है कि योगदर्शनकार पतञ्जलि, व्याकरणभाष्यकार तथा चरक-प्रतिसंस्कारकर्त्ता पतञ्जलि से भिन्न है तथा इस पतञ्जलि से पर्याप्त प्राचीन है। इस दिशा में हेमराज शर्मा का कथन सर्वथा प्रामाणिक है। परन्तु उन्होंने व्याकरणभाष्यकर्त्ता एवं चरकप्रतिसंस्कर्त्ता पतञ्जलि को भी एक व्यक्ति नहीं माना। यहाँ इसके विवेचन में हमें जाना अपेक्षित नहीं, पर चक्रपाणि, षड्गुरुशिष्य एवं भोज आदि आचार्यों ने विभिन्न तीन विषयों पर ग्रन्थकर्त्ता जिस पतञ्जलि का उल्लेख किया है, उसके सामंजस्य को उपेक्षित कर देना चिन्तनीय होगा।

हेमराज शर्मा ने चक्रपाणि के श्लोक में आये 'चरक-प्रतिसंस्कृत' पद के विवेचन में जो नामैकदेश से नाम ग्रहण की व्यवस्था के अनुसार 'चरक' पद से चरकसंहिता' के ग्रहण का सुझाव दिया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता। श्लोक के पूर्वार्द्ध में तीन ग्रन्थों का निर्देश है, जैसाकि गत पंक्तियों में श्लोक का अर्थ करते हुए स्पष्ट किया है। प्रथम 'पातञ्जल' पद पतञ्जलि की योगविषयक रचना का निर्देशक है, 'महाभाष्य' सीधा ग्रन्थ नाम है। 'चरकप्रतिसंस्कृत' पद में 'चरक' उस आचार्य का नाम है, जिसने अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार किया। 'चरक' पद यहाँ 'चरकसंहिता' के लिए प्रयुक्त नहीं है। 'चरकप्रतिसंस्कृत' यह पूरा समस्त आयुर्वेदविषयक उस ग्रन्थ या शास्त्र का निर्देश करता है, जिसका चरक-अपर नाम पतञ्जलि-ने प्रतिसंस्कार किया।

इतिहास सम्बन्धी अन्य लेख भी इस प्रसंग में शर्मा जी के लचर दिखाई देते हैं, यहाँ विवेचन उत्प्रकरण होगा। अन्यत्र यथाप्रसंग इसका विस्तृत विवेचन उपयुक्तरूप में किया जायगा। यहाँ केवल इतना अपेक्षित है कि व्याकरण भाष्यकर्त्ता एवं चरकप्रतिसंस्कर्त्ता पतञ्जलि की कोई रचना अध्यात्मविषयक

१. द्रष्टव्य, काश्यपसंहिता-उपोद्घात, पृष्ठ ४२-४५।

अथवा सांख्ययोगविषयक होनी चाहिए, जिसका उल्लेख पर्याप्त प्राचीन काल से अनेक आचार्य लगातार करते आये हैं। अभी तक जो ज्ञात किया जा सकता है, पतञ्जलि की ऐसी रचना वही सम्भव है, जिसके कतिपय सन्दर्भ युक्तिदीपिका आदि सांख्य- योगविषयक रचनाओं में पतञ्जलि नाम से उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं।

इन सन्दर्भों में कतिपय ऐसे दार्शनिक मन्तव्य स्पष्ट हैं, जिनका सामंजस्य उपलभ्यमान अथवा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के तद्विषक प्रसंगों के साथ देखा जा सकता है। इसमें द्वादश-विध[१] करण तथा सूक्ष्मशरीर अथवा आतिवाहिकशरीरविषयक मत द्रष्टव्य हैं। इस विवेचन के फलस्वरूप यह निर्धारित होता है–आयुर्वेद, व्याकरण, योगशास्त्र पर विभिन्न रचना करनेवाला एक पतञ्जलि नामक व्यक्ति अवश्य हुआ।

इसके काल–निर्णय के लिए यह संकेतमात्र है कि यह पतञ्जलि शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र का समकालिक है। परन्तु पुष्यमित्र का काल भी आज पूर्णतया निश्चित नहीं है। भारतीय इतिहास में पाश्चात्य लेखकों ने जो घोटाला उपस्थित किया है, उसका व्यवस्थापूर्वक परिमार्जन करना आवश्यक है। तभी पुष्यमित्र और उसके समकालिक, पतञ्जलि के समय का निर्धारण सम्भव है। योगदर्शनकार पतञ्जलि पुष्यमित्र–काल से अत्यन्त प्राचीन है।

---

१. इसके लिए देखें– 'सांख्यदर्शन का इतिहास' अध्याय आठ में पतञ्जलि प्रसंग।

योगसूत्रकार पतञ्जलि का काल

गत पंक्तियों में यह निर्धारित किया गया है कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि योगसूत्रकार नहीं है। भाष्यकार पतञ्जलि का अध्यात्मविषयक योगशास्त्र-ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। उसके कतिपय सन्दर्भ विभिन्न रचनाओं में उद्धृत मिलते हैं, यह भी गत पृष्ठों में स्पष्ट कर दिया है। व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि शुंगवंशीय भूप पुष्यमित्र का समकालिक है, यह महाभाष्य के कतिपय उल्लेखों[१] के अनुसार प्रमाणित है। पुराणवर्णित राजवंशानुक्रम के अनुसार मगध के राज-सिंहासन पर शुंगवंश के आरूढ़ होने का काल मौर्यवंश के अनन्तर आता है। पुष्यमित्र मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ का प्रधान अमात्य था। वयोवृद्ध-राजा को नष्ट कर वह स्वयं मगध का सम्राट् बना। यह काल विक्रम संवत् प्रारम्भ होने से लगभग १२०० वर्ष पहले आता है। उससे भी लगभग तीन सौ-सवा तीन सौ वर्ष और पहले मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्त[२] का काल है। इस प्रकार व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि का काल पुष्यमित्र के समान होने के कारण इस वर्त्तमान काल से लगभग ३२०० वर्ष पूर्व आता है।

कतिपय भारतीय संस्कृत विद्वानों ने व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि को ही योगसूत्रकार पतञ्जलि समझकर उसे पुष्यमित्र

१. पाणिनि सूत्र [३।१।२६] के भाष्य में उदाहरण हैं–पुष्यमित्रो यजते, पुष्यमित्रो याजयाते। तथा अन्य सूत्र [३।२।१२३] पर 'इह पुष्यमित्रं याजयामः।' उल्लेख है। यह वर्तमानकालिक क्रियाप्रयोग, तथा उत्तम पुरुष के बहुवचन में किया गया यह प्रयोग व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि की पुष्यमित्रकालिकता का पुष्ट एवं स्पष्ट प्रमाण कहा जा सकता है।

२. आधुनिक पाश्चात्य एवं तदनुगामी प्राच्य लेखकों ने चन्द्रगुप्त मौर्य का काल विक्रम से लगभग चार सौ-पौने चार सौ वर्ष पहले जो समझा व बताया है, वह नितान्त अशुद्ध है।

समकालिक बताया है। इसी के साथ यह स्वीकार किया है कि योगसूत्रों पर 'व्यासभाष्य' नाम से प्रसिद्ध व्याख्याग्रन्थ उसी वेदव्यास का रचित है, जिसने महाभारत और ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) की रचना की। उस वेदभाष्य का प्रादुर्भावकाल अब से लगभग पाँच सहस्र वर्ष से भी अधिक पूर्व है। यह महान आश्चर्य है, कि इन विद्वानों ने दो सहस्र वर्ष पीछे लिखे जानेवाले ग्रन्थ पर दो सहस्र वर्ष पूर्व भाष्य लिखे जाने की बात को अनायास कैसे पचा लिया? फिर साहसपूर्वक यह भी इन विद्वानों ने लिखा है, कि वेदव्यास चिरंजीवी थे, यह संभव है कि उनके जन्मकाल से दो सहस्र वर्ष अनन्तर होने वाले पतञ्जलि की रचना–योगसूत्र पर उसने भाष्य लिखा। ऐसे कथन तथ्य के उपहासमात्र कहे जा सकते हैं। ऐसा साधन अभी तक कोई नहीं बन सका है, जिससे मानव देह को इतने लम्बे समय तक स्वस्थ सुरक्षित रखा जा सके। कृष्ण और भीष्म पितामह जैसे महान योगेश्वर व नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत को पालनेवाले व्यक्तियों के भी जीवन दो सौ वर्ष के आस–पास से ऊपर नहीं निकल सके।

ऐसी स्थिति से झिझककर एक विद्वान् ने ऐसा अवश्य माना है कि योगसूत्रों का भाष्यकार अन्य कोई व्यास या वेदव्यास मान लेना चाहिए, ब्रह्मसूत्रकार या महाभारतकार वेदव्यास नहीं परन्तु योगसूत्रकार पतञ्जलि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ही है।[१] संभवतः इसका कारण यही रहा है कि पतञ्जलि के नाम से विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत सन्दर्भों की ओर इन विद्वानों ने गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया। वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु आदि के इस विषय के लेखों की भी एक प्रकार से इन विद्वानों

१. इन सब विवरण के लिए द्रष्टव्य हैं–पातञ्जल योगसूत्रव्यासभाष्य तथा नागोजी भट्ट टीका सहित, राजकीय मुद्रणालय, बम्बई के सन् १९१७ के प्रकाशन में अभ्यंकर वासुदेव शास्त्री लिखित 'उपोद्घात पृष्ठ १६–२०। तथा 'पातञ्जल योगसूत्रभाष्यविवरणम्' मद्रास गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सीरीज, संस्करण, सन् १९५२ के 'प्रास्ताविकम्' पृ० २९-३२। लेखक–सु० श्रीराम शास्त्री पोलक; एस्.आर्. कृष्णमूर्त्ति शास्त्री।

ने अवहेलना की, मिश्र और भिक्षु दोनों ने अपनी रचनाओं के प्रारम्भिक पद्यों में यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि योगसूत्रों का यह भाष्यकार वही व्यक्ति है, जिसने ब्रह्मसूत्र आदि की रचना की। यदि उनके इस कथन में कोई बाधक स्थिति है, तो उनका विवेचन आवश्यक है।

पातञ्जल योगसूत्र के बम्बई संस्करण के उपोद्घात में विद्वान् लेखक ने यह स्पष्ट कहा है—महाभारतकार वेदव्यास ब्रह्मसूत्रों का रचयिता नहीं है, जिस व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की, वही व्यास पातञ्जल योगसूत्रों का भाष्यकार है। और यही योगसूत्रकार पतञ्जलि व्याकरणभाष्यकार है। इस कथन का आधार यही है कि तीन विभिन्न विषयों पर ग्रन्थ लिखनेवाले पतञ्जलि के अध्यात्मविषयक अथवा सांख्य-योग सम्बन्धी ग्रन्थ का—अनुपलब्धि के कारण—निर्धारण न हो सकने से प्रायः यही समझा जाता रहा है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि ही व्याकरणभाष्यकार है, अथवा यह कहना चाहिए कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि का अध्यात्मविषयक ग्रन्थ यह चतुष्पादात्मक योगसूत्र ग्रन्थ ही समझना चाहिए।

वस्तुतः भाष्यकार पतञ्जलि का अध्यात्मविषयक ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है, जिसका उल्लेख गत पंक्तियों में प्रसंगवश एकाधिक बार किया जा चुका है, जिसके कतिपय सन्दर्भ पतञ्जलि के नाम से विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। जब आधुनिक लेखकों ने योगसूत्रकार पतञ्जलि को व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि मान लिया, तो उनके सामने 'व्यासभाष्य' की समस्या आई कि पुष्यमित्रकालिक भाष्यकार पतञ्जलि की अध्यात्मविषयक रचना 'योगसूत्र' पर भाष्य का लेखक द्वापर के अन्त में होनेवाला महाभारतकार वेदव्यास कैसे हो सकता है? महाभारत रचयिता के रूप में कदाचित् वेदव्यास को अपने द्वापरान्त काल से हटाया जाना संभव न समझकर ब्रह्मसूत्रकार व्यास को महाभारतकार व्यास की अभिन्नता से अलगकर इन विद्वानों ने पुष्यमित्रकाल

के अनन्तर ला बिठाया और ब्रह्मसूत्रकार व्यास तथा योगसूत्र-भाष्यकार व्यास की अभिन्नता का सामञ्जस्य बैठाने का प्रयास किया।

परन्तु इस सुझाव को प्रस्तुत करनेवाले विद्वानों ने उन बाधाओं की ओर उपयुक्त ध्यान नहीं दिया, जो इस मान्यता को स्वीकार करने पर मुँह फाड़कर वृकी के समान सन्मुख आ खड़ी होती हैं।

क—ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास को पुष्यमित्र काल के अनन्तर लाने पर मीमांसाकार जैमिनि को भी यहीं लाना पड़ेगा। ब्रह्मसूत्रकार व्यास और मीमांसासूत्रकार जैमिनि को एक-दूसरे से अलग नहीं हटाया जा सकता। जैमिनि को भी इसी काल में लाने पर अन्य अनेक समस्यायें सामने आयेंगी।

ख—यदि भाष्यकार और योगसूत्रकार पतञ्जलि एक है, तो वही चरकसंहिता का प्रतिसंस्कर्त्ता होगा। कतिपय दार्शनिक सिद्धान्त जो समान-विवरण में योगसूत्र एवं चरकसंहिता में उपपादित हुए हैं, उनमें परस्पर भेद देखा जाता है। परन्तु वे ही विचार पतञ्जलि नाम से उद्धृत सन्दर्भों में चरकसंहिता के साथ सामञ्जस्य रखते हैं।[१]

इन समस्याओं का उपयुक्त समाधान केवल यही है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि को व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न माना जाय। व्याकरणभाष्यकार, चरकसंहिता प्रतिसंस्कर्त्ता और योगशास्त्रविषयक उस ग्रन्थ का रचयिता—जिसके कतिपय सन्दर्भ पतञ्जलि के नाम से दार्शनिक साहित्य में उद्धृत मिलते हैं—पतञ्जलि एक व्यक्ति है; जो राजा पुष्यमित्र का समकालिक है। योगसूत्रकार पतञ्जलि, भाष्यकार पतञ्जलि से अत्यन्त प्राचीन है। द्वापर के अन्त में होनेवाले महाभारतकार तथा ब्रह्मसूत्रकार व्यास से भी प्राचीन। कितना प्राचीन? यह कहना

---

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—'सांख्यदर्शन का इतिहास, अध्याय ८, पतञ्जलि प्रकरण।

कठिन है, पर प्राचीनता में सन्देह का अवकाश नहीं। ऐसी स्थिति में योगसूत्रों पर महाभारतीय वेदव्यास द्वारा भाष्य किया जाना संभव है।

इस विषय में यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि योगसूत्रभाष्यकार वही व्यास है, तो उसने वेदान्तसूत्र [२।१।३] द्वारा इस योग का प्रतिवचन क्यों किया? वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने इसका समाधान यह कहकर किया है कि यह प्रतिवचन हिरण्यगर्भकृत योगशास्त्र का समझना चाहिए, पातञ्जल योगशास्त्र का नहीं।

अभ्यंकर महोदय का यह समाधान अप्रासंगिक प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र के 'एतेन' इस अतिदेश पद की ओर संभवतः ध्यान नहीं दिया गया। आचार्य शंकर ने 'एतेन' का अर्थ 'सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन' (सांख्यस्मृति के प्रत्याख्यान से) किया है। इससे पूर्व प्रथम सूत्र द्वारा कापिल सांख्यस्मृति प्रतिपादित प्रधानकारणवाद का प्रत्याख्यान आचार्य शंकर ने किया, उसी का अतिदेश इस तीसरे सूत्र में योगस्मृति को लक्ष्य कर किया गया। इससे स्पष्ट होता है, कापिलसांख्य के प्रधानकारणवाद को योगस्मृति ने स्वीकार किया, उसी अंश का यह प्रत्याख्यान अतिदेश है। हिरण्यगर्भकृत योगशास्त्र में कापिल सांख्य के प्रधानकारणवाद को स्वीकार किया गया है, इसका कोई भी प्रमाण आज तक उपलब्ध नहीं है। केवल प्राचीन वाङ्मय में इतना लिखा मिलता है कि योग का प्रथम वक्ता[१] हिरण्यगर्भ है। उस योग में समाधि एवं उसके उपायों का ही विशेष विवरण होना अधिक संभव है। उसके प्रत्याख्यान की भावना इस सूत्र में नहीं है, आचार्य शंकर ने स्वयं इसे स्वीकार किया है। यह प्रतिवचन-निर्देश पातञ्जल योगदर्शन के लिए ही

---

१. हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः [योगियाज्ञवल्क्य, १५।५ तथा द्रष्टव्य, महाभारत शान्ति० ३४९।६५], महाभारत में 'वक्ता' के स्थान पर 'वेत्ता' पाठ है।

उपयुक्त होना संभव है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता[१] आदि वैष्णव वाङ्मय में हिरण्यगर्भ पद्धति के योग का विवरण उपलब्ध होता है, परन्तु उन प्रसंगों में सृष्टिप्रक्रिया तथा प्रधान-कारणवाद आदि के कोई संकेत नहीं होते। इससे यह अनुमान होना स्वाभाविक है कि हिरण्यगर्भोपज्ञ योग में केवल स्वाभिमत यौगिक प्रक्रियाओं का विवरण होना संभव है। उतने अंश के प्रत्याख्यान का ब्रह्मसूत्र [२।१।३] से कोई संबन्ध नहीं है।

यह प्रथम स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास अथवा बादरायण को शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र का परवर्त्ती नहीं माना जा सकता। यह कथन भी निराधार है कि ब्रह्मसूत्रों का रचयिता महाभारतकार वेदव्यास न होकर बादरायण नाम का कोई व्यक्ति है, जिसने स्वयं उन सूत्रों में इसका उल्लेख किया है। सम्भव है, वह व्यक्ति पुष्यमित्र का परवर्ती रहा हो।

ब्रह्मसूत्रकार के पुष्यमित्र परवर्त्ती होने में कतिपय बाधाओं का निर्देश गत पंक्तियों में किया जा चुका है। जहाँ तक 'बादरायण' नाम का सम्बन्ध है, प्राचीन वाङ्मय के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि महाभारतकार वेदव्यास का यह कार्यकालिक अपर नाम माना जाता रहा है। बदरी क्षेत्र में वेदव्यास ने अपने शिक्षाकेन्द्र की स्थापना की थी। वेदव्यास के जीवन का अधिक कार्यकाल उसी क्षेत्र में व्यतीत हुआ। इसी कारण वह

---

१. इसके लिए द्रष्टव्य हैं—अध्याय १२ तथा ३१-३२। परन्तु संहिता के पहले प्रसंग में हिरण्यगर्भ प्रोक्त योग को भी 'योगानुशासन' पद से व्यवहृत किया है। जो विद्वान् पतञ्जलि के 'योगानुशासनम्' पद से इस योग-दर्शन के पूर्वानुवर्ती होने की कल्पना करते हैं, उन्हें इस पर विचार करना चाहिए।

संहिता के दूसरे भाग (अध्याय, ३१-३२) में भी—जहाँ योग के आठ अंगों का विवरण प्रस्तुत किया है, वहाँ—दस यम और दस नियम बताये हैं; जब कि पातञ्जल योग में ये पाँच-पाँच हैं।

बादरायण[1] नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ। महाभारत में वेदव्यास के जो नाम उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः सब उसके जन्म तथा जन्मस्थान आदि से संबद्ध हैं[2]। फलतः महाभारतकार और ब्रह्मसूत्रकार के अभिन्न व्यक्ति होने में कोई बाधा नहीं है। यह संभव है कि वही व्यक्ति पातञ्जल योगसूत्रों का भाष्यकार हो। इसको मानने में थोड़ी झिझक तभी तक होती है, जब हम यह समझते हैं कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रकार है। जबकि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भाष्यकार पतञ्जलि ने योगशास्त्र विषयक कोई अन्य स्वतन्त्र रचना की थी, जिसके अनेक सन्दर्भ दार्शनिक वाङ्मय में पतञ्जलि नाम से उपलब्ध होते हैं।

ब्रह्मसूत्रकार व्यास को योगसूत्रभाष्यकार मानने में एक अन्य बाधा प्रकट की जाती है कि योगसूत्रव्यासभाष्य में कतिपय स्थलों पर बौद्धमत का प्रत्याख्यान अथवा विवेचन उपलब्ध होता है, ब्रह्मसूत्रकार व्यास के काल में जिसका होना संभव नहीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार आचार्य शंकर आदि ने उन्हीं सूत्रों में बौद्ध-जैन आदि दर्शनों का प्रत्याख्यान स्वीकार किया है, जबकि महाभारतकार व्यास के काल से निश्चित ही बौद्ध आदि दर्शन को परवर्त्ती माना जाता है। तब न तो महाभारतकार और ब्रह्मसूत्रकार को अभिन्न व्यक्ति माना जाना चाहिए और न महाभारतकाल का व्यास योगसूत्रों का भाष्यकार माना जाना युक्तिसंगत है, जबकि इस

---

१. बदरीणां समूहो बादरः, बादरः अयनं यस्य स बादरायणः। संभव है, उस काल में यह क्षेत्र बदरीपादपबहुल रहा हो, वही नाम आज भी चल रहा है।
इस विषय का अधिक विस्तृत विवरण 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' पृ० ४३-४७ तथा ८५-८८ में द्रष्टव्य हैं।

२. कृष्ण, (सांस्कारिक नाम), द्वैपायन (जन्मस्थानमूलक), सत्यवतीसुत (मातृमूलक), पाराशर्य (पितृमूलक)। जन्मावसर पर इन नामों का उल्लेख है। अन्यत्र समस्त ग्रन्थ में प्रायः इन्हीं नामों से उसे स्मरण किया गया है। कार्यकाल के नाम वेदव्यास बादरायण आदि का निर्देश महाभारत में नहीं; पर अन्य पुराणों में उपलब्ध हैं।

व्यासभाष्य में बौद्धदर्शन का विवेचन उपलब्ध होता है।

प्रथम इस बात को लीजिये कि व्यासभाष्य में बौद्धदर्शन का विवेचन मानना कहाँ तक युक्तिसंगत है।

योगदर्शन के सूत्रों (३।१३ तथा ४।१४-१५) के भाष्य में ऐसा विवेचन है, जिसे वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में बौद्ध-दर्शन विषयक बताया है। भाष्य में कोई ऐसा विशिष्ट नामपद अथवा पारिभाषिक पद नहीं है, जिसके कारण यह निर्धारण हो सके कि यह विवेचन बौद्धदर्शन को लक्ष्यकर किया गया है। यह साधारण सैद्धान्तिक विवेचन है। भाष्यकार ने किसी दर्शन या दार्शनिक का नाम लेकर अथवा उनको लक्ष्य कर ऐसा किया हो, यह भाष्य के लेख से प्रतीत नहीं होता।

तत्त्वविवेचन में तत्त्वों के कार्य-कारणभाव को लक्ष्य कर यह तथ्य स्पष्ट करना आवश्यक होता है कि मूल कारण तत्त्व अन्वयी धर्मी के रूप में समस्त कारण-कार्य परम्परा में अनुस्यूत रहता है या नहीं? इसके विवेचन में तीन विकल्प सामने आते हैं—

तीसरा विकल्प है—मूल कारणतत्त्व अपने उसी रूप में विद्यमान रहते हैं, दृश्य जगत् जो इस रूप में प्रतीत होता है, वह केवल भ्रान्ति है।

दूसरा विकल्प है—मूलतत्त्व मिलकर किसी इकाई को उत्पन्न करते हैं, वह वस्तु का एक नया रूप होता है, जो अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं था।

तीसरा विकल्प है—मूल कारण आगे कार्य के रूप में परिणत होते जाते हैं। उस दशा में वे कारण विविध प्रकार के कार्यरूपों में व्यवहृत होते रहते हैं। परिणाम का तात्पर्य है—मूल वस्तुतत्त्व के विद्यमान रहने पर वहाँ केवल[१] धर्म लक्षण तथा अवस्था रूप में परिवर्तन होता है।

---

१. इसकी अधिक स्पष्टता के लिए द्रष्टव्य है—योगसूत्र [३।१३] का विद्योदय भाष्य।

इन सभी विकल्पों में मूलतत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया जाना अनिवार्य है, उसके कार्यरूप अथवा व्यवहार्यरूप में प्रतीत होने के प्रकारों में भेद है। उसी के आधार पर ये विकल्प हैं। इन्हें कोई माने या न माने अथवा इनमें से किसी को माने, किसी को न माने, यह सब विभिन्न विचारकों की अपनी मति पर निर्भर है। पर एक स्वतन्त्र रूप से तात्त्विक चिन्तन व विश्लेषण करनेवाले दार्शनिक के सामने यह समस्या नहीं होती कि इसे कोई मानता है, या नहीं मानता, वह केवल अर्थतत्त्व की स्पष्ट परिस्थिति को अभिमुख लाने के लिए उसका विश्लेषण या विवेचन प्रस्तुत करता है। योगसूत्रकार एवं भाष्यकार की यही स्थिति है। उस विवेचन के किसी अंश को यदि परवर्त्ती किन्हीं विचारकों ने स्वीकार किया है, तो इसकी अपेक्षिता उन पर आरोपित नहीं की जानी चाहिए। वाचस्पति मिश्र उन विचारकों के परवर्त्ती हैं, जिन्होंने उस विवेचन के किसी अंश को अपनी मान्यता के रूप में स्वीकार किया। उसकी जानकारी से प्रभावित होकर मिश्र द्वारा वैसा निर्देश किया जाना[१] अनुपयुक्त नहीं है। मिश्रकालिक विचार को भाष्यकार व्यास पर आरोपित करना उचित न होगा। कदाचित् आचार्य शंकर को इस परम्परा का उपज्ञ कहा जा सकता है। ब्रह्मसूत्र [२।२] के भाष्य में सूत्रों के आधार पर आचार्य ने बौद्ध-आर्हत दर्शनों के प्रत्याख्यान का जो प्रयास किया है, वहाँ भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। सूत्रों में बौद्ध-जैन आदि के कोई संकेत नहीं हैं।

व्यासभाष्य के दूसरे प्रसंग [४।१४-१५] में भी ऐसी ही स्थिति है। कारणों से जो कार्य उत्पन्न होता है, या परिणत होता है, उसकी एकता (व्यक्तिरूप में इकाई होने) का उपपादन यहाँ सूत्रकार ने किया है। उसी का विवरण भाष्यकार ने दिया है।

---

१. योगसूत्र [३।१३ तथा ४।१४-१५] की तत्त्ववैशारदी टीका में- 'एकान्तवादिनं बौद्धमतमुत्थापयति' एवं 'अथ विज्ञानवादिनं वैनाशिकमुत्थापयति', इत्यादि निर्देश।

यह स्थिति कार्य को एक अवयवीरूप मानने के स्तर पर पहुँच जाती है, न्याय-वैशेषिक में इस अवयवी (वस्तुगत इकाई) का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। योग के प्रस्तुत सूत्र में इसी का निर्देश है। क्योंकि बौद्धदर्शन में इस प्रकार की कार्यगत इकाई (अवयवी) को स्वीकार नहीं किया गया, परवर्त्ती व्याख्याकारों ने उसी से प्रभावित होकर भाष्यकार के लेख को बौद्ध-विवेचन में लिखा जाना बताया। वस्तुतः भाष्यकार का लेख व्यवहार व वस्तुस्थिति पर आधारित एक स्वतन्त्र विवेचन है। ऐसे विवेचन में पूर्वोत्तर पक्षों का होना अनिवार्य है, जो दार्शनिक विवेचन में स्वतः उद्भावित किये जाकर अर्थतत्त्व के स्पष्टीकरण में उपयुक्त सहयोग प्रदान करते हैं।

योगसूत्रभाष्यकार के महाभारतीय वेदव्यास माने जाने में यह बाधक प्रस्तुत किया जाता है कि योगसूत्र [३।१७] के व्यासभाष्य में पाणिनिसूत्र [५।२।८४] **'श्रोत्रियँछन्दोधीते'** का उल्लेख है। पाणिनि का काल पाँचवीं शती विक्रम पूर्व माना जाता है, जो महाभारतकाल से लगभग ढाई सहस्र वर्ष अनन्तर है, तब यह कैसे माना जाय कि योगसूत्रभाष्यकार महाभारतकार वेदव्यास ही है।

इस विषय में विचारणीय है, व्यासभाष्य में पाणिनिसूत्र का उल्लेख माने जाने पर भी योगसूत्रभाष्यकार और महाभारतकार वेदव्यास की अभिन्नता में कोई बाधा नहीं आती। कारण है कि पाणिनि काल विक्रम पूर्व चौथी-पाँचवीं शती में माना जाना नितान्त अशुद्ध है। महाभारत युद्ध के अनन्तर अधिक से अधिक एक सौ वर्ष के भीतर ही पाणिनि का होना संभव है, क्योंकि पाणिनि ने भाषा के जो नियम बनाये हैं, वे उस काल में होने सम्भव हैं, जब उत्तर भारत की समस्त साधारण जनता की व्यावहारिक भाषा संस्कृत थी।[१] चौथी-पाँचवीं शती विक्रम पूर्व में यह स्थिति सर्वथा असम्भव एवं अप्रामाणिक है। कृष्ण

१. द्रष्टव्य है-मल्लमपल्ली सोमशेखर शर्मा-अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हमारा लेख-'पाणिनिकालचर्चा'।

द्वैपायन की लम्बी आयु[१] होने के कारण–युद्ध के अनन्तर उतने काल में होने वाले पाणिनिसूत्र का उल्लेख द्वैपायन द्वारा किया जाना सम्भव है।

योगसूत्रभाष्यकार और ब्रह्मसूत्रकार के अभिन्न आचार्य होने में यह बाधक भी प्रस्तुत किया जाता है कि ब्रह्मसूत्र [२।१।३] में योग का प्रत्याख्यान किया है, उसी योग पर वह आचार्य भाष्य क्यों लिखता?

उक्त ब्रह्मसूत्र [२।१।३] में योग का वैसा प्रत्याख्यान नहीं है, जिसका स्वरूप व्याख्याकार शंकर आदि आचार्यों ने प्रस्तुत किया है। वस्तुत: प्रत्याख्यान–कथन की वह पद्धति प्रत्याख्यान न होकर उसका पोषक ही है।[२] ऐसी दशा में पातञ्जल योगसूत्र ब्रह्मसूत्रों का प्रतियोगी न होकर सहयोगी ही माना जा सकता है। तब ब्रह्मसूत्रकार को योगसूत्रों पर भाष्य लिखने में किसी बाधा की कल्पना व्यर्थ है।

ब्रह्मसूत्रों में 'स्मरति' अथवा 'स्मृति:–स्मृते:' आदि पदों की व्याख्या में मध्यकालिक व्याख्याकारों ने महाभारत से प्रमाण उल्लिखित किये हैं ऐसे ही व्यासभाष्य में महाभारत अथवा किसी पुराण का पद्य शरीर की अशुचिता में प्रमाणरूप से प्रस्तुत किया है।[३] इस सबके आधार पर कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यास का तथा योगसूत्रभाष्यकार व्यास का महाभारतकार एवं पुराणकार व्यास से अभेद नहीं माना जाना

---

१. कृष्ण द्वैपायन भीष्म पितामह से कुछ छोटे सम्भव हैं। जनमेजय के नाग-सत्रकाल में कृष्ण द्वैपायन जीवित थे। युद्ध के अनन्तर लगभग ६० वर्ष परीक्षित ने राज्य किया। कुछ वर्ष पश्चात् नागसत्र का प्रारम्भ होना सम्भव है। जनमेजय ने अस्सी वर्ष से भी अधिक समय तक राज्य किया। इस अन्तराल में पाणिनि व्याकरण लिखा जा चुका था। तब तक कृष्ण द्वैपायन का जीवित रहना सम्भव है। कदाचित् योगसूत्रभाष्य उनकी अन्तिम रचना रही हो।

२. इसके लिए द्रष्टव्य है–आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत ब्रह्मसूत्र विद्योदयभाष्य। आचार्य शंकर ने जिन सूत्रों में बौद्ध-जैन दर्शन का अत्याख्यान उभारा है, उस प्रसंग का भी विद्योदयभाष्य द्रष्टव्य है।

३. द्रष्टव्य, योगसूत्र [२।५] के भाष्य में उद्धृत पद्य पर वाचस्पति का लेख–'वैयासिकी गाथां पठति'।

चाहिए, क्योंकि अपने ही एक जगह के कथन को दूसरी जगह के कथन में प्रमाण देना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

यदि वास्तविक रूप में देखा जाय, तो यह कुछ अनुचित या अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता कि अपने किसी कथन की पुष्टि के लिए अपने किसी पूर्वकथन को दुहराया जाय, या याद दिलाया जाय, स्मरण कराया जाय। ब्रह्मसूत्रों के उक्त प्रसंगों में, अन्यत्र से (व्यास की रचनाओं से अतिरिक्त रचनाओं में से) भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य में अनेक स्थलों पर ऐसे उदाहरण या प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

इस सब विवेचन से योगसूत्रकार पतञ्जलि के काल पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है कि वह महाभारतकालिक कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से पूर्ववर्त्ती आचार्य है। पुष्यमित्रकालिक पतञ्जलि उससे सर्वथा भिन्न है, जिसने व्याकरण महाभाष्य की रचना की, चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार किया तथा योग पर कोई उस विषय का व्याख्यानरूप स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा, जिसके अनेक सन्दर्भ 'पतञ्जलि' नाम से उद्धृत विभिन्न रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

इन्हीं आधारों पर योगसूत्र के भाष्यकार व्यास भारतयुद्धकालिक कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास हैं, यह निर्धारित होता है। वर्त्तमान में भाष्य के प्रारम्भ का उपलब्ध पद्य—'**यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधाऽनुग्रहाय**' इत्यादि अनन्तर काल में प्रक्षिप्त किया गया प्रतीत होता है। भ्रान्ति के आधार पर जब यह धारणा विद्वत्समाज में बन चुकी थी कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रकार पतञ्जलि है, इस धारणा के विश्वासी किसी व्यक्ति ने यह श्लोक यहाँ जोड़ दिया। भाष्यकार की अपनी रचना यह श्लोक नहीं है।[१]

१. व्यासभाष्य के विवरणकार शंकर की रचना में यह श्लोक नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने भी व्यासभाष्य के भागरूप में इस पद्य को स्वीकार नहीं किया। न इसके प्रतीक दिये हैं, न व्याख्या की है। विज्ञानभिक्षु के योगवार्तिक में इसके प्रतीक व व्याख्या उपलब्ध हैं। इससे अनुमान होता है, वाचस्पति मिश्र के अनन्तर तथा भिक्षु से पूर्व उक्त पद्य को भाष्यारम्भ में सन्निविष्ट किया गया।

योगसूत्रों के व्याख्याकार

पातञ्जल चतुष्पादात्मक योगदर्शन के उपलब्ध व्याख्या ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन प्रसिद्ध 'व्यासभाष्य' है। समस्त छहों दर्शनों पर जो विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ 'भाष्य' नाम से प्रसिद्ध है, उनके रचयिताओं ने अपने व्याख्याग्रन्थों के किसी विशिष्ट नाम का निर्देश नहीं किया, वे सब भाष्यकर्त्ताओं के नाम से ही जाने-जाते हैं।[1] इसका अपवाद केवल सांख्यदर्शन पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य है, जो निजी 'सांख्यप्रवचनभाष्य' के नाम से जाना जाता है। यह स्थिति इस तथ्य को स्पष्ट करती है--कोई प्राचीन काल ऐसा रहा है, जब महान लेखक अपनी रचनाओं के विशिष्ट नाम रखने में कोई रुचि नहीं लेते थे। अनन्तर काल में यह परम्परा बदल गई, प्रायः प्रत्येक रचनाओं के कोई विशिष्ट चमत्कारपूर्ण नाम रखे जाने लगे अथवा ऐसे नाम, जो अपने प्रतिपाद्य विषय की अभिव्यक्ति में योगदान करते थे। विज्ञानभिक्षु का काल इसी अन्तराल में रहा है।

उपलब्ध व्याख्याग्रन्थ–

व्यासभाष्य	व्यास मुनिकृत
राजमार्तण्ड वृत्ति	भोजदेवकृत
योगसूत्रदीपिका वृत्ति	भावागणेशकृत
नागोजिभट्टीया वृत्ति	नागेशभट्टकृत
मणिप्रभा वृत्ति	रामानन्दयतिकृत
योगसुधाकर वृत्ति	सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत
सिद्धान्तचन्द्रिका वृत्ति	नारायणतीर्थकृत

व्यासमुनिकृत-व्यासभाष्य–योगसूत्रकार पतञ्जलि के

---

१. न्याय का वात्स्यायन भाष्य, वैशेषिकदर्शन का प्रशस्तपाद भाष्य, योग का व्यासभाष्य, पूर्वमीमांसा का शाबरभाष्य, एवं उत्तरमीमांसा का शाङ्करभाष्य।

विवरण में प्रसंगवश भाष्यकार व्यास का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। उसका सारांश केवल इतना है कि महाभारत तथा ब्रह्मसूत्रों के रचयिता कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ही योगसूत्रों के भाष्यकार[१] व्यास हैं। इस मान्यता के विरोधरूप उठाई गई अनेक बाधाओं का समाधान गत पंक्तियों में कर दिया गया है। इसके साथ यह भी विचारणीय है—योगसूत्रभाष्य में कतिपय प्राचीन उद्धृत सन्दर्भों को वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख-सन्दर्भ बताया है। बुद्धप्रादुर्भाव काल से पर्याप्त पूर्व पञ्चशिख ग्रन्थ लुप्त हो चुके थे। यदि योगसूत्रभाष्यकार व्यास बौद्धकाल का व्यक्ति रहा होता, तो इन सन्दर्भों का इस प्रकार उद्धृत किया जाना सम्भव न था। अतः योगसूत्रभाष्यकार व्यास को बौद्धकालिक माना जाना प्रामाणिक न होगा।

कहा जा सकता है, व्यासभाष्य में उद्धृत उन सन्दर्भों के साथ 'पञ्चशिख' नाम का निर्देश कहीं नहीं है, तब वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख-वाङ्मय की अनुपलब्धि में कैसे जाना? ये सन्दर्भ पञ्चशिख के हैं। इसके लिए यही सुझाव सम्भव है, कि अध्ययन-अध्यापन की परम्परा में यह जानकारी प्रवृत्त रही। उसी के अनुसार वाचस्पति ने वैसा उल्लेख किया।[२]

राजमार्तण्डवृत्ति, भोजदेवकृत—भोजदेव व्यक्ति के विषय में कोई अनबूझी समस्या नहीं है। परमारवंशीय राजा भोजदेव को इस वृत्ति का रचयिता माना जाता है। इसकी राजधानी उज्जैन अथवा मालव प्रान्त में 'धारा' नामक नगरी बताई जाती

---

१. दण्डी संन्यासी वर्ग के एकाधिक महानुभावों के साथ प्रासंगिक चर्चा में ऐसा ज्ञात हुआ कि उनके सम्प्रदाय में योगसूत्रभाष्यकार व्यास को 'गगरिया व्यास' कहा जाता है। सम्भवतः इसका आधार यही रहा हो कि उस वर्ग में योगसूत्रकार व्यास ज्ञाननिधि दृष्टि से 'गागर' के समान और ब्रह्मसूत्रकार व्यास 'सागर' के समान समझे जाते हों। इसका आधार केवल भावुकता कहा जा सकता है, प्रामाणिक आधार कुछ नहीं।

२. डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य द्वारा इस विषय में प्रस्तुत सुझाव विचारणीय है। द्रष्टव्य, पातञ्जल योगदर्शन—भूमिका, पृ० ५४।

है, धारा नगरी का नाम एक प्रसिद्ध भोज-कालिदास सम्बन्धी[१] लोक-कथा में पाया जाता है। राजा भोज का समय आधुनिक पुरावृत्तियों ने विक्रम की ग्यारहवीं शती में बताया है।

भोजराज की विद्वत्ता के विषय में कोई सन्देह का अवसर नहीं है। बाल्यकाल से ही वह अत्यन्त विद्यानुरागी एवं प्रतिभावान व्यक्ति था। उसके चाचा मुञ्ज और उसके अपने सम्बन्ध की बाल्यकाल की एक घटना लोकप्रसिद्ध है, जिसने राजपरिवार की एक भयावह स्थिति को वाञ्छनीय रूप में परिवर्तित कर दिया था। भोज अभी किशोर अवस्था में था, उसके पिता महाराज सिन्धुल का देहान्त हो गया। जल्दी ही अवसर पाकर भोज के चाचा मुञ्ज ने सोचा, राज्य के उत्तराधिकारी इस बालक को समाप्त कर राज्य पर अपना अधिकार कर लेना

---

१. प्रसिद्ध कवि कालिदास का काल भोजराज से पर्याप्त पुराना है, इसलिए इसे 'लोककथा' नाम दिया है। एक बार भोज ने कालिदास से कहा–"मेरी मृत्यु के अनन्तर का श्लोक सुनाओ।" कालिदास राजा व सुहृद् के विषय की ऐसी निराधार कल्पना से दु:खी व खिन्न होकर भोज को इससे अपनी हार्दिक अप्रसन्नता प्रकट करता हुआ वहाँ से चला गया और कहीं जाकर छिप गया।

जब अधिक दिन तक कालिदास दरबार में नहीं आया, तो उसकी खोज शुरू हुई। इस पर भी जब पता न लगा, तो राजा भोज स्वयं वेष बदलकर भिक्षुरूप में कालिदास की खोज को निकला। पता लगाता हुआ एक दिन वह कालिदास के निवास पर जा पहुँचा। भिक्षा के लिए आवाज दी। कालिदास के बाहर द्वार पर भिक्षा देने के लिए आने पर भिक्षु ने कहा–"मैं धारा नगरी से आ रहा हूँ। सुना है–वहाँ राजा भोज का स्वर्गवास हो गया। यह सुनते ही गहरी आह के साथ कालिदास के मुख से यह श्लोक निकल पड़ा–

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिता: खण्डिता: सर्वे भोजराजे दिवं गते॥

यह सुनते ही भिक्षुवेषधारी भोज ने अपनी असली आवाज में कहा–"देखो, कालिदास! मैंने अपना अन्तिम श्लोक तुम्हारे मुख से सुन लिया।" यह सुनते ही अवाक् हुए कालिदास ने तत्काल अपने कथन को बदला नहीं-नहीं, ऐसा कह रहा हूं–

अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती।
पण्डिता मण्डिता: सर्वे भोजराजे भुवं गते॥

चाहिए। उसने अपने विश्वस्त एक मन्त्री को यह कार्य सौंपा और कहा "किसी बहाने रात में इसे एकान्त जंगल में ले जाकर खत्म कर दो।" मन्त्री बड़ा बुद्धिमान् और दूरदर्शी था। उसने सोचा भोज को प्रजा बहुत प्यार करती है, मन्त्रिमण्डल एवं राजपरिवार भी उसे चाहता है। यदि ऐसी दुर्घटना हुई, तो विप्लव का भय है। उसने राज प्रबन्धक मुञ्ज की बात को सुना और कार्य की स्वीकृति देकर चला गया।

अपने विचार को उसने गहराई से छिपाकर रखा। अवसर पाकर एक रात भोज को एकान्त निर्जन वन में ले जाकर मुञ्ज का संकल्प उसके सामने रखा, और कहा—"बोलो, अब अन्त समय में क्या कहना चाहते हो?" भोज ने एक श्लोक अङ्कित कर कहा—"यह चाचा को दे देना।" श्लोक है—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगेऽलङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वाऽसौ दशास्यान्तकः?
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो ह्यस्तंगता भूतले,
नैकेनाऽपि समं गता वसुमती मुञ्ज! त्वया यास्यति॥

किशोर भोज की वाणी सुनकर मन्त्री हृदय में गद्गद हो गया, भोज को वापस लाकर अपने घर में छिपाकर रखा। भोज की हू-ब-हू एक मुखाकृति—जो मन्त्री ने पहले से किसी चतुर चितेरे शिल्पी द्वारा बनवाकर रखी थी—पात्र में रखकर तत्काल मुञ्ज को पेश की। कुछ क्षण अन्तरात्मा में आन्दोलित भाव उसके चेहरे पर उभरे, उसी समय मुखाकृति को हटाकर मन्त्री ने भोज का श्लोक उसके सन्मुख प्रस्तुत कर दिया। मुञ्ज ने उसे पढ़ा, गहराई से कुछ विचार-सद्विचार उभरे, प्रवाहित अश्रुधारा ने समस्त कलुष को धो डाला, मानो आन्तर कलुष अश्रुधारा बन बाहर बह गया। राष्ट्र और भावी भारत के लिए भोज से जो भव्य भावना प्राप्त हुई, समस्त विद्वत्समाज आज उनका हार्दिक आदर करता है।

भोज ने इस वृत्ति के प्रारम्भ में अपनी रचनाओं का संकेत

इस प्रकार किया है–

शब्दानामनुशासनं विश्वता पातञ्जले कुर्वता
वृत्तिं, राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
स्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥

इस पद्य में भोज तीन विषयों पर लिखी गई अपनी रचनाओं का उल्लेख करता है–शब्दानुशासन, पातञ्जल योगसूत्रों पर राजमार्तण्ड नामक वृत्ति तथा आयुर्वेद विषय का राजमृगांक नामक ग्रन्थ। शब्दानुशासन–व्याकरण का 'कण्ठाभरण' नामक भोजरचित ग्रन्थ है। जिस प्रकार पतञ्जलि (फणभृत्भर्त्ता अहिपति) ने शब्दशास्त्र, आयुर्वेद और योग पर ग्रन्थ लिखकर वाणी, चित्त और शरीर के मलों-दोषों को उखाड़ फेंका, इसी प्रकार रणविजयी राजा भोज का उक्त तीन विषयों पर लिखित निर्दोष वाङ्मय अध्येताओं को प्रभावित कर रहा है। नियतविषयक ग्रन्थों की रचना को लक्ष्यकर राजमार्तण्ड वृत्ति का लेखक पतञ्जलि के साथ अपनी समानता को स्थापित कर अपनी और अपने वाङ्मय की महत्ता अभिव्यक्त करना चाहता है।

भोज के इस विवरण से केवल इतना स्पष्ट होता है कि पतञ्जलि नामक किसी व्यक्ति ने उक्त तीन विषयों पर ग्रन्थरचना की पर इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उस पतञ्जलि की योगविषयक रचना- ये योगसूत्र ही हैं। गत पंक्तियों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल दिया गया है।

धारापति भोजराज की योगसूत्रों पर यह राजमार्तण्ड नामक वृत्ति अत्युपयोगी व्याख्या है। भाषा प्राञ्जल, विषयविवेचन सन्तुलित एवं मूलसूत्रार्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति तक सीमित है। **'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते'** का उपयुक्त उदाहरण है। पर्याप्त समय से योगशास्त्रविषयक प्रारम्भिक अध्ययन परम्परा में इस वृत्ति का उपयुक्त योगदान है।

योगसूत्रदीपिका–भावागणेशकृत–भावागणेश विज्ञानभिक्षु

के प्रधान भक्त शिष्यों में माने जाते हैं। अपनी रचनाओं में अनेकत्र इसने आदरपूर्वक अपने गुरु का स्मरण किया है। प्रस्तुत वृत्ति में विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक की छाया प्राय: उपलब्ध होती है। वृत्ति का 'योगदीपिका' नाम वृत्तिकार ने पादान्त की पुष्पिकाओं में स्वयं निर्दिष्ट किया है। सूत्रार्थ को स्पष्ट करने में यह व्याख्या बहुत उपयोगी व विस्तृत है। गुरु का अनुकरण करते हुए यह स्वाभाविक है। रचना के आरम्भ में ही भावागणेश ने स्वयं लिखा है-[१] गुरुजी ने वार्त्तिक में भाष्यगत जिन अर्थों को विस्तार के साथ परीक्षापूर्वक प्रस्तुत किया है, उन्हीं सिद्ध अर्थों को कहीं विशिष्ट उक्तियों के साथ संक्षिप्त किया है।

भावागणेश विज्ञानभिक्षु का शिष्य होने से उसका समकालिक है। भिक्षु का काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का मध्यभाग है।[२]

विज्ञानभिक्षु संन्यासी थे। किस वर्ग के अन्तर्गत दीक्षित हुए, प्रमाणों की अज्ञानता में इसका निर्धारण कठिन है। योग-सांख्यविषयक रचनाओं के अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु का ब्रह्मसूत्रों पर भी 'विज्ञानभाष्य' नाम से विस्तृत व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध है। नाम में 'भिक्षु' पद होने से यह भावना जागृत होती है, कदाचित् ये सांख्य-योगीय वर्ग के संन्यासी रहे हों। कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख के लिए 'भिक्षु' पद का प्रयोग देखा जाता है।[३] इसका प्रभाव ब्रह्मसूत्रभाष्य में लक्षित होता है, या नहीं? यह तो अन्वेष्य है, परन्तु शाङ्कर वेदान्त के विचारों का प्रभाव विज्ञानभिक्षु के सांख्यभाष्य में जहाँ-तहाँ उपलब्ध होता है। सांख्यप्रवचन भाष्य में व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं का

---

१. भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्त्तिके गुरुभि: स्वयम् ।
संक्षिप्त: सिद्धवत् सोऽस्यां युक्तिषूक्ताधिका क्वचित् ॥

२. द्रष्टव्य, हमारी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९९-३०४।

३. भिक्षो: पञ्चशिस्याहं शिष्य: परमसंयत: म० भा० शां० ३२५।२४-२५॥

उल्लेख सांख्य की मान्यताओं के रूप में भिक्षु ने किया है। जबकि सांख्य जागतिक सत्ता को केवल व्यावहारिक न मानकर वास्तविक मानता है।

संभवत: विज्ञानभिक्षुकाल में सांख्य-योगीय संन्यासी वर्ग की दीक्षा परम्परा समाप्तप्राय हो चुकी थी, भिक्षु के संन्यास-दीक्षा गुरु दशनामी संन्यासियों में से ही रहे हों, उसका बौद्धिक प्रभाव भिक्षु के लेखों में यत्र-तत्र झलकता है। इसका अनुकरण गुरु का आदर करते हुए भावागणेश की रचनाओं में कहाँ तक प्रवेश पा सका है, यह अनुसन्धेय है।

योगसुधाकर-सदाशिवेन्द्र सरस्वती-कृत—ये सन्त अनुभवी आत्मज्ञानी प्रायोगिक योगी थे। अब से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व, दक्षिण में कावेरी नदी के तटवर्त्ती तिरुविशमल्लूर ग्राम में परमशिवेन्द्र नामक विद्वान् योगी से शास्त्रीय एवं योग आदि की शिक्षा प्राप्त की। बाल्यकाल से ही ये अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति में रुचि रखते थे। चोलमण्डल के अन्तर्गत करूर नामक जनपद इनकी आवास भूमि थी। छात्रावास में ये चार सहाध्यायी थे-सदाशिव, रामभद्रदीक्षित वैङ्कटेश, गोपालकृष्ण शास्त्री।

इनमें रामभद्रदीक्षित ने 'जानकीपरिणय' नामक रूपक लिखकर बड़ा यश प्राप्त किया। दूसरे वैङ्कटेश अति उदात्तचरित व्यक्ति रहे। बहुत मधुर एवं प्रभावपूर्ण उपदेशों द्वारा जनता को सन्मार्ग पर चलाने की प्रवृत्तियों में अपना जीवन लगाया। जनता में सभी वर्ग के लोग इनमें पूर्ण भक्ति रखते थे। आज भी दक्षिण में समस्त आस्तिक जनों द्वारा परम भक्तिभाव एवं गौरव के साथ 'अय्यावाल्' नाम से इन्हें स्मरण किया जाता है। इन्होंने व्याख्याषष्टि और दयाशतक आदि अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। तीसरे गोपालकृष्ण शास्त्री व्याकरण महाभाष्य के महान मर्मज्ञ हुए और उस पर एक हृदयग्राही व्याख्या की रचना की। व्यक्ति के महान् बनने में वातावरण का बड़ा योगदान होता है। उसी की उपज ये चार अनुकरणीय व्यक्ति हुए। इनमें चौथे 'योग-

सुधाकर' के रचयिता सदाशिव हैं।

इनका विवाह बाल्यकाल में हो गया था। छात्रावस्था में–जब किशोरावस्था पारकर यौवन का आरम्भ था–घर से व्यक्ति द्वारा सन्देश पहुँचा, पत्नी ऋतुमती है, आपको घर आना चाहिए। गुरु से अनुमति लेकर घर पहुँचे। ऋतुसंबन्धी धार्मिक अनुष्ठान प्रारम्भ हुए, एक ओर महिलाओं द्वारा संगीत का आयोजन था, अपेक्षित अनुष्ठानों की परम्परा में भोजन आदि के लिए विलम्ब होने पर सदाशिव ने कष्ट का अनुभव किया, नई उमर में भूख वैसे ही अधिक सताती है। इधर कर्मानुष्ठान में संलग्न रहने से क्षुधानिवृत्ति में बाधा का अनुभव हुआ। उस समय सदाशिव के अन्तरात्मा में भावना जागृत हुई–इस कार्य के प्रारम्भ में ही जब इतना कष्ट है, तो आगे का क्या ठिकाना। युवक के अन्तरात्मा में इतने से ही तीव्र वैराग्य की भावना जागृत हो गई। उसी मार्ग को अपना मुख्य ध्येय बनाकर जीवन को उसी में समर्पित कर दिया।

सदाशिव ने पूर्ण योगी की अवस्था प्राप्त की। आत्मसाक्षात्कार कर जीवन्मुक्त होकर कावेरी के पुलिन प्रदेशीय परिसर में विचरण करते रहते, विश्राम के अवसर पर चाहे जहाँ समाधिस्थ हो जाते, पत्र–मूल आदि से क्षुधानिवृत्त कर लेते। जब ये अपने गुरु परमशिवेन्द्र योगी से योगविद्या ग्रहण कर रहे थे, गुरु के समीप अनेक व्यक्ति उपदेशग्रहण की भावना से आते रहते थे। न्यायादि शास्त्र एवं अन्य शास्त्रीय शाखाओं में निपुण होने के कारण तथा सुलभ बाल–चापल्य से प्रेरित सदाशिव आगन्तुकों से बड़े उलझनभरे प्रश्न कर दिया करते थे, विद्वान् भी आगन्तुक प्रश्नों का उत्तर न दे पाते। एक बार कतिपय व्यक्तियों ने गुरु से निवेदन किया–"यह सदाशिव बड़ा दुर्विनीत है, आनेवालों के ऊपर प्रश्नों की झड़ी लगाकर उन्हें लज्जित करता रहता है।"

गुरु ने सदाशिव को बुलाकर तब कहा–"सदाशिव! तुम

इस दुर्निरोध वाणी के संयम को कब जान पाओगे?'' तत्काल सदाशिव ने गुरु के संकेत को समझा और अपराध के लिए क्षमा माँगकर जीवन पर्यन्त मौनव्रत का संकल्प लिया। इसी कारण सर्वत्र प्रदेश में 'मौनयोगी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उस प्रदेश की जनता में इनके यौगिक चमत्कारों की अनेक घटना कही-सुनी जाती हैं।

योगसुधाकर वृत्ति में इनके यौगिक अनुभवों की छाया संभावित है। भाषा सुललित सुबोध एवं हृदयग्राह्य है। शाङ्कर वेदान्त की अद्वैत भावना का क्वचित् संकेत उपलब्ध होता है। प्रणवजप, प्राणायाम, समाधि आदि प्रसङ्गों के विवरण में योगसुधाकरकार का यौगिक प्रक्रियाविषयक प्रावीण्य स्पष्ट भासित होता है।

सिद्धान्तचन्द्रिका-नारायणतीर्थकृत—नारायणतीर्थ दशनामी वर्ग के संन्यासी थे, सभी दर्शनों के ज्ञाता थे। सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि अनेक दर्शनों पर इनकी रचना उपलब्ध होती है। प्रस्तुत योगसूत्रव्याख्या के अतिरिक्त—

१. सांख्यकारिका पर चन्द्रिका टीका

२. उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि पर टीका

३. ब्रह्मसूत्रों (वेदान्तदर्शन) पर विभावना नामक टीका-आदि ग्रन्थ इनके उपलब्ध हैं। नारायणतीर्थ के गुरु का नाम गोविन्दतीर्थ था। सम्भव है, यह इनके संन्यासदीक्षा गुरु भी हों। शास्त्राध्यापक गुरु का नाम श्रीवासुदेव था, यह सांख्यकारिका की चन्द्रिका टीका के प्रारम्भ में स्वयं नारायणतीर्थ ने बताया है[१]। बड़े गर्व एवं गौरव के साथ लिखा है कि श्री वासुदेव गुरु से सब शास्त्रों का मर्म जानकर कुछ कहने की उत्कण्ठा हो रही है, उनके साम्मुख्य में जो-जो पहले कुछ कह चुके हैं।

नारायणतीर्थ के शिष्यों में अन्यतम काश्मीरक सदानन्द

---

१. श्रीरामगोविन्दसुतीर्थपादकृपाविशेषादुपलभ्य बोधम्।
श्रीवासुदेवादधिगत्य सर्वशास्त्राणि वक्तुं किमपि स्पृहा नः॥

यति था। इसके वेदान्त विषय पर दो प्रसिद्ध प्रौढ़ ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. वेदान्तसार, २. अद्वैत ब्रह्मसिद्धि। प्रतीत होता है, नारायणतीर्थ सदानन्द के केवल विद्यागुरु रहे हों। नारायणतीर्थ और उसके गुरु गोविन्दतीर्थ दोनों नामों में 'तीर्थ' पद का सन्निवेश है। यदि सदानन्द के संन्यास दीक्षा गुरु भी नारायणतीर्थ रहे होते, तो साम्प्रदायिक व्यवस्था के अनुसार इसके नाम में भी 'तीर्थ' पद का प्रयोग अवश्य रहा होता। परन्तु 'सदानन्द' नाम के साथ 'तीर्थ' पद का सन्निवेश कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त 'यति' पद का प्रयोग सर्वत्र देखा जाता है। नाम के साथ 'यति' पद के प्रयोग से ऐसा भासित होता है कि यह महानुभाव नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे होंगे, ब्रह्मचर्य से ही संन्यास की दीक्षा ले ली होगी। इसका 'वेदान्तसार' ग्रन्थ तो निरन्तर पठन-पाठन प्रणाली में रहा है और आज भी विश्वविद्यालयों में आदर के साथ पढ़ा-पढ़ाया जाता है।

नारायणतीर्थ का काल—सदानन्द यति ने अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में एकाधिकबार विज्ञानभिक्षु का उल्लेख किया है। विज्ञानभिक्षु का काल विक्रम के चतुर्दश शतक का मध्य निर्धारित है। लगभग सौ-सवा सौ वर्ष पश्चात् सदानन्द यति का काल माना जा सकता है।[१] सदानन्द के गुरु नारायणतीर्थ का भी वही समय संभव है। इसके अनुसार नारायणतीर्थ का काल विक्रम की पन्द्रहवीं शती के मध्य के लगभग माना जाना प्रामाणिक होगा।

योगसूत्रों की अन्य व्याख्याओं के विषय में इस समय कुछ विचरण प्रस्तुत करना अपेक्षित नहीं है। व्यासभाष्य के टीकाकारों के विषय में कुछ विचार प्रस्तोतव्य हैं।

व्यासभाष्य के टीकाकार—व्यासभाष्य के चार टीकाग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं—

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है—'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ३०१-३०३।

क. तत्त्ववैशारदी टीका, वाचस्पति मिश्रकृत

ख. पातञ्जल योगसूत्रभाष्यविवरण, शंकराचार्यकृत

ग. योगवार्त्तिक, विज्ञानभिक्षुकृत

घ. भास्वती टीका, स्वामी हरिहरानन्द आरण्यकृत

(क) व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी टीका प्रसिद्ध रचना है। इस विषय में प्राञ्जल शास्त्रीय वैदुष्य प्राप्त करने के लिए अध्ययन-अध्यापन परम्परा के विद्वन्मंडल द्वारा इस टीका को पूर्ण आदर प्राप्त है, जिसके लिए वह सर्वांश में अधिकृत है। वाचस्पति का काल उसके अपने निर्देशानुसार ८९८ विक्रमी संवत निर्धारित है[१], जो ८४१ ई० सन् के समान है।

(ख) इस विवरण के रचयिता का नाम मुद्रित पुस्तक की पुष्पिका में इस प्रकार लिखा है-

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंस परिवाजकाचार्यस्य श्री शंकरभगवतः कृतौ श्री पातञ्जलयोग (शास्त्र) सूत्रभाष्यविवरणे प्रथमः समाधिपादः।

चारों पादों के अन्त में पादविशेषनिर्देश के साथ पुष्पिका का अविकलरूप यही है।

ग्रन्थ के आरम्भ का निर्देश भी द्रष्टव्य है-

श्रीः

श्री पतञ्जलये नमः

श्री वेदव्यासाय नमः

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेभ्यो नमः

॥ पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरणम् ॥

॥ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादप्रणीतम् ॥

---

१. 'न्यायसूचीनिबन्ध' (वाचस्पति मिश्र की अन्यतम रचना) के अन्त में वाचस्पति ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखनकाल इस प्रकार बताया है-

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

पुष्पिका आदि के इन निर्देशों के आधार पर कतिपय बुद्धिजीवी व्यक्ति यह कहते सुने गये हैं कि यह विवरण आदि शंकराचार्य की रचना है। 'शङ्करभगवत्पाद' का प्रयोग प्रायः उन्हीं के लिए होता है। उनके गुरु का नाम भी ठीक उसी रूप में निर्दिष्ट है–'गोविन्दभगवत्पूज्यपाद'। आदि शङ्कराचार्य की अन्य रचनाओं में भी पुष्पिका इसी प्रकार की पाई जाती है। ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य से एक अन्तिम पुष्पिका यहाँ उद्धृत की जाती है–

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंस-
परिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

गुरु–शिष्य नामों के व्यवस्थित सन्निवेश एवं प्रयोग से अनायास यह भावना जागृत होती है कि ये निर्देश एक ही व्यक्ति के लिए हुए हैं। इनकी समानता में कोई सन्देह नहीं है। तब क्या इस 'योगसूत्रभाष्यविवरण' को आदि शङ्कराचार्य की रचना मान लेना चाहिए? और क्या इस रूप में मान लेना चाहिए कि इसकी परीक्षा करना भी अनपेक्षित है?

हमारा विचार इसके अनुरूप नहीं है। इसके लिए निम्न निर्देश विचारणीय हैं–

१-पुष्पिका और ग्रन्थारम्भ में इससे सम्बद्ध जो निर्देश हैं, क्या उन्हें पूर्णतया इस रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि वे सब ग्रन्थकार द्वारा स्वयं निर्दिष्ट किये गये हैं? अथवा यह भी सम्भव है कि इसमें कुछ अंश या सब-कुछ ग्रन्थ के लिपिकार, सम्पादक व प्रकाशक आदि के द्वारा जोड़ा गया है?

२. ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो 'श्रीमच्छङ्करभगवत्पादेभ्यो नमः' निर्देश है, यह आदि शङ्कराचार्य के द्वारा निर्दिष्ट किया गया सम्भव नहीं है। यदि वह स्वयं विवरणकार है, तो यह नमस्कार अन्य किस 'शंकरभगवत्पाद' के लिए होगा? निश्चित है, यदि

यह विवरणकार का स्वयं किया गया निर्देश है, तो वह विवरणकार आदि शङ्कराचार्य न होकर कोई अनन्तर कालवर्त्ती आचार्य शङ्कर है। अथवा यह अधिक सम्भव है कि ये सब प्रारम्भ के निर्देश प्रतिलिपिकार, ग्रन्थ के सम्पादक व प्रकाशक आदि के द्वारा किये गये हों।

३. पुष्पिकाओं में भी यही स्थिति सम्भव है। वास्तविक पुष्पिका क्या रही होगी? इसका आज पता लगना कठिन है। सम्भव है, वहाँ केवल 'शंकर' नाम दिया गया हो, अनन्तर काल में 'शङ्कर' नाम के पारखी प्रतिलिपिकारों आदि ने नाम के आगे-पीछे धीरे-धीरे उस सामग्री को लाकर जुटा दिया जिससे वह 'शङ्कर' आज इसके आधार पर आदि शङ्कराचार्य के रूप में उभर आया।

४. योगसूत्र (१।२४) पर विवरणकार लिखता है—"**अन्येषां व्याख्यानम्-निमित्तशब्दः प्रमाणवाची।**" प्रस्तुत प्रसंग में भाष्य के 'निमित्त' पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने 'प्रमाण' किया है। स्वयं विवरणकार ने इस पद का अर्थ 'आश्रय' किया है। यह अन्य व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट होता है—विवरणकार शङ्कर, वाचस्पति मिश्र से परवर्त्ती आचार्य है। तब इसे आदि शङ्कराचार्य कैसे माना जा सकता है?

५. विवरणकार ने ग्रन्थ के अन्तिम उपसंहार पद्यों में एक सर्वान्तिम पद्य इस प्रकार लिखा है—

वदनाहितपूर्णचन्द्रकं गुरुमीशानमभूतिभूषणम्।
प्रणमाम्यभुजङ्गसंग्रहं भगवत्पादमपूर्वशङ्करम्॥

प्रस्तुत पद्य में अपने सम्प्रदाय गुरु आदि शङ्कराचार्य को विवरण ग्रन्थकार द्वारा प्रणाम किया गया है। यह इस तथ्य के लिए सुपुष्ट प्रमाण है कि विवरणकार शङ्कर आदि शङ्कराचार्य नहीं है। यह वाचस्पति मिश्र से पश्चाद्वर्त्ती आचार्य शङ्कर है। सम्भव है, आचार्य के स्थापित मठों में से किसी के साथ इसका सम्बन्ध रहा हो।

विवरण ग्रन्थ के सम्पादक महानुभावों ने इस श्लोक पर टिप्पणी लिखकर यह समझाने का निष्फल प्रयास किया है कि यह पद्य आद्य आचार्य के किसी शिष्य ने गुरु की स्तुति में लिखा तथा शिष्य की मनस्तुष्टि के लिए गुरु ने उसे यहाँ सन्निविष्ट कर लिया। अथवा किसी अन्य प्रतिलिपिकार आदि ने यहाँ प्रक्षिप्त कर दिया है। सम्पादक महानुभाव को यह निराधार कल्पना इसी कारण करनी पड़ी कि उन्होंने विवरणकार को आदि शङ्कराचार्य समझ लिया।

गुरु का भी वही नाम होने से अनायास विवरणकार के आदि शङ्कराचार्य होने का विचार उभर आ सकता है, पर यह कोई असंभव बात नहीं है कि इस आचार्य शंकर के गुरु का नाम भी 'गोविन्द' रहा हो। केवल इतने से विवरणकार को आदि शंकर कहना सर्वथा अप्रामाणिक है, जबकि वह वाचस्पति मिश्र के व्याख्यान का अपनी रचना में स्मरण करता है और रचना के अन्त में अपनी सफलता के उल्लास को अभिव्यक्त करने की भावना से अपने सम्प्रदाय के आदि आचार्य को प्रणाम प्रस्तुत करता है।

पुष्पिका का वर्त्तमान रूप बन जाने का अन्य कारण भी संभव है। यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि विवरणकार का अपना नाम 'शंकर' निश्चित है। केवल नाम से प्रभावित होकर किसी अध्येता आदि ने अन्य साथियों के साथ अपनी प्रतियों में 'आचार्य' पद जोड़ लिया। आगे चलकर उनके आधार पर की गई अन्य प्रतिलिपियों में 'शङ्कराचार्य' नाम के साथ आदरभाव से 'भगवत्पाद' जुड़ गया और इसी प्रकार आगे गुरु का पूरा नाम जोड़ लिया गया। उस समय इस छान-बीन की परीक्षा करना अपेक्षित नहीं समझा जाता रहा कि यह सम्भव भी है या नहीं? इस तरह केवल शङ्कर नाम से तिल का ताड़ और पर का कौआ के समान पुष्पिका को वर्त्तमान रूप में बना लिया गया।

जिस समय संस्कृत वाङ्मय हाथ से लिखा जाकर पढ़ा जाता था, तब ग्रन्थों की प्रतिलिपि किये जाने के अवसर पर पहली प्रतियों में हाशिये (प्रान्तभाग) आदि के अतिरिक्त पाठ भी मूलपाठ में मिल जाते थे। व्यवसायी लेखक सुपठित नहीं होते थे, सुलेखक होते थे। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में ऐसा होता रहा है। जहाँ तक पुष्पिका का प्रश्न है, सांख्य-सप्तति की टीका जयमंगला की पुष्पिका में भी ऐसा परिवर्तन हुआ। उसके रचयिता ने अपना नाम 'शङ्करार्य' लिखा। वह बाद में 'शङ्कराचार्य' बन गया।

डॉ० रामशङ्कर[१] भट्टाचार्य ने सुझाव दिया है—विवरणकार शङ्कर और जयमंगलाकार शङ्करार्य कदाचित एक व्यक्ति हो, तो जयमङ्गलाकार के काल पर विचार करना चाहिए। बलदेव उपाध्याय ने जयमङ्गलाकार को वाचस्पति के अनन्तर प्रादुर्भूत हुआ बताया है[२]।

जयमंगलाकार शङ्करार्य निश्चित रूप से वाचस्पति मिश्र की अपेक्षा पूर्वकालवर्त्ती आचार्य है। जैसे वाचस्पति का स्मरण योगसूत्रभाष्यविवरण में उपलब्ध है, इसी प्रकार जयमंगलाकार का स्मरण वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्व-कौमुदी में उपलब्ध है[३]।

योगसूत्रभाष्यविवरणकार शङ्कर का काल वाचस्पति के पश्चात् और विज्ञानभिक्षु के पूर्व संभव है। लगभग पाँच सौ वर्ष के इस अन्तराल काल में विवरणकार शङ्कर का काल कहाँ है, यह अभी कहना कठिन है। इसकी यथासंभव स्पष्टता के लिए राजमार्तण्ड और विवरण का गम्भीरतापूर्वक सन्तुलित अध्ययन अपेक्षित है। सम्भव है, कोई निर्णायक आधार निकल आये।

---

१. द्रष्टव्य, पातञ्जल योगदर्शनम्, भट्टाचार्य सम्पादित, भूमिकाः पृष्ठ ७१।
२. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्यायकृत भारतीयदर्शन, पृष्ठ ३२१ (भट्टाचार्य निर्देशानुसार)।
३. द्रष्टव्य है, 'सांख्यदर्शन का इतिहास' 'जयमंगला' प्रसंग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६०-३८४।

जात्यन्तरपरिणाम और निर्माणचित्त

चतुर्थपाद के दूसरे और चौथे सूत्र में यथाक्रम जात्यन्तरपरिणाम निर्माणचित्त का निर्देश है। पूर्णसिद्धिप्राप्त योगी को यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है कि वह यदि अपने देह को भिन्नजातीय देह में परिणत करना चाहे, तो कर सकता है। ऐसा करने में यदि उसे किन्हीं अतिरिक्त प्राकृत तत्त्वों की अपेक्षा होती है, तो वह उनका सहयोग प्राप्त कर लेता है, यह दूसरे सूत्र का शब्दार्थमात्र है।

पूर्णसिद्ध योगियों के विषय में ऐसी अनेक प्रकार की दन्तकथा साधारण-असाधारण सभी प्रकार के समुदाय द्वारा कही-सुनी जाती हैं। एक शिकारी ने जंगल में कुछ देर से देखा-सामने बड़े पेड़ के नीचे एक सुन्दर अच्छे डील-डौल का झाँख (हरिणजातीय जंगली पशु, (Spoted deer-नर) खड़ा हुआ है। उसकी जीभ में पानी भर आया। अचक से निगाह को उधर ही रखते हुए धीरे से राइफल को कन्धे से लगाया। पर जैसे ही लबलबी (Trager) पर अंगुली रखते हुए निशाना साधा, झाँख एकदम गायब था। शिकारी हैरान था, टकटकी लगाये उधर ही झाँकता रहा हूँ, पलक मारते यह कहाँ गायब हो गया! शिकारी तत्काल वहाँ पहुँचा, जहाँ झाँख दीखा था। जंगली जानवरों के पदचिह्नों (पैर) की पहचान व जानकारी में शिकारी बड़े माहिर होते हैं। पर उस दिन वह आश्चर्य-चकित था। न उस जगह जानवर के खड़े होने के पद-चिह्न थे, न इधर-उधर जाने के। जबकि भूस्तर ऐसा था, जहाँ पदचिह्न होने की पूरी संभावना थी। इस स्थिति ने अचानक उसके हृदय में भय का संचार कर दिया, निश्चित यह कोई छलावा है या माया। मेरे इतने लम्बे जीवन में आज यह पहला मौका है। अपने

साहस को बटोरे उस दिन शिकारी सीधा वापस घर चला आया। वह समय कोई झुटपुटे या अन्धेरे का नहीं था। भरी दुपहरी के ढलते समय की चमकती सूर्य की किरण जंगल को प्रकाशित कर रही थीं।

ऐसे ही योगियों के विषय में कहा जाता है कि वे एक ही समय में अनेक स्थानों पर देखे जाते हैं। भक्तों द्वारा आयोजित अवसरों पर उनके बीच योगी की उपस्थिति बताई जाती है और उसी अवसर पर वे अपने उन एकान्त स्थानों पर भी उनके शिष्यों द्वारा उपस्थित बताये जाते हैं, जहाँ वे स्थायीरूप से निवास करते हैं।

ये चमत्कारपूर्ण घटनामूलक दन्तकथा क्या नितान्त मिथ्या समझी जानी चाहिए? केवल धोखे में डालनेवाली निराधार बातें या इनमें कहीं कुछ सच्चाई की आंशिक रेखा भी संभव है? जहाँ तक जात्यन्तरपरिणाम का प्रश्न है, अर्थात् योगी अपने मानव शरीर को अन्य पशु सिंह, हरिण आदि के शरीर के रूप में परिणत कर लेता है। इस विषय में ऐसा समझना चाहिए कि कैसा भी सिद्धयोगी अपने मानवशरीर को भिन्नजातीय शरीर में वास्तविकरूप से परिणत नहीं करता और न कर सकता है। तब सूत्रकथित जात्यन्तरपरिणाम का क्या तात्पर्य है? उसका केवल यह तात्पर्य है कि वह अपने वास्तविक शरीर को ओझल कर जात्यन्तर-शरीर को उसकी जगह दिखा सकता है। इस प्रकार समझना चाहिए–

दीखनेवाली वस्तु में ग्राह्यशक्ति है, देखनेवाले साधन में ग्रहणशक्ति है। प्रत्येक वस्तु ग्राह्य है, योगी का शरीर भी ग्राह्य है। पर वह नहीं चाहता कि इस रूप में इसे कोई देखे। तो वह इतना ही करता है कि अपने शरीर की ग्राह्य शक्ति को अन्तर्हित कर देता है। शरीर वैसा ही रहता है, पर उसकी ग्राह्य शक्ति उस समय लुप्त, अदृश्य या छिपी अवस्था में होने से वह अन्य किसी को दिखाई नहीं देता। पर योगी किसी कारण

से यह चाहे कि उसके शरीर की जगह अन्य जातीय देह दिखाई दे, तो वह उसी देह की ग्राह्य शक्ति को उद्भव कर देता है। उसके लिए यह संभव है कि भिन्न जातीय देह की अनुपस्थिति में भी तद्विषयक ग्राह्यशक्ति का उद्भव कर दे। ऐसी स्थिति में देखनेवाले को भिन्न जातीय शरीर दिखाई देता है, वस्तुतः वहाँ वैसा शरीर कोई होता नहीं।[१]

जब योगी तारक संज्ञक विवेकजज्ञान की काष्ठा पर पहुँच जाता है, तब उसे किसी प्रकार का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं रहती[२]। प्रारब्ध कर्मभोग की भावना से अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाये रखने के लिए-संभव है वह कोई ऐसा उपाय करता हो, जिससे-उसके शरीर की जगह भिन्नजातीय शरीर दिखाई देता रहे, उसे योगी के रूप में कोई न जान पाये। जात्यन्तरपरिणाम का ऐसा तात्पर्य सम्भव है। योगी को अपने वास्तविक शरीर से प्रारब्ध कर्मों को भोगना आवश्यक होता है, इसी कारण वह अपने शरीर को जात्यन्तर में परिणत नहीं कर सकता। जो कर्मभोग मानवशरीर द्वारा होना सम्भव है, वह जात्यन्तरपरिणत देह द्वारा सर्वथा असम्भव है। इसलिए वस्तुस्थिति में जात्यन्तरपरिणाम न होकर उक्त रीति पर उसका समन्वय समझना चाहिए।

निर्माणचित्त का रहस्य–कैवल्य पाद के चौथे सूत्र में 'निर्माणचित्त' का निर्देश है। पञ्चशिख का एक सन्दर्भ है– **"आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय परमर्षिरशसुरये जिज्ञास-मानाय तन्त्रं प्रोवाच।"** आदिविद्वान् परमर्षि कपिल ने जिज्ञासा रखते हुए आसुरि के लिए तन्त्र का प्रवचन किया। सन्दर्भ के **'निर्माणचित्तम्- अधिष्ठाय'** पदों का प्रसंगानुकूल सीधा सरल अर्थ है–तन्त्र निर्माण की भावना से प्रेरित होकर परमर्षि कपिल ने जिज्ञासु शिष्य आसुरी के लिए तन्त्रशास्त्र का प्रवचन किया।

---

१. इसके लिए देखें सूत्र, ३।२१॥

२. द्रष्टव्य सूत्र, ३।५४॥

शास्त्ररचना की भावना से आसुरि को माध्यम के रूप में लक्ष्य कर यह कार्य प्रारम्भ किया। यह प्रवृत्ति नैसर्गिक है, स्वभावसुलभ।

इस विषय में कतिपय विद्वानों का कहना है कि सन्दर्भ का 'चित्त' पद 'काय' का उपलक्षण है, इससे एक अनोखा अर्थ करते हैं-कपिल ने तत्काल अपने शरीर की रचना कर आसुरि को तन्त्र का उपदेश किया, और अन्तर्हित हो गये। कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। इस विषय पर यहाँ कुछ कहना अनपेक्षित है।[१] यहाँ केवल 'निर्माणचित्त' पद का विवरण देना अपेक्षित है।

'निर्माण' पद के निर्वचन में भावार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय मानना अभीष्ट है–निर्मितिः निर्माणम्। इससे पद का अर्थ हुआ–'बनाना', उसके साथ चित्त पद का समास किया-निर्माणाय चित्तम् अथवा निर्माणार्थं चित्तम्–निर्माणचित्तम्। तात्पर्य हुआ–कुछ बनाने के लिए अथवा किसी रचना के लिए चित्त का तैयार होना। इसी के अनुसार पञ्चशिख सूत्र का अर्थ किया गया-कपिल ने शास्त्र के निर्माण की मनोभावाना से आसुरि को उसका उपदेश किया।

इसके अनुसार अब विचारना चाहिए, योगसूत्र **'निर्माण-चित्तान्यस्मितामात्रात्'** में इस पद का अर्थ क्या होगा। अर्थ वस्तुतः दोनों स्थानों पर समान है। वहाँ शास्त्रनिर्माण के लिए मन को तैयार करना है, यहाँ युगपत् ज्ञानों की प्राप्ति के लिए मन को साधना है। इसमें अर्थ या प्रवृत्ति–प्रक्रिया का कोई अन्तर नहीं है। पर आधारभूत बात या तथ्य यहाँ विचारणीय यह है-चित्त या मन के निर्माण का स्वरूप क्या है?

क्या योगी 'अस्मिता' उपादान से चित्त का ऐसा ही निर्माण करता है, जैसा कुलाल मिट्टी से घड़े का, अथवा स्वर्णकार सुवर्ण से कुण्डल आदि का? अथवा इसका अन्य

---

१. इसके ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है-'सांख्यदर्शन का इतिहास' प्रथम संस्करण, पृष्ठ २१-३३।

कोई प्रकार सम्भव है?

इस विषय में यह सुझाव सामने आता है, योगी कितना भी सिद्ध हो जाय, वह उस प्रकार से चित्त की रचना नहीं कर सकता, जो प्रकार प्रथम कुलाल स्वर्णकार आदि का उदाहरण देकर प्रकट किया गया है। इसका कारण यह है कि उस प्रकार से चित्त का निर्माण सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत है। जीवात्मा कितना भी सशक्त हो जाय, सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत वह किसी भी रचना में असमर्थ रहता है। इस तथ्य को पूर्ण योगी के विषय में विवरण प्रस्तुत करते हुए वेदान्तदर्शन के एक सूत्र में स्पष्ट किया गया है—**"जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणाद-सन्निहितत्वाच्च" [४।४।१७]।**

जगद्रचना के व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमा आदि ऐश्वर्य मुक्तात्मा को प्राप्त हो जाता है। जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय तथा प्राणियों के कर्मफलों की व्यवस्था आदि कार्य केवल परब्रह्म के सामर्थ्य में रहता है। शास्त्र में जहाँ जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है, वहाँ इस व्यापार में परब्रह्म का अबाध निर्देश है। मुक्त आत्माओं को जो ऐश्वर्य की प्राप्ति शास्त्र [तै० १।६।२; छा० ७।२५।२; ८।१।६] में बताई है, वह ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर सम्भव होती है। उसके लिए आत्मा को अनेक मानव जन्मों में निरन्तर दृढ़ प्रयास करना होता है। इस कारण जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्मा का कोई सान्निध्य अथवा सहयोग सम्भव नहीं रहता। जगदुत्पत्ति आदि कार्य केवल परमेश्वर के अधीन रहता है। मुक्तात्मा कभी परब्रह्म के कार्य का अधिकारी व स्थानापन्न नहीं हो सकता।

बुद्धि, अहंकार, चित्त अथवा मन एवं इन्द्रियां आदि की रचना, सृष्टि रचना के अन्तर्गत आती हैं, जो केवल परमात्मा के अधीन है। इसलिए मुक्तात्मा चित्त आदि की रचना नहीं कर सकता। ऐसा समझना कि कुलाल द्वारा मिट्टी से घट की रचना के समान मुक्तात्मा अस्मिता से चित्त की रचना कर लेता

है- नितान्त अशास्त्रीय है।

यह स्थिति कैवल्यपाद के चतुर्थ सूत्र-**निर्माणचित्तानि, अस्मितामात्रात्**' के तात्पर्य को गम्भीरता से समझने की ओर आकृष्ट करती है। यह कभी नहीं हो सकता कि बादरायण (कृष्णद्वैपायन व्यास) पतञ्जलि के विरुद्ध लिखे; अथवा पतञ्जलि का लेख बादरायण के प्रतिकूल हो। दोनों साक्षात्कृत-धर्मा आप्त महापुरुष थे। एक ही विषय में एक-दूसरे से विरुद्ध कथन उनकी आप्तता में बधक होगा। इसलिए इनका पारस्परिक समन्वय समझना अपेक्षित है।

वस्तुत: योगी चित्त की रचना नहीं करता, वह केवल परमात्म-रचित चित्त को जो उसके साथ आदि सर्ग से सम्बद्ध है-केवल सधाता है। साधना द्वारा चित्त की उन शक्तियों को जगाता है, जो उसमें निसर्गत: अन्तर्निहित हैं। आजकल साधारण भाषा में बोला जाता है-'अमुक कार्य करने की तबीयत नहीं कर रही, कार्य करने का 'मूड' नहीं है, इस कार्य को चित्त नहीं करता' आदि। यह निषेधात्मक स्थिति है। जब चित्त की प्रवृत्त्यात्मक स्थिति होती है, उस स्थिति का चित्त 'निर्माणचित्त' समझना चाहिए।

सूत्र में 'निर्माणचित्तानि' बहुवचनान्त पद है, इससे तो यही अभिप्राय प्रकट होता है कि योगी जब युगपत् ज्ञान के लिए अनेक शरीरों की रचना कर लेता है, तब उनमें ज्ञानसाधन अनेक चित्तों का निर्माण कर एकसाथ अनेक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसलिए चित्तों के निर्माण (रचना) की स्थिति को स्वीकार कर लेना चाहिए।

वस्तुत: युगपत् अनेक ज्ञानों के लिए योगी को न अन्य अनेक शरीरों की रचना अपेक्षित है, न अन्य अनेक चित्तों की रचना। योगी का एक ही चित्त उस अद्‌भुत सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाता है, जिसके कारण तीव्र क्रमिक सम्पन्न होते हुए ज्ञान युगपत्-जैसे प्रतीत होते हैं। यदि उनमें क्रमिकता न भी मानी

जाय, तो भी कोई असामञ्जस्य नहीं। क्योंकि योगी-चित्त में इतना सामर्थ्य उद्भूत हो जाता है कि वह युगपत् अनेक ज्ञानों को ग्रहण कर सके। अनेक साधारण जन थोड़े अभ्यास से अपने चित्त को ऐसा सधा लेने में सफल देखे गये हैं, जो युगपत् प्रतीत होते हुए-से अनेक ज्ञानों को ग्रहण कर लेते हैं।

मेरी छात्रावस्था में एक गुजराती महानुभाव वाराणसी पधारे। उनके विषय में कहा जाता था-ये शतावधानी हैं। सौ विभिन्न कार्य एक साथ चलते रहें, ये सज्जन उन सबको एक साथ ग्रहण कर लेते हैं। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् वाराणसी के रईस बा० भगवानदास जी ने उनका प्रदर्शन कराया। उनमें सौ कार्य तो नहीं, पर दस-बारह विभिन्न कार्य अवश्य थे। उन गुजराती महानुभाव का इस समय मुझे नाम याद नहीं रहा है। उनके प्रदर्शन में कुछ विभिन्न कार्य इस प्रकार थे-एक व्यक्ति घण्टा बजा रहा है, एक अलग खड़ा गिनती गिन रहा है, एक अखबार पढ़ रहा है, एक उनके सामने बैठा सीधा बात कर रहा है, एक सवाल बोल रहा है, इत्यादि इसी प्रकार के एक साथ हो रहे दस-बारह कार्यों का ग्रहण करते हुए सबका क्रमशः ठीक उत्तर देते जा रहे थे। उत्तर देने के लिए मुख एक था, इसलिए क्रमशः उत्तर देना अनिवार्य था। उन विभिन्न हो रहे कार्यों को इन्द्रियों द्वारा एक ही चित्त ग्रहण कर रहा था, शरीर भी वह एक ही था।

योगी-चित्त योगज विशेषताओं के कारण इतना शक्ति-सम्पन्न हो जाता है कि उस एक ही चित्त द्वारा योगी युगपत् अनेक ज्ञानों का अनायास ग्रहण कर सकता है। साधारण अवस्था में जिस कार्य को अलग-अलग अनेक चित्त कर पाते हैं। योगी-चित्त एक ही वह सब कार्य कर लेता है। अर्थात् अनेक चित्तों का कार्य वह अकेला कर लेता है। क्योंकि योगी-चित्त अकेला ही अनेक चित्तों का कार्य कर सकता है, इसी भावना से सूत्र में 'निर्माणचित्तानि' बहुवचन है। योगी न नया शरीर बनाता है, न

नया चित्त।

चतुर्थ पाद के एक सूत्र (१०) की व्याख्या में भाष्यकार ने चित्त को विभु बताया है। विभु तत्त्व का निर्माण (रचना) असम्भव है। जो पदार्थ बनाया जाता है, वह अवश्य एकदेशी, सीमा से परिमित होता है। ऐसी अवस्था में क्या चित्त का निर्माण युक्तियुक्त व प्रामाणिक माना जा सकता है? योगी द्वारा निर्मित चित्त एकदेशी और अन्य नैसर्गिक चित्त विभु मान लेना चाहिए, ऐसे कथन में कोई प्रमाण नहीं, यह केवल उपहासमात्र है।

इस विवेचना से यह परिणाम सामने आता है कि योगी के द्वारा अनेक चित्तों के निर्माण का कथन इसी भावना से समञ्जस समझा जाना चाहिए कि अनेक चित्तों द्वारा युगपत् सम्पादकीय कार्य को योगी का अकेला ही चित्त सम्पन्न कर लेता है, क्योंकि योगसाधना द्वारा उसमें विशिष्ट शक्ति का उद्भव हो गया है। चित्त को विभु माने जाने का सामञ्जस्य भी इसी रूप में समझना चाहिए कि योगी को कोई अपेक्षित व उपयोगी चित्त-सम्बन्धी कार्य करने में किसी ओर से कोई बाधा नहीं होती है। वैभव-ऐश्वर्य प्राप्त हो जाने से चित्त को 'विभु' कहा गया।

नमन और कृतज्ञता प्रकाशन

अचित्यशक्ति सर्वान्तर्यामी प्रभु की सेवा में सर्वप्रथम नमन प्रस्तुत है, जिसकी प्रेरणा से—आयु का दशवाँ वर्ष प्रारम्भ होने पर अचानक—यह भावना जागृत हुई कि मैं संस्कृत पढ़ूँगा, जबकि मेरे जन्मस्थान से दूर तक भी संस्कृत अध्ययन-अध्यापन का कोई चिह्न तक उपलब्ध न था। सृष्टि के आदि में उस प्रभु ने मानवमात्र को सन्मार्ग पर चलने के लिए वेद-ज्ञान प्रदान किया। उसकी छाया को मस्तक पर सदा अनुभव करता हूँ।

एक साधारण कृषिजीवी ग्रामीण क्षत्रिय परिवार में जन्म

लेकर न केवल संस्कृत, अपितु वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्र पढ़ने का अधिकार जिन ऋषियों की कृपा से प्राप्त किया, जिनके द्वारा रचित, विविध अगाध ज्ञान-विज्ञान के आगार शास्त्रनिकाय से मधुर रस बिन्दु का आस्वाद प्राप्त किया, उन सभी दिव्य महान आत्माओं के चरणों में शत-शतवार नत-मस्तक प्रस्तुत हूँ। संस्कृत अध्ययन की ओर प्रवृत्ति की लम्बी कथा को फिर किसी अवसर के लिए छोड़ देना उपयुक्त समझा है।

इस जीवन को प्राप्त कर जिन गुरुजनों के चरणों में बैठकर शास्त्रीय रस का यत्किंचित् आस्वादन किया, जिनकी आत्मीयता और वात्सल्य ने विद्या प्राप्तिकाल में जन्मदाता माता-पिता को स्मृतिपथ पर न उतरने दिया, जिनकी परम उदात्त भावनाओं के कारण समस्त छात्रजीवन का वातावरण माता की मधुरमयी गोद में लोरियाँ लेते हुए-जैसे बीता; उन परम समादरणीय गुरुजनों के चरणों में समस्त विनम्र भाव से नत-मस्तक हूँ। जब भी स्मरण करता हूँ, उनके चरणों की कृपापूर्ण आकृति को सन्मुख उपस्थित पाता हूँ। अब भी उनकी पवित्र दिवंगत आत्माओं से प्रेरणा प्राप्त करता हूँ। प्रातः स्मरणीय वे गुरु हैं-

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री पं० काशीनाथ जी शास्त्री
भाष्याचार्य श्री पं० हरनामदत्त जी शास्त्री
श्री पं० गङ्गादत्त जी शास्त्री (संन्यास नाम श्री शुद्धबोध तीर्थ जी महाराज)
सर्वशास्त्रमर्मज्ञ, श्री पं० भीमसेन जी (आगरा निवासी)
श्री पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ
श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा (नायक नंगला निवासी)

ज्वालापुरीय गुरुकुल महाविद्यालय एवं अन्य शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करते हुए जिन गुरुजनों से ज्ञान प्राप्त किया, सबकी सेवा में मेरा नमन स्वीकार हो।

विषयवस्तु-सूची

ग्रन्थ-संकेत

अथर्व०	अथर्ववेद
ऋ०	ऋग्वेद
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषत्
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषत्
प्रश्न उ०	प्रश्न उपनिषत्
मनु०	मनुस्मृति
म० भा० शा०	महाभारत शान्तिपर्व
यजु०	यजुर्वेद
श्वे०	श्वेताश्वर उपनिषत्

❑

प्रस्तुत ग्रन्थ पर ग्रन्थकार को प्राप्त पुरस्कार

७५१/- रुपये श्री प्रतापसिंह चौधरी
अध्यक्ष-रायबहादुर चौधरी
नारायणसिंह, प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट
५७, एल० मॉडल टाउन, करनाल
(हरयाणा)

५००/- रुपये श्री राय रतनलाल बी०ए०
तथा पूज्या माता श्रीमती रुक्मिणी देवी
सञ्चालक—श्री राय गेलाराम-धर्मार्थनिधि
गाजियाबाद, (उत्तर प्रदेश)

❑

पातञ्जल-योगदर्शनम्

[अभिनवाभिव्यक्तयोगप्रक्रियादिपरिष्कृतविद्योदयभाष्यसहितम्]

तत्र समाधिपादः प्रथमः

अथ योगानुशासनम् ॥१॥

[अथ] अब प्रारम्भ किया जाता है, **[योगानुशासनम्-योग-अनुशासनम्]** योग एवं योगशास्त्र का उपदेश।

प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार होना सांख्यदर्शन में मोक्ष का साधन बताया गया है।[1] इसी का नाम 'प्रकृति-पुरुषविवेक' है। साधारण लोकव्यवहार में सुबुद्ध व्यक्ति भी जड़ देह को चेतन आत्मा समझता रहता है। यह मोह अथवा अज्ञान की स्थिति है। जड़ और चेतन के भेद को शाब्दिकरूप में जान लेना-'विवेक-ज्ञान' नहीं है। इनके भेद का साक्षात्कारज्ञान, विवेकज्ञान अथवा विवेकख्याति कहा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए जो साधन अपेक्षित हैं, उनका विवरण प्रस्तुत करने के लिए इस शास्त्र का उपक्रम है।

आचार्यों ने 'अथ' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में बताया है।[2] विविध विषयों के प्राचीन ग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रायः 'प्रारम्भ' अर्थ में किया है।[3] यद्यपि कोषकारों ने अनेक अर्थों में एक अर्थ 'मंगल' लिखा है, परन्तु प्रयोक्ता आचार्यों की मान्यता

---

१. सांख्यसूत्र- ३।७५, ८४॥

२. (क) अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले।
विकल्पानन्तरप्रश्नकार्त्स्न्यारम्भसमुच्चये। (मेदिनी)
(ख) मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ। (अमर)

३. अथ शब्दानुशासनम्, व्याकरण महाभाष्य। अथातो धर्म व्याख्यास्यामः, वैशेषिकदर्शन। अथातो धर्मजिज्ञासा, मीमांसादर्शन। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, वेदान्तदर्शन। अथ त्रिविधदुःखात्यन्त०, सांख्यदर्शन।

है कि 'मंगल' इसका अर्थ न होकर केवल इसका उच्चारण मांगलिक अर्थात् मंगल एवं कल्याण का प्रयोजक माना जाता है।[१] यहाँ 'अथ' पद के प्रयोग में दोनों भावनायें समझनी चाहिएं। कल्याण की कामना के साथ शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है। इस शास्त्र का प्रयोजन आत्मज्ञान, परमकल्याण का साधन है। इसी के साथ यह पद 'आनन्तर्य' का बोध कराता है। प्रकृति-पुरुष के भेद की जिज्ञासा रखनेवाले अर्थात् आत्मज्ञान के लिए उत्सुक जितेन्द्रिय विनीत अन्तेवासी जनों ने पतञ्जलि मुनि के पास आकर निवेदन किया—"आपके आश्रम में निवास करते हुए हम आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।" उनकी इस आत्मविषयक जिज्ञासा के अनन्तर उनको उपयुक्त अधिकारी जान प्रस्तुत शास्त्र का आरम्भ किया।

वह शास्त्र क्या है? अगले पद से बताया—'योगानुशासनम्'। इसमें दो पद हैं—'योग' और 'अनुशासन'। व्याकरण के अनुसार 'योग' पद-'युज समाधौ' [दि०, आ०, आ०] और 'युजिर् योगे' [रु०, उ०, अ०] धातुओं से 'घञ्' [पा० ३।३।१८] प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। आकृति समान होने पर भी ये पृथक् दो पद हैं। प्रस्तुत सूत्र में समाधि अर्थवाले पहले धातु से सिद्ध 'योग' पद अभिप्रेत है। जोड़ने (=योग) अर्थवाले दूसरे धातु से सिद्ध 'योग' पद का प्रयोग प्राचीन[२] आचार्यों ने न्याय-वैशेषिक दर्शनों के लिए किया है, उन दर्शनों में प्रतिपादित अर्थों का अनुशासन यहाँ अभिप्रेत नहीं है। साधारणतया इस पद का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है।[३]

---

१. ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

२. द्रष्टव्य, न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य, १।१।२९॥
तथा कौटलीय अर्थशास्त्र, १।२।१०॥

३. 'योगः संनहनोपायध्यानसंमतियुक्तिषु' अमरकोष, ३।३।२२॥ 'योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु। वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपायसंनहनेष्वपि। कार्मणेऽपि च' मेदिनी कोष। संनहन=कवच। उपाय=साम, दान आदि राजनीतिशास्त्र-प्रतिपादित।

'अनुशासनम्' पद 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'शास' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय [३।३।११५] होकर सिद्ध होता है। धातु के अनुसार इसका अर्थ है -निर्देश अथवा उपदेश करना। धातु के साथ 'अनु' उपसर्ग का सान्निध्य इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि यह योग का उपदेश पतञ्जलि मुनि की अपनी कल्पना नहीं है, प्रत्युत इसकी परम्परा आदि सर्ग से चालू रही है, जिसका मूलस्रोत वेद है।[1] कालान्तर में लोगों के आलस्य प्रमाद आदि के कारण विकीर्ण एवं विस्मृतप्राय योगविद्या का पतञ्जलि मुनि ने लोकानुग्रह की अभिलाषा से पुनरुद्धार किया। योग की यह पद्धति अतिप्राचीन और वेदमूलक है। उपनिषद् आदि विशिष्ट आध्यात्मिक साहित्य में इसके विपुल विवरण उपलब्ध हैं तथा योगसम्बन्धी विविध प्रक्रियाओं के निर्देश पाये जाते हैं। समय-समय पर इस विद्या को नष्ट होने अथवा इसमें शैथिल्य आने के संकेत भी भारतीय साहित्य में उपलब्ध होते हैं।[2] ऐसे ही किसी प्राचीन काल में पतञ्जलि मुनि ने योग का अनुशासन अर्थात् पुनः उद्धार कर उपदेश किया और उस सबको सूत्रबद्ध कर प्रस्तुत शास्त्र का आरम्भ किया॥१॥

प्रतिपाद्य योग का स्वरूप बताया—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥२॥

[**योगः**] योग है [**चित्त-वृत्ति-निरोधः**] चित्त की वृत्तियों का निरोध-रोकना। चित्त की वृत्तियों को रोकना योग का स्वरूप है।

सांख्य में जिस अन्तःकरण को महत्तत्व अथवा बुद्धितत्त्व के नाम से कहा गया है, योग ने उसी को 'चित्त' नाम दिया है। अर्थ-ज्ञान के निश्चय कराने में साधन होने के अतिरिक्त-बुद्धितत्त्व को योगप्रक्रिया के अनुसार-एक विशिष्ट कार्य है-

---

१. द्रष्टव्य, 'योगोपनिषत्' [विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद से प्रकाशित]

२. द्रष्टव्य-भगवद्गीता, ४।१-३॥

अर्थतत्त्व का चिन्तन। प्रस्तुत शास्त्र में अर्थतत्त्व से तात्पर्य 'परमात्मतत्त्व का है। साक्षात्कार के लिए प्रणव (ओ३म्) जप आदि के द्वारा ईश्वर का चिन्तन अर्थात् निरन्तर स्मरण करने का उपपादन इस दर्शन का प्रधान उद्देश्य है और यह चिन्तन बुद्धि द्वारा होता है, इसी कारण इस दर्शन में बुद्धितत्त्व को 'चित्त' पद से अभिव्यक्त किया गया है। चिन्तन का प्रधान साधन।[१] इसीलिए योगसूत्रों में प्रायः सर्वत्र 'चित्त' पद का प्रयोग हुआ है।

वृत्ति-व्यापार को कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने विषय=रूप आदि के साथ सम्बन्ध होना-व्यापार है। बाह्यकरण चक्षु आदि का जो व्यापार है, वही व्यापार अन्तःकरण चित्त का रहता है। तात्पर्य है, प्राणी की साधारण दशा में बाह्य विषयों के ग्राह्य के लिए चित्त बाह्य करणों का दास रहता है। जब मानव योगविधियों द्वारा समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह बाह्य विषयों के ज्ञान के लिए इन्द्रियों से बँधा नहीं रहता, उस दशा में बाह्य इन्द्रियों के सहयोग के बिना केवल चित्त-अन्तःकरण द्वारा बाह्य विषयों के ग्रहण करने में समर्थ होता है। इनके अनुरूप साधारण (व्युत्थान) दशा में चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं-क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त तथा योगानुष्ठान के अनन्तर प्राप्त अवस्था दो हैं-एकाग्र और निरुद्ध।

ये सब चित्त की वृत्तियाँ हैं चित्त सदा ही इनमें से किसी-न-किसी वृत्ति से अभिभूत रहता है। इन वृत्तियों का निरोध हो जाना 'योग' है। निरोध का अर्थ है-रोकना। इसका तात्पर्य किसी प्रतिबन्ध को सामने खड़ा करना नहीं है, प्रत्युत विषयों का चिन्तन एवं उनमें आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति का न होना

---

१. 'चिती संज्ञाने' (भ्वादि) तथा 'चिति स्मृत्याम्' (चुरादि) धातु से भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय [३।३।११४] होने पर 'चित्त' पद सिद्ध होता है। जिसमें ज्ञान की संपन्नता तथा निरन्तर स्मरण के मुख्य साधन होने का भाव अन्तर्निहित है। देखें, योगसूत्र-४।२१-२२॥

ही निरोध का स्वरूप है। ऐसी अवस्था जिन उपायों से प्राप्त होती है, उनका निरूपण करना इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। इससे पूर्व हमें समझना चाहिए-चित्त की उक्त पाँच अवस्थाओं का स्वरूप क्या है?

सांख्य-योग की मान्यताओं के अनुसार समस्त जड़ जगत् तीन गुणों-सत्त्व, रजस्, तमस्-का परिणाम हैं। दृश्य-अदृश्य विश्व के मूल उपादान कारण ये ही तीन गुण[१] हैं, चित्त भी इन्हीं तीन गुणों का परिणाम है। इनमें सत्त्व-प्रकाश स्वभाव, रजस्-प्रवृत्ति स्वभाव तथा तमस्-नियमन (रोकना) स्वभाव रहता है। वस्तु में जब जिस गुण का उद्रेक (प्राधान्य) रहता है, तब वही स्वभाव प्रकट में आता है। चित्त की रचना सत्त्वगुण-प्रधान है, इस करण रजस्-तमस् के उद्रेक में भी चित्त का प्रकाश स्वभाव निरन्तर बना रहता है। इन्हीं गुणों के यथायथ प्रधान व अप्रधान रहने से चित्त की विभिन्न अवस्था प्रकट में आती हैं। क्षिप्त आदि अवस्थाओं के निमित्त ये ही गुण हैं। इनके अनुसार अवस्थाओं का स्वरूप निम्न प्रकार समझा जा सकता है-

क्षिप्त-अवस्था-रजस् का उद्रेक (प्राबल्य) होने पर चित्त चञ्चल विचलित डाँवाडोल बना रहता है, वह तब किसी बात का निर्णय करने में साधन नहीं बन पाता। यह दशा यदा-कदा प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव में आती रहती है। इसका 'क्षिप्त' नाम इसी कारण है कि रजोगुण अपने स्वभाव के अनुरूप चित्त को स्थिर नहीं होने देता, इधर-उधर फेंके रखता है, चंचल बनाये रखता है।

मूढ़ अवस्था-जब रजस् का वेग न्यून होकर तमस् का प्राधान्य होता है, वह मोह-आवरण को उभार देता है। यह

---

१. 'गुण' पद प्रस्तुत शास्त्र का पारिभाषिक है। यहाँ 'गुण' पद से न्याय-वैशेषिक अभिमत गुण अभिप्रेत नहीं हैं। ये वस्तुतः मूलतत्त्व हैं। इसके लिए देखें हमारी रचना, सांख्यसिद्धान्त, पृ० २१०-१२

मोह-आवरण, ज्ञान अर्थात् प्रकाश को अभिभूत कर अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य आदि के लिए साधन बन जाता है। अज्ञानमूलक अधार्मिक कार्य इसी के परिणाम होते हैं। निद्रा, आलस्य आदि भी इसी का परिणाम हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस अवस्था का यदा-कदा जीवन में अनुभव करता रहता है।

विक्षिप्त-अवस्था—जब चित्त में तमोगुण शिथिल व क्षीण दशा को प्राप्त होकर रजोगुण का आंशिक प्राबल्य रहता है, तब सत्त्व के उद्रेक से चित्त निष्कलंक दर्पण के समान प्रकाशित होकर ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि की ओर प्रवृत्ति में साधन होता है। क्षिप्त अवस्था की निरन्तर चञ्चलता के विपरीत इस दशा में स्थिरता की ओर प्रवृत्ति की विशेषता प्रकट होती है, इसी कारण इसका नाम 'विक्षिप्त' है।

चित्त की ये तीनों अवस्थायें 'योग' की सीमा में नहीं आतीं। यद्यपि आंशिक एवं आपेक्षिकरूप में वृत्तियों का निरोध इन अवस्थाओं में भी रहता है, परन्तु बाह्यविषयों के साथ इन्द्रियद्वारा चित्त का निरन्तर उग्र सम्पर्क बने रहने के कारण यह पूर्णरूप से 'व्युत्थान' दशा है, जो 'योग' की प्रतियोगी (उलट) है। इनमें तीसरी विक्षिप्त-अवस्था उन जिज्ञासुओं में प्रकट होती है, जो अध्यात्म मार्ग पर चलने की भावना रखते तथा उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यद्यपि इस अवस्था में यदाकदा स्थिरता का भान होता है, पर विक्षेपों का प्राबल्य बना रहने से वह स्थिरता नगण्य कोटि में चली जाती है। ऐसी भावना का व्यक्ति ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि के लिए उत्सुक होकर उस ओर प्रयत्नशील बना रहता है, यही इस अवस्था की विशेषता है।

एकाग्र-अवस्था—जब चित्त इन्द्रियद्वार से बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त न होकर एकमात्र अध्यात्म के चिन्तन में निरत रहता है, यह चित्त की 'एकाग्र' नामक अवस्था कही जाती है। यहाँ चित्त में रजोगुण-तमोगुण का आंशिक भी उद्रेक नहीं

रहता। पूर्वानुभूत बाह्य विषयों के संस्कार अवश्य बने रहते हैं, वे आकस्मिकरूप से उद्‌बुद्ध होकर एकाग्र अवस्था में कभी विघ्न अवश्य उपस्थित करते रहते हैं। इस अवस्था में पहुँचे योगी के लिए आवश्यक है, वह प्रयत्नपूर्वक अभ्यास द्वारा चित्त की इस अवस्था को ऐसा बनाये रखने में सतर्क रहे, जिससे संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने में वह साधन न बने। इस अवस्था में चित्त निश्चल व एकाग्र होकर स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम तत्त्वों में प्रवेशकर उनके यथार्थ स्वरूप को साक्षात् करने में समर्थ हो जाता है। चित्त की इस अवस्था को प्रस्तुत शास्त्र में 'सम्प्रज्ञात योग' कहा जाता है। इसी को 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।

यद्यपि 'समाधि' को सम्पूर्ण योग का एक अंग बताया गया है।[१] परन्तु अङ्ग-अङ्गि भाव में अभेद की भावना से एक अङ्ग (समाधि) को अङ्गी मानकर उसी को 'योग' नाम से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं है।

निरुद्ध-अवस्था—एकाग्र अथवा सम्प्रज्ञात समाधि की दशा में योगी आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात् कर लेता है। वह इस तथ्य को स्पष्टरूप में आन्तर प्रत्यक्ष से जान लेता है, कि प्राप्त विषयों के अनुरूप चित्त का परिणाम होता रहता है, परन्तु आत्मा ऐसा नहीं है। विषयाकार परिणत चित्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने से उस विषय को आत्मा तक पहुँचाता है, चेतन होने से आत्मा उसका केवल अनुभव करता है, अपरिणामी होने के कारण उसमें विषयाकार परिणाम होने की सम्भावना नहीं। इस रूप में आत्मा और चित्त के भेद का सम्प्रज्ञात योगी को साक्षात् ज्ञान हो जाता है, इसी का नाम 'विवेकख्याति' है।

---

१. द्रष्टव्य-योगसूत्र, २।२९॥ यम (अहिंसा आदि) आदि के पालन-अनुष्ठान से लेकर असम्प्रज्ञात समाधि तक पूर्ण योग है। फिर भी पर की अपेक्षा पूर्व को आचार्यों ने 'व्युत्थान' दशा माना है। इस प्रकार असम्प्रज्ञात की अपेक्षा पूर्व की समस्त अवस्था 'व्युत्थान' कोटि में आती हैं । परन्तु उनके बिना 'असम्प्रज्ञात', का उद्‌भावन सम्भव नहीं, अतः वे सब योग की सीमा के अन्तर्गत हैं।

परन्तु यह अवस्था त्रिगुण का परिणाम होने से सुख-दुःख-मोहरूप है, इसलिए परित्याज्य है एवं परिणामी होने से इसका अन्त हो जाना है, अर्थात् वह विवेक ख्याति निरन्तर बनी नहीं रह सकती। आत्मतत्त्व निश्चित ही इससे विपरीत रहता है। ऐसा बोध होने पर योगी को उस विवेकख्याति की ओर से भी वैराग्य की भावना जागृत होती है और उसके निरोध के लिए वह अग्रसर हो जाता है। निरोध की अवस्था में पहुँचकर चित्त की ऐसी अवस्था हो जाती है कि संस्कारों के विद्यमान रहते भी उनको उद्बुद्ध करने में वह अक्षम रहता है। यही चित्त की निरुद्ध अवस्था है।

इस दशा में पहुँचकर चित्त और आत्मा के अथवा प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान [विवेकख्यातिरूप] भी पीछे रह जाता है। सुख-दुःख आदि के बीज के कर्माशय [संस्कार-समूह] हैं, जो जन्म, आयु और भोग के रूप में प्राप्त होते रहते हैं। प्रस्तुत अवस्था में कर्माशय दग्ध हो जाते हैं, उनका बीजभाव अन्तर्हित हो जाता है, इसी कारण इस अवस्था को निर्बीज समाधि कहा जाता है। आत्मबोध के अतिरिक्त इस अवस्था में अन्य किसी विषय का किसी प्रकार का ज्ञान न होने से योगियों के सम्प्रदाय में इस अवस्था का नाम 'असम्प्रज्ञात' समाधि है। फलतः योग 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' रूप में दो प्रकार का प्रस्तुत सूत्र द्वारा वर्णन किया गया है। इन दोनों में भेद केवल इतना है कि पहली दशा में संस्कार उद्बुद्ध होते रहते हैं, जबकि दूसरी में वे निःशेष हो जाते हैं॥२॥

चित्त के इस अवस्था में पहुँच जाने पर आत्मा की स्थिति कैसी रहती है। इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥३॥

[तदा] उस समय (असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में) **[द्रष्टुः]** द्रष्टा आत्मा का **[स्वरूपे]** अपने रूप में **[अवस्थानम्]**

ठहरना (होता है)।

आत्मा का स्वरूप चैतन्यमात्र है। यह स्वरूप आत्मा का सदा बना रहता है, चाहे समाधि दशा हो अथवा व्युत्थान दशा। चैतन्यस्वरूप तत्त्व कभी परिणामी नहीं हेता, परिणाम सदा त्रिगुणात्मक जड़तत्त्व में होता है। तब आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होने का तात्पर्य क्या है। यह समझना चाहिए। यदि व्युत्थान दशा में आत्मा के चैतन्य स्वरूप में कोई अन्तर आ जाय, तो वह इन्द्रियव्यापार द्वारा उपस्थित विषय का अनुभव न कर सकेगा। चैतन्य में अन्तर आना यही है कि वह चैतन्य न रहे, ऐसी स्थिति में वहाँ अनुभव होना असम्भव है, पर अनुभव होता है, यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए आत्मा कभी स्वरूप में अवस्थित नहीं भी रहता, ऐसा कहना दार्शनिक दृष्टि से सर्वथा असंगत है। फलत: असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में केवल आत्मा का स्वरूप में अवस्थित होने का तात्पर्य है- उस अवस्था में आत्मा केवल स्वरूप का अनुभव करता है, अन्य किसी विषय का नहीं; जबकि असम्प्रज्ञात समाधि से अतिरिक्त दशा में वह आत्मा से भिन्न विषयों का अनुभव किया करता है।

अनुभव करना चैतन्य का स्वभाव है, वह उससे छूट नहीं सकता। फलत: जब वह केवल अपना (शुद्ध स्वरूप चैतन्य का।) अनुभव करता है तब उसे स्वरूप में अवस्थित कहा जाता है। केवल 'स्व' का अनुभव करना, अन्य समस्त विषयों से अछूता हो जाना। अन्य विषयों का आत्मा द्वारा अनुभव आत्मा का प्रकृति-सम्पर्क होने पर होता है। इस सम्पर्क का मुख्य एवं अन्तिम उपकरण बुद्धि अथवा चित्त है, वह आत्मा को असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था प्राप्त हो जाने पर निष्क्रिय हो जाता है। आत्मा को चित्त के सहयोग की तभी तक आवश्यकता है, जब तक वह आत्मातिरिक्त विषयों का अनुभव करता है। आत्म-स्वरूप के अनुभव में चित्त अनावश्यक है। आत्मा के

स्वरूप में अवस्थित होने का यही तात्पर्य है।

आत्मा इस अवस्था को प्राप्त कर समाधिलब्ध शक्ति द्वारा परमात्मा के आनन्दरूप में निमग्न हो जाता है। उस आनन्द का वह अनुभव करने लगता है। यही आत्मा के मोक्ष अथवा अपवर्ग का स्वरूप है।

मध्यकालिक एवं तदनुवर्ती आधुनिक आचार्यों ने प्रस्तुत सूत्र के 'द्रष्ट्ट' पद से द्रष्टा जीवात्मा का ग्रहण कर उसकी स्वरूप में अवस्थिति बताकर सूत्रार्थ पूरा कर दिया है, पर वस्तुतः सूत्रार्थ का पर्यवसान आत्मा के मोक्षानुभव की सूचना पर समझना चाहिए। इस भावना से महर्षि दयानन्द ने अपने अनुभव के आधार पर सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास के अन्तिम भाग में इन दो[१] सूत्रों का विवरण इस प्रकार दिया है–

"ये योगशास्त्र पातञ्जल के सूत्र हैं। मनुष्य रजोगुण तमोगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक[२] शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध, अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना॥१॥ जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है॥२॥ इत्यादि साधन मुक्ति के लिए करे।"

प्रस्तुत सूत्र के 'द्रष्ट' पद का अर्थ ऋषि दयानन्द ने यहाँ 'जीवात्मा' न कर, 'ईश्वर' किया है। समाधिलाभ से मोक्षप्राप्ति को समस्त ऋषि–मुनियों एवं वैदिक आचार्यों ने स्वीकारा है। जीवात्मा उस आनन्द का अभिलाषी रहता है, वह परमात्म–सहयोग के बिना अप्राप्य है। ऋग्वेद की एक ऋचा [७।११।१] में

१. सूत्र हैं-'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' [१।२,३]

२. शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों को रोकने के लिए पहले शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त होना आवश्यक है। कोई यह न समझ ले कि आरम्भ से ही शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों का निषेध है। इसलिए ग्रन्थकार ने 'शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध करे' ऐसा लिखा है।

बताया है–'न ऋते त्वदमृता मादयन्ते' तेरे बिना मुक्त आत्मा आनन्दित नहीं होते। सूत्र के 'द्रष्ट' पद का 'ईश्वर' अर्थ समझने पर सूत्रकार पतञ्जलि की यह भावना स्पष्ट अभिव्यक्त हो जाती है ॥३॥

पूर्ण समाधिलाभ न होने तक आत्मा किस अवस्था में रहता है, सूत्रकार ने बताया–

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

[वृत्तिसारूप्यम्] वृत्तियों के समान रूपवाला (प्रतीत होता है, आत्मा) **[इतरत्र]** अन्य अवस्था में। (पूर्ण समाधि दशा से अन्य दशा अर्थात् व्युत्थान दशा में)।

समाधिकाल से अतिरिक्तकाल में–जब इन्द्रियाँ विषयों से सम्बद्ध होकर अन्तःकरण द्वारा आत्मा तक उन विषयों के पहुँचाने में रत रहती हैं, उन–बाह्य विषयों–का बोध आत्मा को होता रहता है, यह बोध आत्मा की व्युत्थान दशा कही जाती है। बाह्य एवं अन्तःकरण द्वारा जो विषय आत्मा के लिए प्रस्तुत किया जाता है, आत्मा उसका ग्रहण करता है, इसी को आत्मा की वृत्तिसमानरूपता कहा है, अर्थात् इन्द्रिय द्वारा जो व्यापार हो रहा है, उसी के समान आत्मा को विषय का बोध होता है। यह आत्मा की बाह्यवृत्ति होने की अवस्था है, आन्तरवृत्ति अथवा समाधि की नहीं। इस प्रकार जो विषय बाह्य एवं आन्तर करणों द्वारा चित्त तक पहुँच जाते हैं, यह चित्त उनको आत्मा में समर्पित कर देता है। अन्य करणों की अपेक्षा यह चित्त आत्मा के सान्निध्य में रहता हुआ उसका उपकरण है। यह सब करणों का व्यापार आत्मा का प्रकृति के साथ अविवेकजनित सम्पर्क होने पर हुआ करता है, जो अनादि काल से चालू है। यह सब प्रक्रिया आत्मा के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए है। ऐसी किन्हीं भी अवस्थाओं में आत्मा के अपने चैतन्यस्वरूप में कभी कोई अन्तर नहीं आता। यह केवल व्युत्थान और

समाधि अवस्थाओं का भेद है। पहले में समस्त वैषयिक दृश्यों की प्रतीति आत्मा को हुआ करती है, जबकि दूसरे में केवल ब्रह्मानन्द की अनुभूति। आत्मा की पहली अवस्था का निर्देश प्रस्तुत सूत्र द्वारा किया गया है ॥४॥

जिन चित्तवृत्तियों के निरोध का द्वितीय सूत्र में निर्देश किया, उनकी कोई गिनती नहीं, फिर भी शास्त्रीय विवरण के लिए उन्हें पाँच वर्गों में परिगणित किया गया। आचार्य सूत्रकार ने उनके साधारणस्वरूप का निर्देश करते हुए बताया—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥५॥

[वृत्तयः] वृत्तियाँ **[पञ्चतय्यः]** पाँच प्रकार की हैं, जो **[क्लिष्ट अक्लिष्टाः]** क्लेश-दुःख की उत्पादक और अक्लेश-दुःख का विनाश करनेवाली हैं।

दुःख को उत्पन्न और नष्ट करनेवाली वृत्तियाँ पाँच भागों में विभाजित हैं।

'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' पदों से सूत्रकार ने वृत्तियों के साधारण स्वरूप का निर्देश किया। वृत्ति किसी भी वर्ग के अन्तर्गत हों, वे सत्त्व आदि गुणों के गुण-प्रधानभाव से यथायथ दुःख और सुख दोनों को उत्पन्न करनेवाली होती है। वृत्तियों के पाँच वर्गों में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि कोई अमुक वर्ग सुख का एवं कोई नियत वर्ग केवल दुःख का जनक हो। प्रत्येक वर्ग सत्त्वादि-गुणानुसार दुःखों को उत्पन्न और उनका विनाश कया करते हैं।

सूत्रकार ने आगे [२।३] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को 'क्लेश' बताया है। ये अविद्या आदि क्लेश जिन वृत्तियों के हेतु होते हैं, वे वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' कही जाती हैं। अविद्या आदि क्लेशों के सहयोग से इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्तिरूप वृत्तियाँ दुःख आदि को उत्पन्न करती हैं। जिन वृत्तियों के हेतु अविद्या आदि क्लेश नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिक भावनाओं से प्रेरणा पाकर

इन्द्रिय-वृत्तियाँ उभरती हैं, वे 'अक्लिष्ट' हैं एवं दुःख आदि को उत्पन्न करने के बजाय वे उनके नाश करने में सहयोगी होती हैं। ये वृत्तियाँ अभ्यासी योगी को विवेकख्याति की ओर अग्रसर करती हैं एवं उस लक्ष्य तक पहुँचा देती हैं।

साधारण संसारी पुरुष त्रिगुण से अभिभूत होकर कर्म करता हुआ अनादि काल से कर्मजन्य संस्कारों का अम्बार लगाकर उसी प्रवाह में निरन्तर बहता चला जा रहा है। यह वृत्तियों का 'क्लिष्ट' स्वरूप है। जब सांसारिक ताप, दौर्मनस्य, क्लेशसन्तति आदि से खिन्न होकर एवं सद्गुरु के उपदेश आदि से अध्यात्म-मार्ग की ओर पुरुष प्रवृत्त होता है, तब विवेक-ख्याति को उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ चित्त में उभरने लगती हैं। ये वृत्तियाँ 'अक्लिष्ट' कही जाती हैं। अन्त में जाकर ऐसी वृत्तियों के द्वारा अविद्या आदि क्लेशों का नाश होता है। अध्यात्म की भावना जागृत होने से प्रारम्भ कर आत्मसाक्षात्कार तक दोनों प्रकार की वृत्तियों का प्रवाह एक-दूसरे को अवसर (अवकाश) देता हुआ निरन्तर चला करता है। तात्पर्य है–योगी की साध्य अवस्था में कभी क्लिष्ट-वृत्तियों के प्रवाह में संस्कार व अभ्यास आदि के कारण अक्लिष्ट-वृत्तियाँ उभर आती हैं, जब तक इनका प्राबल्य रहता है, क्लिष्ट-वृत्तियाँ दबी रहती हैं। अक्लिष्ट-वृत्तियों में विरोधी-संस्कारों के उभार से जब शिथिलता आने लगती है, तो क्लिष्ट-वृत्तियाँ पुनः प्रबलता के साथ चालू हो जाती हैं। इस प्रकार दोनों वृत्तियाँ यथावसर आत्मसाक्षात्कार होने के पहले तक एक-दूसरे के आगे-पीछे चला करती हैं।

प्रारब्ध संस्कारों से वृत्तियाँ और उन वृत्तियों से आगे अन्य संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार अनादिकाल से वृत्ति-संस्कारचक्र निरन्तर चल रहा है। वृत्तियों के उत्पन्न करने में चित्त-सहयोग की क्षमता का उस समय अवसान हो जाता है जब आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आत्मा स्वरूप [अपने चैतन्यमात्र रूप] में अवस्थित हो जाता है। चालू देहपात के

अनन्तर अनपेक्षित चित्त अपने कारणों में लीन हो जाता है॥५॥

आचार्य सूत्रकार ने बताया, क्लिष्ट-अक्लिष्ट वे पाँच वृत्तियाँ ये हैं—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥६॥

[प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः] प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (ये पाँच वर्ग वृत्तियों के योगशास्त्र में माने गये हैं)।

चित्तवृत्ति के उक्त पाँच वर्गों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रकार योगशास्त्र में वृत्तियों का अस्वीकार्य है॥६॥

प्रथम पठित प्रमाण-वृत्ति का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥७॥

[प्रत्यक्षानुमानागमाः] प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, ये **[प्रमाणानि]** 'प्रमाण' (नामक वृत्ति का वर्ग) हैं।

प्रत्यक्षवृत्ति—चक्षु इन्द्रिय का—सामने विद्यमान घट आदि—विषय के साथ चक्षुरश्मि द्वारा सम्बन्ध होने पर वह विषय अपने आकार-प्रकार सहित इन्द्रिय में प्रतिबिम्ब हो जाता है। इन्द्रिय के साथ मन का, मन के साथ अहंकार एवं अहंकार के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने से यह विषय-प्रतिबिम्बित बुद्धि में प्रतिफलित होता है। बुद्धि का सीधा सम्बन्ध आत्मा के साथ होने से आत्मा उस विषय का ग्रहण करता है। आत्मा को होनेवाला विषयज्ञान योगशास्त्र की परिभाषा में 'बोध' कहा जाता है। इन्द्रिय से लगाकर बुद्धि तक उस विषय-प्रतिबिम्ब का नाम 'वृत्ति' है। इसका 'चित्तवृत्ति'[१] पद से व्यवहार होता

१. प्रसंगवश अन्यत्र भी इसका उल्लेख किया गया है कि योगशास्त्र में मुख्यरूप से बुद्धि के लिए 'चित्त' पद का प्रयोग हुआ है। बाह्यकरणों से अन्तःकरण प्रशस्त और उसमें भी बुद्धि श्रेष्ठ है। इसी आधार पर उपनिषदों में इसे 'श्रेष्ठ प्राण' कहा है। सामान्यरूप से सभी अन्तःकरणों के लिए सामूहिकरूप में 'चित्त' पद का प्रयोग योगशास्त्र को अभिमत है।

है। चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जो घटादि विषय का उपराग (प्रतिबिम्ब) चित्त तक पहुँचता है, वह वृत्ति 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है। उससे पुरुष को जो बोध होता है, उसका नाम 'प्रत्यक्ष प्रमा' है। प्रत्यक्ष प्रमा का साधन 'चित्तवृत्ति' प्रत्यक्ष प्रमाण है।

चक्षु इन्द्रिय रश्मियों द्वारा विषय देश से सम्बद्ध होकर उस विषय से उपरक्त हो जाता है, परन्तु अन्य रसन, घ्राण, त्वक् आदि इन्द्रियों के गोलकों के समीप आकर विषय उन इन्द्रियों को स्वरूप से उपरक्त करता है। आत्मा को उस विषय का बोध होने तक की अन्य सब प्रक्रिया चाक्षुष विषय के बोध होने के समान है। इस प्रकार रसन इन्द्रिय द्वारा प्रस्तुत रस-विषयक चित्तवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण तथा उससे पुरुष को होनेवाला रसविषयक ज्ञान 'रस-बोध' है, जो 'प्रत्यक्ष प्रमा' है। यही पद्धति अन्य सब इन्द्रियों के विषय में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' और 'प्रत्यक्ष प्रमा' की समझनी चाहिए।

आत्मा को जो विषय का बोध होता है, वह दो प्रकार का है—एक सामान्य, दूसरा विशेष। जो धर्म समानरूप से अनेक पदार्थों में रहता है, उसका उतने-मात्ररूप में ज्ञान होना 'सामान्य ज्ञान' है। किसी एक वस्तु या धर्म का उसके विशेष आकार-प्रकारसहित रंग-रूप आदि का व्यक्तिरूप में जो ज्ञान होता है, वह 'विशेष ज्ञान' कहा जाता है। प्रत्यक्षवृत्ति, सामान्य का ग्रहण करने के साथ-साथ विशेष का ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय से जिस घट आदि पदार्थ को देखा जा रहा है, यह चाक्षुष चित्तवृत्ति घट आदि के विशेष धर्मों को भी अपना ग्राह्यविषय बनाती है। ये विशेष धर्म उस वस्तु को अन्य वस्तुओं से भिन्न सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। तात्पर्य है—कोई भी विशेष धर्म अपने धर्मी के भेद का साधक होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रधानता का यही आधार है कि उसके द्वारा वस्तुतत्त्व का विशेषज्ञान होता है। अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से वस्तु का केवल सामान्यज्ञान हुआ करता है। योगी अपनी चरम अवस्था में पहुँचकर अतीन्द्रिय

एवं अतीत-अनागत सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर सकता है।

अनुमानवृत्ति—जो धर्म समानजातीय धर्मी में आवश्यकरूप से रहता तथा भिन्नजातीय धर्मी में नहीं रहता, ऐसा दृष्टिगत धर्म अपने व्यवहित (दिखाई न देते हुए) धर्मी का बोध करा देता है। ऐसे धर्म को दार्शनिक परिभाषा में 'लिङ्ग' तथा धर्मी को 'लिङ्गी' कहा जाता है। **'लीनं अन्तर्हितं अर्थं गमयति बोधयति इति लिङ्गम्।'** छिपे हुए अर्थ (वस्तुतत्त्व) का बोध करानेवाला धर्म लिङ्ग तथा जो छिपा हुआ अर्थ बोधित हो वह लिङ्गी कहा जाता है। लिङ्ग और लिङ्गी का परस्पर अव्यभिचरित सम्बन्ध होना आवश्यक है।

किसी व्यक्ति को दूर से धुआँ दिखाई देता है। वह जानता है कि धुआँ आग के बिना नहीं हो सकता। सीधी रेखा के रूप में उठता हुआ धुआँ दिखाई देने से वह व्यक्ति जिज्ञासा होने पर छिपी हुई आग का अनुमान कर लेता है। उसका वह ज्ञान यथार्थ होता है। वहाँ पहुँचने पर व्यवधान न रहने से वह आग को प्रत्यक्ष से देख लेता है। पुरुष को जो बोध होता है, वह अनुमिति-प्रमा अर्थात् प्रमाण का फल है तथा लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्ध-ज्ञानपूर्वकलिङ्ग दर्शनरूप चित्तवृत्ति 'अनुमान प्रमाण' है। इस प्रक्रिया से अग्नि का केवल सामान्यज्ञान होता है, अर्थात् अग्नि के सद्भावमात्र का। वह आग किन साधनों से जल रही है, ठीक कितनी दूर फैली है, आकार-प्रकार कितना व कैसा है; इत्यादि विशेषताओं का कोई ज्ञान अनुमान चित्तवृत्ति से नहीं हो पाता।

इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने सामने किन्हीं वस्तुओं (घट-आदि) के उत्पाद-प्रादुर्भाव एवं कालान्तर में उनके विनाश-तिरोभाव को देखता है तथा उसमें कहीं भी किसी व्यतिक्रम व व्यभिचार को नहीं पाता, तो वह इस व्यवस्था को जान लेता है—उत्पन्न होनेवाली वस्तु अवश्य नष्ट हो जाती है। वह उत्पत्तिधर्मक वस्तु के कालान्तर में विनष्ट हो जाने का

अनुमान कर लेता है। अध्यात्म मार्ग पर प्रगतिशील योगी को यह भावना बड़ी सहायक सिद्ध होती है। वह जगत् की नश्वरता व अस्थिरता का अनुमान कर उधर से अपनी चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए निरन्तर प्रयत्नशील बना रहता है एवं योगमार्ग को निर्बाध बनाता है।

आगमवृत्ति—जब व्यक्ति प्रत्यक्ष या अनुमान से किसी वस्तु को जान लेता है और उसका वह ज्ञान यथार्थ होता है, तब उस जानकारी के विषय में उस व्यक्ति को 'आप्त' माना जाता है। 'आप्त' पद का साधारण अर्थ है- वस्तु का यथार्थ ज्ञाता। ऐसा आप्त व्यक्ति जब अपने जाने हुए अर्थ का अन्य व्यक्ति को बोध कराने के लिए उपदेश देता है, अर्थात् उस जानकारी का उपयुक्त शब्दों द्वारा-अन्य व्यक्ति को बोध कराने की भावना से कथन करता है, तब उसे 'आगम प्रमाण' कहा जाता है। इसी को 'शब्द प्रमाण' कहते हैं। इसमें श्रोता को जो वस्तु का बोध होता है, वह 'आगम प्रमा' तथा वक्ता की कथनपूर्वक वह चित्तवृत्ति 'आगम प्रमाण' है।

पाँच वर्गों में उभरनेवाली चित्तवृत्ति का एक वर्ग 'प्रमाण' नामक है, जो पूर्वोक्त तीन प्रकारों में विभक्त है-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। अन्य 'अक्लिष्ट' चित्तवृत्तियों के समान 'आगमवृत्ति' भी योगी के मार्ग को निर्बाध एवं प्रशस्त बनाती है। गुरु के आध्यात्मिक उपदेशों तथा अध्यात्मसम्बन्धी स्वाध्याय के रूप में इसका अनुकूल उपयोग होता है। आचार्यों ने बताया है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय के अनन्तर योग एवं योग के अनन्तर स्वाध्याय के अनुष्ठान करते रहने से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। आत्मज्ञान होने में योगाभ्यास और स्वाध्याय परम साधन हैं। आगम प्रमाण के विषय में यह आवश्यक है कि उसका मूलप्रवक्ता पूर्ण आप्त होना चाहिए। अश्रद्धेय अर्थ का प्रवक्ता

न आप्त है और न उसका कहा वाक्य 'आगम प्रमाण' है ॥७॥

क्रमप्राप्ति विपर्यय वृत्ति का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

[**विपर्ययः**] विपर्यय है [**मिथ्याज्ञानम्**] मिथ्याज्ञान, जो [**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**] उसके (वस्तुतत्त्व के) रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता।

मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं। मिथ्याज्ञान वह चित्तवृत्ति है, जो पुरोवर्त्ती वस्तुतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होती। अन्धकार आदि दोष के कारण पुरोवर्ती रस्सी को साँप समझना मिथ्याज्ञान है। साँपविषयक चित्तवृत्ति पुरोवर्त्ती वस्तुतत्त्व–रस्सी के रूप में व्यवस्थित (प्रतिष्ठित–संगत) नहीं है। अतः यह चित्तवृत्ति प्रस्तुतशास्त्र में 'विपर्यय' नाम से जानी जाती है। इसी प्रकार सीप में चाँदीविषयक चित्तवृत्ति, बालुकणों में जलविषयक, देह तथा इन्द्रिय आदि में आत्मविषयक चित्तवृत्ति का नाम 'विपर्यय' है।

रज्जु को सर्प तथा सीप को चाँदी समझकर जैसे उधर निवृत्ति या प्रवृत्ति किसी अनुकूल फल की साधन नहीं होतीं, इसी प्रकार देह–इन्द्रिय आदि को आत्मा समझकर आत्मबुद्धि से उन्हीं (देह–इन्द्रिय आदि) की तुष्टि में लगे रहना, न केवल अध्यात्ममार्ग में किसी वाञ्छनीय फल के अनुकूल या फल का साधक नहीं है, प्रत्युत ऐसी चित्तवृत्ति योगमार्ग में प्रबल बाधक रहती है। अतः योगाभ्यासी के लिए ऐसी चित्तवृत्ति का निरोध अपेक्षित होने के कारण उसका विवरण प्रस्तुत किया गया है।

मिथ्याज्ञान और यथार्थज्ञान दोनों का साधन एक होता है। सीप को चाँदी चक्षु से देखा जाता है और चक्षु से ही सीप को सीप देखा जाता है। पहला मिथ्या ज्ञान तथा दूसरा यथार्थज्ञान है। इसमें वस्तु अपने यथार्थरूप में दीखती है। इसे 'तत्प्रतिष्ठ'

कहा जाता है। यह प्रमाणरूप चित्तवृत्ति है, जिसका वर्णन गतसूत्र में किया गया जो इससे विपरीत 'अतत्प्रतिष्ठ' है, वह विपर्यय है। ऐसी चित्तवृत्ति को सब अनर्थों का मूल माना गया है। इस विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान का उदय हो जाने पर होता है। सीप में चाँदी का ज्ञान तभी तक रहता है, जब तक सीप में सीप का ज्ञान न हो। ऐसा हो जाने पर चाँदी का ज्ञान नष्ट हो जाता है। ऐसे ही जब तक व्यक्ति देह-इन्द्रिय आदि जड़ एवं परिणामी तत्त्वों को आत्मा समझता है, तब तक वह मिथ्याज्ञान में डूबा रहता है। उसी से व्यक्ति को उबारने के लिए यह योग-विद्या का उपदेश है।

वस्तुतत्त्व का अपने रूप से भिन्नरूप में दीखना किन्हीं दोषों के कारण होता है। वे दोष कभी साधन-(इन्द्रियादि) गत होते हैं, कभी विषय एवं संस्कारगत। पीलिया के रोगी को सफेद शंख पीला दिखाई देता है, यह इन्द्रिय-दोष है। दूर-स्थित वस्तु कुछ-की-कुछ दिखाई दे जाती है तथा अन्धकार में समीप स्थित वस्तु भी ठीक नहीं दिखाई देती, यह विषयगत दोष है। कभी भय, लोभ आदि के संस्कार रज्जु में सर्प तथा सीप में चाँदी-दर्शन के कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार देह आदि में आत्मज्ञानरूप मिथ्याज्ञान का कारण 'अविवेक' दोष है। वह प्रकृतिपुरुष के अथवा चेतन-अचेतन के विवेक-ज्ञान से दूर हो जाता है।

संशयात्मक चित्तवृत्ति को विपर्यय के अन्तर्गत समझना चाहिए, क्योंकि इसमें वस्तु का यथार्थज्ञान नहीं होता। 'यह सीप है या चाँदी?' इस प्रकार का संशयात्मकज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है। यद्यपि संशयज्ञान द्विकोटिक तथा मिथ्याज्ञान व तत्त्वज्ञान एककोटिक होते हैं तथापि एककोटिक मिथ्याज्ञान पुरोवर्ती वस्तु में जैसे 'अतत्प्रतिष्ठ' है, ऐसे ही संशयात्मकज्ञान भी। इसी समानता से संशय को विपर्यय के अन्तर्गत समझना चाहिए। विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान का अन्य एक नाम 'अविद्या' है।

सूत्रकार ने स्वयं आगे [२।३ में] अविद्या के स्वरूप का निरूपण किया है। उसके पाँच पर्व (भाग) बताये–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। इनका विवरण सूत्रकार ने उसी प्रसंग में प्रस्तुत किया है। शास्त्रीय परिभाषा में इन्हीं का नाम यथाक्रम तम, महामोह तामिस्र एवं अन्धतामिस्र है॥८॥

आचार्य सूत्रकार ने क्रमप्राप्त 'विकल्प' नामक चित्तवृत्ति स्वरूप बताया–

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥९॥

[शब्दज्ञानानुपाती] शब्द और शब्दज्ञान के अनुसार उभरनेवाली चित्तवृत्ति का नाम–**[वस्तुशून्यः]** यदि वह विषयगत वस्तु से शून्य हो, तो–**[विकल्पः]** विकल्प है।

किसी शब्द के उच्चारण और उससे होनेवाले शाब्दज्ञान के अनुसार उसके (शब्द व शाब्दज्ञान के) प्रभाव से सुननेवाले व्यक्ति के चित्त में उभरनेवाली वृत्ति को 'विकल्प' कहते हैं परन्तु जिस आधार (विषय) के सहारे वह शब्द या शब्दसमूह कहा गया है, उसका सदा ही वहाँ अभाव होना आवश्यक है। वाच्य रूप से आधारित विषय वस्तुतत्त्वरूप में वहाँ कभी न रहने पर भी तद्विषयक उच्चरित शब्द और उससे होनेवाले ज्ञान के प्रभाव से श्रोता के चित्त में एक वृत्ति का उद्‌भव हो जाता है। यह व्यवहार साधारणरूप से लोक में बराबर होता रहता है।

जैसे एक व्यक्ति ने कहा–'पानी से मेरा हाथ जल गया।' वस्तुतः पानी से हाथ कभी नहीं जलता, प्रत्युत पानी के साथ संश्लिष्ट अग्नि से हाथ जलता है। पानी में जलाने के सामर्थ्य का सदा सर्वथा अभाव रहता है। जलाने के सामर्थ्यरूप वस्तु-सत्ता से पानी सर्वथा शून्य है। फिर भी कहने-सुननेवाले दोनों उन्हीं शब्दों को बोलते-सुनते और उनसे उक्त अर्थ को समझते हैं। चित्तवृत्ति के अनुसार पुरुष को उसी प्रकार का बोध होता है।

ऐसी चित्तवृत्ति को प्रस्तुत शास्त्र में 'विकल्प' नाम दिया गया है। इसका प्रमाणवृत्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाणवृत्ति यथार्थज्ञान है। विकल्पवृत्ति यथार्थज्ञान नहीं है, क्योंकि यहाँ वृत्ति की आधारित वस्तु के सर्वथा शून्य (अभाव) होने पर वृत्ति का उद्‌भावन होता है, जबकि प्रमाणवृत्ति में सर्वत्र विषय वस्तु का सद्‌भाव आवश्यक है। विकल्प-वृत्ति का अन्तर्भाव विपर्यय नामक चित्तवृत्ति में भी नहीं हो सकता। क्योंकि विपर्यय नामक चित्तवृत्ति का अस्तित्व तभी तक रहता है, जब तक सीप में चाँदी का भ्रम बना रहे, परन्तु सीप को सीप जान लेने पर 'विपर्यय' वृत्ति का अवसान हो जाता है। उस अवस्था में ज्ञाता यही कहता है कि यह चाँदी नहीं है, यह सीप है।' यह चित्तवृत्ति प्रमाणरूप है, विपर्यय नहीं। परन्तु विकल्पवृत्ति में विपर्यय के समान प्रतीति कभी नहीं होती, यह जान लेने पर भी कि स्वभावत: पानी में जलाने का सामर्थ्य नहीं है, इस तथ्य का विवेकी व्यक्ति भी यही व्यवहार करता है-'पानी से हाथ जल गया।' वह 'आग से हाथ जल गया' ऐसा तभी कहेगा, जब उसका हाथ सीधे दहकते कोयला या अंगारे अथवा आग की लपट आदि से जला हो। तपे या खौलते पानी से जलने पर वह सदा यही कहेगा कि 'पानी से हाथ जल गया।' यद्यपि वह जानता है कि पानी का स्वभाव शीतल है, वह कभी जला नहीं सकता। अत: विपर्यय वृत्ति में अन्तर्भाव न होने से 'विकल्प' नामक एक स्वतन्त्र चित्तवृत्ति है।

इस तरह की वृत्ति के उभरने में आधारभूत रहस्य क्या है? यह समझना चाहिए। लोकव्यवहार में यह स्वीकार किया जाता है कि अनेक बार व्यक्ति अभिन्न वस्तु में भेद की कल्पना कर तथा भिन्न वस्तुओं में अभेद की कल्पना कर व्यवहार किया करता है। जहाँ अभेद में भेद की कल्पना है, वहाँ भेद का वस्तुत: सर्वथा अभाव है, ऐसे ही भेद में अभेद की कल्पना के अवसर पर अभेद का सर्वथा अभाव है। अभाव होने पर भी

व्यवहार में भेद में अभेद को और अभेद में भेद को अभिव्यक्त करता है। भेद-अभेद का आभास 'विकल्प' वृत्ति का आधार है।

अभेद में भेद व्यवहार का शास्त्रीय उदाहरण दिया जाता है **'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'**। पुरुष का स्वरूप चैतन्य है। भेदव्यवहार सदा विशेष्यविशेषण भावमूलक होता है। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग दो के सम्बन्ध का द्योतक है। 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इस प्रयोग में 'पुरुष' विशेष्य और 'चैतन्य' विशेषण है। पुरुष धर्मी में चैतन्य विशेषता का कथन उक्त वाक्य द्वारा किया जाता है। वस्तुत: 'चैतन्य' पुरुष से अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। चैतन्य ही पुरुष है। 'पुरुष' और 'चैतन्य' के अभिन्न होने पर भी भेद की कल्पना से उक्त व्यवहार होता है, जिस भेद का यहाँ सर्वथा अभाव है। भेद से शून्य होने पर भी स्वीकृत व्यवहारमूलक शब्द के प्रभाव से भेद के आभास को अभिव्यक्त करती हुई यह चित्तवृत्ति 'विकल्प' है।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण दिया जाता है-'राहो: शिर:' राहु का सिर। पौराणिक कल्पना के अनुसार दो ग्रह हैं-राहु और केतु। 'केतु' धड़ और 'राहु' सिर माना जाता है। जब कहा जाता है-'राहु का सिर' यहाँ अभेद में भेद की कल्पना है। सिर से अतिरिक्त राहु का कोई अस्तित्व नहीं है, वस्तुत: सिर ही राहु है, तब 'राहु का सिर' यह अभेद में भेदघटित व्यवहार-भेद का अभाव [भेदशून्य] होने पर भी प्रयुक्त शब्द [राहो: शिर:] के प्रभाव से-भेद का आभास अभिव्यक्त करता है। यह 'विकल्प' वृत्ति का उदाहरण है। यह व्यवहार ऐसा ही होता है, जैसा वास्तविक भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में हुआ करता है। जैसे-चैत्र की गाय [चैत्रस्य गौ:] चैत्र भिन्न है, गाय भिन्न है, इसका सम्बन्ध षष्ठी विभक्ति [चैत्रस्य] से प्रकट किया जाता है, यह गाय चैत्र की है। दूसरे शब्दों में कहा जाएगा--गाय-विशिष्ट चैत्र। चैत्र विशेष्य और गाय विशेषण है। गाय विशेषण चैत्र को मैत्र से भिन्न करता है,

जिसकी गाय नहीं है। अभिन्न वस्तु में भेद की कल्पना के आधार पर व्यवहार करने का प्रयोजन है-उस वस्तु तत्त्व का विजातीय पदार्थों से भेद अभिव्यक्त करना। पुरुष केवल चैतन्य है, अन्य कुछ नहीं, केवल सिर एकमात्र राहु है, अन्य कोई समुदाय नहीं।

भिन्न में अभेद की कल्पना का उदाहरण प्रथम 'जल' के रूप में दे दिया गया है-'पानी से हाथ जल गया' इत्यादि। पानी और जलानेवाला धर्मी आग परस्पर सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं। पानी के साथ संश्लिष्ट आग चक्षु द्वारा दृष्ट नहीं होता, पानी स्पष्ट दीखता है। पानी के साथ स्पर्श होने से हाथ जल जाने पर व्यक्ति के द्वारा-परस्पर भिन्न भी पानी और आग में अभेद की कल्पना कर ली जाती है। इसका प्रयोजन है-पानी और आग के अभेद को अभिव्यक्त करना, जिसका वस्तुतः वहाँ सर्वथा अभाव है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति में यही वस्तुशून्यता है, तथा शब्दज्ञानमात्र के प्रभाव से 'पानी द्वारा हाथ जल गया' यह प्रयोग व बोध हुआ करता है।

इसी प्रकार का अन्य उदाहरण दिया जाता है-'तिष्ठति बाणः, स्थास्यति, स्थित इति' बाण ठहरता है, ठहरेगा व ठहर चुका है। यहाँ 'ठहरना' क्रिया है। प्रत्येक क्रिया अपने कर्त्ता के कृतित्व का अर्थात् प्रयत्न का द्योतन करती है। यहाँ 'ठहरना' क्रिया का कर्त्ता बाण है। यह निश्चित है कि बाण में कृतित्व अर्थात् 'प्रयत्न' का सर्वथा अभाव रहता है। प्रयत्न केवल चेतन-धर्म है, बाण उससे शून्य होता है। प्रयत्न-स्वभाव चेतन धर्मी और बाण ये दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं। जिस प्रेरयिता चेतन की प्रेरणा से बाण में प्रयत्नमूलक क्रिया व क्रिया का अभाव (समाप्त कर देना) प्रकट किया जा रहा है, उस चेतन व्यक्ति व बाण के पारस्परिक भेद में अभेद की कल्पना कर, अचेतन बाण में चेतन धर्म का आभास उक्त चित्तवृत्तियों ['स्थास्यति बाणः' इत्यादि] में अभिव्यक्त होता

है। अतः यह विकल्पवृत्ति है। बाण में गति न रहने पर 'तिष्ठति बाणः' इत्यादि प्रयोगों द्वारा केवल धात्वर्थ (ठहरना मात्र) का बोध होता है, क्रिया से द्योत्यमान कृतित्व [=प्रयत्न] रूप किसी अन्वयी धर्म का बाण में होना सिद्ध नहीं होता।

अभिन्न में भेद की कल्पना के अन्य उदाहरण दिये जाते हैं-'निष्क्रियः पुरुषः' तथा 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' इत्यादि। निष्क्रियत्वरूप कोई अन्वयी धर्म पुरुष में रहता हो, ऐसी बात नहीं है। परिणाम आदि क्रिया का अभाव ही पुरुष में द्योतित होता है। तात्पर्य है-क्रियाराहित्य पुरुष का स्वरूप है। यद्यपि इन पदों का प्रयोग परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव को लक्ष्य कर होता है, जो भिन्न पदार्थों में सम्भव है। उक्त पदों में 'निष्क्रिय' विशेषण और 'पुरुष' विशेष्य है। यही स्थिति दूसरे 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' वाक्य में है। 'अनुत्पत्तिधर्मत्व' पुरुष में रहनेवाला कोई अन्वयी धर्म नहीं है, यह केवल पुरुष में उत्पत्ति के अभाव को प्रकट करता है। तात्पर्य है-अनुत्पाद पुरुष का स्वरूप है। विशेषण-विशेष्यभाव में कथन होने से अभिन्न [अनुत्पादस्वरूप] पुरुष में भेद का आभास ['अनुत्पाद' कोई अन्वयी धर्म है, ऐसा आभास] अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार यहाँ भेदरूप वस्तु के न होने पर विशेषण-विशेष्यभावघटित शब्दप्रयोग से भेद झलकता हैं इस प्रकार का समस्त व्यवहार 'विकल्प-चित्तवृत्ति' रूप है। प्रमाण या विपर्यय में इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं॥९॥

क्रमप्राप्त 'निद्रा' वृत्ति का सूत्रकार ने स्वरूप बताया-

अभाव-प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥१०॥

[अभावप्रत्ययालम्बना] अभाव की प्रतीति का आलम्बन-आश्रय करनेवाली **[वृत्तिः]** चित्तवृत्ति **[निद्रा]** 'निद्रा' कही जाती है।

अभाव प्रतीति को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति का नाम निद्रा है। शङ्का है–किसके अभाव की प्रतीति? समाधान है ज्ञान के अभाव की प्रतीति। इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान का उस अवस्था में अभाव रहता है। यह विवरण सुषुप्ति अवस्था का है। जैसे जाग्रत और स्वप्न अवस्था में ऐन्द्रियक ज्ञान होते रहते हैं, ऐसा कोई ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में नहीं होता। तात्पर्य है–'निद्रा' नामक वृत्ति सुषुप्ति अवस्था है। इसको लोक में गाढ़; निद्रा या 'गहरी नींद' कहते हैं। जब व्यक्ति इस निद्रा से जाग उठता है, तो कहता है–**'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिद-वेदिषम्'**। मैं सुखपूर्वक सोया, उस दशा में कुछ नहीं जाना। यह 'कुछ नहीं जानना' बाह्य आन्तर इन्द्रियों से होनेवाली जानकारी के अभाव का द्योतक है। ज्ञानाभाव की प्रतीति भी एक ज्ञान है। यह ज्ञान निद्रा दशा में होता है।

सुषुप्ति अवस्था तमोगुणप्रधान मानी जाती है। उस दशा में आत्मा को होनेवाली निरिन्द्रिय अनुभूति प्रधानभूत तमोगुण के आवरण से ढकी रहती है। तमोगुण आवरण-स्वभाव है। जब तमोगुण के साथ सत्त्व का अंश विद्यमान रहता है, तब निद्रा के अनन्तर जागने पर यह ज्ञान होता है–'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ नहीं जाना।' यह स्मृतिरूप ज्ञान है, जो सुषुप्ति में होनेवाली उक्त अनुभूति का परिचायक है। यदि उस दशा में यह अनुभूति चित्तवृत्ति न होती, तो जागने पर वह स्मृतिरूप ज्ञान होना सम्भव न होता।

निद्रा में सदा पहले जैसी अनुभूति हो, ऐसा नहीं है। उसके विपरीत कभी जागने पर ऐसी स्मृति भी होती है–'तबीयत बड़ी बेचैन जकड़ी हुई-सी है, देह के अंग टूट-से रहे हैं, मन अलसाया हुआ, खोया-खोया सा हो रहा है।' जागने पर ऐसा स्मरण उस अवस्था में होता है, जब सुषुप्ति में प्रधानभूत तमोगुण के साथ रजोगुण का आंशिक उद्रेक हो।

'निद्रा' नामक चित्तवृत्ति 'प्रमाण' आदि चित्तवृत्तियों में से

किसी के साथ मेल नहीं खाती, इसलिए उनसे अतिरिक्त यह स्वतन्त्र चित्तवृत्ति है। शास्त्रों में सुषुप्ति अवस्था को समाधि एवं मोक्ष अवस्था के समान दर्जा दिया गया है, फिर भी इस वृत्ति का निरोध इस कारण आवश्यक है कि यह तमोगुण प्रधान रहती है, समाधि सत्त्वप्रधान है। चित्तवृत्ति का दौर सम्प्रज्ञात [सबीज] समाधि तक रहता है। असम्प्रज्ञात [निर्बीज] समाधि में चित्तवृत्तियों का दौर समाप्त हो चुका होता है। प्रलय अवस्था में आत्मा के साथ चित्त नहीं रहता, त्रिगुणात्मक चित्त का लय अपने कारणों में हो जाता है। मोक्ष दशा में आत्मा अपने चिद्रूप में स्वतः प्रकाशित रहता है, जो समाधिजन्य आत्मसाक्षात्कार का फल है। उसी निज सामर्थ्य से ब्रह्मानन्द का अनुभव किया करता है। उस दशा में किसी प्रकार के त्रिगुणात्मक चित्त इन्द्रिय आदि का सम्पर्क आत्मा के साथ नहीं रहता।

यह प्रसंग प्रमाण आदि वृत्तियों का स्वरूप बताने के लिए चालू है। इसी कारण प्रमाण, विपर्यय, विकल्प वृत्तियों के लक्षण–सूत्रों में 'वृत्ति' पद का निर्देश नहीं किया गया। अन्तिम वृत्ति 'स्मृति' के लक्षण में भी यह पद पठित नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार द्वारा पठित 'वृत्ति' पद इस तथ्य को बलपूर्वक प्रकट करता है, 'निद्रा' को अतिरिक्त स्वतन्त्र चित्तवृत्ति मानना आवश्यक है, जिसकी कतिपय प्राचीन आचार्यों ने उपेक्षा की है। निद्रा निश्चितरूप से एक प्रकार की चित्तवृत्ति है, उस दशा में चित्त बराबर सक्रिय रहता है। इन्द्रियाँ सक्रिय नहीं रहतीं। मोक्ष व समाधि के साथ सुषुप्ति की समता का यही आधार है ॥१०॥

क्रमप्राप्त 'स्मृति' नामक चित्तवृत्ति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

[**अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः**=अनुभूत–विषय–असम्प्रमोषः]

पहले अनुभव किये हुए विषय का फिर उभर आना [स्मृतिः] 'स्मृति' नामक चित्तवृत्ति है।

सूत्र के 'असम्प्रमोषः' पद में 'मुष्' धातु का प्रयोग है, जिसका अर्थ धातुपाठ 'स्तेय-चोरी करना, निर्देश किया गया है। अपने अधिकार की किसी वस्तु का अवैधानिकरूप से उठा लिया जाना, अथवा दूर कर दिया जाना। इस पद में 'सम्' और 'प्र' दो उपसर्ग हैं, जो धात्वर्थ की उग्रता को अभिव्यक्त करते हैं। एक अधिकार से वस्तु का नितान्त अनधिकृत रूप में चले जाना। 'सम्प्रमोष' पद का 'नञ्' के साथ समास कर 'असम्प्रमोष' पद से पूर्वोक्त अर्थ के पूर्ण विपरीत अर्थ का अभिव्यंजन किया गया है। किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत विषय का उसके ज्ञान के रूप में पूर्णतया उस व्यक्ति के अधिकार में रहना। विषय की अनुभूति के अनन्तर अनुभवजन्य संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त उपस्थित होने पर संस्कार उभर आते हैं, जो उस विषय को याद करा देते हैं। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'स्मृति' है। अनुभूति के समान संस्कार होते हैं और संस्कारों के सदृश 'स्मृति' हुआ करती है। स्मृति का विषय सदा वही होता है, जो अनुभव का विषय रहा हो। बिना अनुभव किये का स्मरण नहीं होता। कभी किसी संस्कार के न रहने से, निमित्तिवश नष्ट हो जाने से भी उस विषय का फिर स्मरण नहीं हो पाता।

पूर्वानुभूत विषय कभी-कभी स्मृति में उलट-पुलट जाते हैं। स्वप्न एक ऐसी ही स्मृति है। स्वप्न में अनेक स्मृतियाँ अनुभव के समान रहती हैं, पर कभी-कभी पूर्वानुभूत विषय स्वप्न में निद्रादि दोष के कारण उलटे-पुलटे दिखाई दे जाते हैं। सर्वथा अननुभूत विषय का जाग्रत के समान स्वप्न में भी कभी स्मरण नहीं होता। जो जन्मान्ध व्यक्ति हैं, उनको रूप या रूपवाली वस्तु का स्वप्न नहीं आता। प्रमाण आदि वृत्तियों द्वारा हुए अनुभवों से ही स्मृति होती है, अतः स्मृति वृत्ति का निर्देश

सबके अन्त में किया गया है।

किसी विषय का अनुभव करते समय वह विषय और उसका ज्ञान दोनों भासते हैं। सामने घट आदि पदार्थ को देखकर जो 'घटं पश्यामि-घड़े को देख-रहा हूँ, प्रतीति होती है, इसमें विषय घट और उसका ज्ञान दोनों भासमान-प्रकाशित रहते हैं। इसी के अनुसार संस्कार बनते हैं और संस्कारों के अनुरूप स्मृति होती है। इस प्रकार स्मृति में विषय और उसका ज्ञान दोनों उभर आते हैं। स्मरण के समय घटज्ञान के समान घट के आकार-प्रकार रूप-रंग आदि भी सामने दिखाई-से पड़ते हैं। जिस स्थिति में प्रथम घट का अनुभव किया गया है, वह सब स्थिति सामने आ जाती है।

वृत्तियों का निरोध—समस्त वृत्तियाँ त्रिगुणात्मक होने से त्याज्य हैं। त्रिगुण सुख-दुःख-मोहस्वरूप हैं। आत्मा अत्रिगुण अर्थात् त्रिगुणातीत है। सुखादिस्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्पर्क में आत्मा, राग, द्वेष, अविद्या आदि क्लेशों से त्रस्त रहता है। उससे छुटकारा पाने के लिए समस्त वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। सुखात्मक वृत्तियाँ सुख-साधनों में राग को उत्पन्न करती हैं। उसमें बाधा उत्पन्न करनेवालों के प्रति द्वेष की भावना जागृत हो जाती है। राग-द्वेष क्लेश के मूल हैं। ये सब मोह अर्थात् अविद्या के कारण उभरते हैं। इन सब क्लेशमूलों की वृत्तियों का निरोध, आत्मा को क्लेशों से दूर रखने में उपयोगी होता है।

अध्यात्म वृत्ति—अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होना भी चित्तवृत्तियों का क्षेत्र है। परन्तु ये चित्तवृत्तियाँ शुद्ध सात्त्विक होने से राग-द्वेष आदि को उत्पन्न न कर योग अर्थात् समाधि दशा की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अग्रसर करती हैं, इसलिए समाधि के विरोधी न होने से इन वृत्तियों का निरोध किसी रूप में अपेक्षित नहीं। समाधि की अन्तिम दशा में इन वृत्तियों का प्रवृत्त होना समाप्त हो जाता है। तब योगी स्वरूप साक्षात्कार के साथ ब्रह्मानन्द का

अनुभव करता है। प्रकृति सम्पर्क नितान्त टूट जाता है, आत्मा के साथ चित्त या चित्तवृत्तियों के सम्बन्ध का कोई अवसर नहीं रहता ॥११॥

प्रारम्भिक दूसरे सूत्र में 'वृत्तिनिरोध:' पद का निर्देश है। उसके 'वृत्ति' पद का विवरण आचार्य सूत्रकार ने पाँचवें सूत्र से प्रारम्भ कर ग्यारहवें सूत्र तक प्रस्तुत किया। अब दूसरे पद 'निरोध' का विवरण सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥१२॥

[अभ्यास-वैराग्याभ्याम्] अभ्यास और वैराग्य के द्वारा **[तन्निरोधः=तत्निरोधः]** उनका (चित्तवृत्तियों का) निरोध किया जाता है।

'तन्निरोध:' पद में 'तत्' सर्वनाम वृत्तियों का बोधक है। वृत्तियों के निरोध का उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। ये दोनों मिलकर वृत्तियों का निरोध करने में समर्थ होते हैं।

आत्मा का साथी चित्त एक ऐसी नदी के समान है, जिसमें अनादि काल से वृत्तियों का अनवरत प्रवाह चालू है। चित्त-नदी के धाराप्रवाह की दो दिशा हैं। एक-प्राकृतिक विषयों के मार्ग से बहती हुई अज्ञानान्धकारमय संसार-सागर में मिल जाया करती है। देसरी-विवेकमार्ग से बहती हुई आत्म-साक्षात्काररूप प्रकाशमय कल्याण-सागर (ब्रह्मानन्द उदधि) में जा मिलती है। इन दो धाराओं के कारण हैं—व्यक्ति के पूर्वजन्मों में सञ्चित प्रबल दुष्कृत एवं सुकृत कर्म। जिन व्यक्तियों ने पूर्वजन्मों में अपनी प्रवृत्तियों के प्रवाह को निरन्तर विषयों में सीमित रखा है, ऐसे संसारी जनों की पूर्वोक्त चित्तनदी धारा जन्म से ही खुली रहती है। परन्तु जिन व्यक्तियों ने पूर्वजन्म में अध्यात्ममार्ग पर चलने का प्रयास किया है, उनके प्रबल अनुकूल संस्कारों के कारण चालू जीवन में सद्गुरु के उपदेश, अध्यात्मशास्त्र, प्रभु-चिन्तन आदि उस धारा को खोलते हैं।

विषयों के स्रोत पर जब वैराग्य का बाँध लगा दिया जाता है, तब स्वभावतः साधन न रहने से वे स्रोत सूख जाते हैं। विषयों को भोगने से अर्थात् विषयों में फँसे रहने से विषयों की ओर से कभी प्राणी को तृप्ति प्राप्त नहीं होती। विषयों की ओर विरक्ति ही उनके स्रोत को सुखाती है। इस प्रकार विषयस्रोतों पर वैराग्य का बाँध लगाकर निरन्तर दृढ़ता के साथ अभ्यासरूपी फावड़े से अध्यात्ममार्ग को गहरा खोदकर समस्त चित्तवृत्तियों के प्रवाह को उसमें डाल दिया जाता है यह दूसरी धारा है, जो ब्रह्मानन्दरूप कल्याण–उदधि में जाकर लीन हो जाती है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर पारस्परिक सहयोग से चित्तवृत्तिनिरोध के प्रबल साधन हैं। जैसे पक्षी दोनों पंखों के सहारे आकाश में उड़ता और अनुकूल अभिमत को प्राप्त करता है, ऐसे ही अध्यात्म मार्ग का यात्री अभ्यास–वैराग्य द्वारा अपने अभीष्ट को पाता है।

वस्तुतः यह चंचल चित्त अपनी वृत्तियों में रमण के मार्ग पर अग्रसर हुआ सरलता से वश में नहीं आता। इन स्थितियों से त्रस्त एवं खिन्न जिज्ञासु के प्रतीकरूप में उपस्थित अर्जुन ने महायोगेश्वर कृष्ण से कहा–

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

गीता ६।३४॥

हे कृष्ण! आपने जिस योग का मुझे उपदेश किया है, उसका स्थिर रहना मुझे दिखाई नहीं देता, क्योंकि यह मन (चित्त) चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है, वायु के समान अर्थात् जैसे हवा को गठरी में नहीं बाँधा जा सकता, ऐसे ही मन के निग्रह को मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।

महयोगी कृष्ण ने अपने अनुभव के आधार पर जिज्ञासु अर्जुन को यथार्थ से समझाया–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

गीता ६।३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

गीता ६।३६॥

हे महाबाहु (शक्तिशाली) अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और उसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु हे कौन्तेय! (कुन्ती के पुत्र, कुन्ती माँ के जाये!) अभ्यास और वैराग्य से उस चञ्चल मन को भी अपने वश में किया जा सकता है॥३५॥

यह मेरा निश्चय है, जिसका अन्तःकरण वश में नहीं, उसके लिए योग की प्राप्ति होना कठिन है। परन्तु अन्तःकरण को वश में प्रयत्नपूर्वक उचित उपाय द्वारा इस योग का प्राप्त होना शक्य है॥३६॥

योगेश्वर कृष्ण के इस कथन में कुछ बात विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात है-कृष्ण ने अर्जुन के कथन की सीधे काट नहीं की, प्रत्युत उसके कथन को संशयरहित बताकर उसे सान्त्वना दी और साथ ही कहा-ऐसा नहीं कि इसका निग्रह किया ही न जा सके। अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा निश्चयपूर्वक इसका निग्रह किया जा सकता है। दूसरी बात-अर्जुन के लिए प्रयुक्त सम्बोधन पदों की है। यहाँ 'महाबाहो' और 'कौन्तेय' दो सम्बोधन पद हैं। मन को वश में करना जहाँ वायु को गठरी में बाँधने के समान कठिन कहा, उससे कदाचित् अर्जुन घबड़ा जाय, और चिन्तित हो जाय कि इतना कठिन कार्य मुझसे होना सम्भव नहीं, इसे दूर करने के लिए अर्जुन को 'महाबाहो' सम्बोधन द्वारा सतर्क किया-यदि मन दुर्निग्रह है, तो तुम भी महाबाहु हो, महाशक्तिशाली हो, मन के हठीलेपन को देखकर अपने अन्दर हीनभावना मत आने दो,

निश्चय ही तुम उस पर प्रभावी हो सकते हो।

जब किसी चिन्तित व विचलित व्यक्ति को प्रोत्साहित करना होता है, तो उसकी माँ की याद दिलाकर उसे प्रोत्साहित किया जाता है। जब अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए कोई व्यक्ति किसी दूसरे को चुनौती देता है, तो उसके मुँह से सुना जाता है–'है कोई माई का लाल, जो मेरे सामने आये? ऐसे व्यवहार से मातृशक्तिजन्य ओजस्विता को उभारना होता है। इसी भावना में कृष्ण ने प्रस्तुत प्रसंग में अर्जुन को 'कौन्तेय' सम्बोधन से पुकारा। तुम कुन्ती माता के जाये हो, मन की कठिन वश्यता से तुम्हें किसी प्रकार विचलित नहीं होना चाहिए। इस कठिन कार्य को भी तुम उचित उपाय द्वारा अनायास कर सकोगे, यह विश्वास रखो।

अर्जुन के रूप में प्रत्येक अध्यात्म के जिज्ञासु को कृष्ण ने प्रोत्साहित किया है। यद्यपि यह मार्ग कठिन है। कठ–उपनिषद् [१।३।१४] में इसी को **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'** कहा है। पर प्रत्येक इस मार्ग के यात्री को योगेश्वर कृष्ण ने प्रस्तुत प्रसंग द्वारा प्रोत्साहित किया है। इसकी कठिनता को देखकर इससे घबराने और विचलित होने की आवश्यकता नहीं। अभ्यास और वैराग्यरूप उचित उपायों द्वारा इस दुर्ग को अवश्य जीता जा सकता है॥१२॥

गतसूत्र में आचार्य में चित्तवृत्तिनिरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य को उपाय बताया। उनमें अभ्यास के स्वरूप को सूत्रकार बताता है–

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥१३॥

[तत्र] उन (अभ्यास और वैराग्य दोनों में से (चित्त की) **[स्थितौ]** स्थिति के लिए (स्थिति के विषय में जो) **[यत्नः]** प्रयत्न (किया जाता है, वह) **[अभ्यासः]** अभ्यास है।

अभ्यास और वैराग्य इन दोनों में से अभ्यास वह साधन

है, जो चित्त की स्थिरता के लिए निरन्तर प्रयत्न करना है।

विषयों में आकृष्ट एवं रमण करता हुआ चित्त सदा चञ्चल बना रहता है। इस दशा में वृत्तियाँ रजोगुण एवं तमोगुण से प्रभावित रहती हैं। जब चित्त में सत्त्वगुण का उभार होता है, तब चित्त की चञ्चलता दूर होकर प्रशान्त अध्यात्म की एकमात्र धारा प्रवाहि रहती है। इसी का नाम 'स्थिति' है, चित्त की एकाग्रता। इस स्थिति को बनाये रखने के लिए दृढ़ इच्छा के साथ जो निरन्तर प्रयत्न करते रहना है, उसी का नाम 'अभ्यास' है। यहाँ प्रयत्न, का तात्पर्य यही है, उस स्थिति के सम्पादन में सदा उत्साह बना रहे, कभी उसमें शिथिलता न आने पाये।

योग के यम-नियम आदि बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग[१] साधनों का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते रहना इसका रहस्य है।

चित्त स्वभाव से बाह्य विषयों की ओर भागता है। अध्यात्म मार्ग का यात्री पूर्ण श्रद्धा और प्रबल उत्साह के साथ अपनी भावनाओं को इस रूप में जागृत रखे कि मैं अपने चित्त को विषयों की ओर आसक्ति से रोकूँगा इन भावनाओं में कभी शिथिलता न आने दे।

सूत्र के 'स्थितौ' पद में सप्तमी निमित्त अर्थ को प्रकट करती है। जैसे-**'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्'** इस वाक्य में 'चर्मणि' सप्तमी विभक्ति का एकवचन और 'दन्तयो:' यह सप्तमी विभक्ति का द्विवचन है। यहाँ सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में है। द्वीपी गैंडे को और कुञ्जर हाथी को कहते हैं। अर्थ हुआ-चर्म के निमित्त अर्थात् चमड़े के लिए गैंडे को और दाँतों के लिए हाथी को मारा जाता है। इसी प्रकार चित्त की स्थिति के लिए प्रयत्न करना 'अभ्यास' है, यह

---

१. योगसिद्धि के लिए शास्त्र में साधनभूत आठ अंग बताये हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग तथा धारणा, ध्यान, समाधि तीन अन्तरङ्ग।

सूत्रार्थ स्पष्ट होता है। चित्त का स्थिर करना, अभ्यास का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रकार सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से 'अभ्यास के लक्षण और प्रयोजन का निर्देश किया॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अनादि काल से चले आ रहे संस्कार चित्त की स्थिरता के नितान्त विरोधी हैं। चित्तस्थिति के निमित्त अभ्यास को वे संस्कार टिकने कहाँ देंगे। आचार्य सूत्रकार ने उसका उपाय बताया–

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥१४॥

[**सः**] वह अभ्यास [**तु**] परन्तु [**दीर्घकाल–नैरन्तर्य–सत्कार–आसेवितः**] दीर्घकाल, निरन्तर लगातार और सत्कार–श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित हुआ [**दृढभूमिः**] दृढ़ आधार वाला हो जाता है।

यह ठीक है–अनादिकाल से सञ्चित कर्मराशि के उभरते हुए तीव्र संस्कार अभ्यास की जड़ जमने नहीं देते, परन्तु जब दीर्घकाल तक अभ्यास का आसेवन–अनुष्ठान किया जाता है तो संस्कार उसे अनायास नहीं दबा पाते। फिर भी दीर्घकाल के अभ्यास में यह भी आवश्यक है कि अन्तराल में उसका कभी विच्छेद न होने पाये। दीर्घकाल तक वह अभ्यास निरन्तर होता रहना चाहिए। बीच-बीच में उसके अवकाश न हों, ऐसा न हो कि अभ्यास किया तो जीवनपर्यन्त, किन्तु महीनाभर किया फिर पन्द्रह–बीस दिन छोड़ दिया, फिर महीना किया, फिर कुछ समय के लिए छोड़ दिया। दीर्घकाल तक भी कभी-कभी किया अभ्यास अपनी जड़ नहीं जमा पाता। अन्तराल काल में उभरते रहनेवाले व्युत्थान संस्कार थोड़ी–बहुत पनपती अभ्यास की जड़ को झकझोर डालते हैं, तब वह सिसकने लगता है। इसलिए दीर्घकाल तक सेवन किये जाते अभ्यास के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह निरन्तर किया जाता रहे, उसमें कभी अवकाश न हो। इन दोनों के साथ तीसरी बात यह भी

आवश्यक है कि आदर-श्रद्धापूर्वक, पूर्ण निष्ठा के साथ उसका अनुष्ठान किया जाय। यदि अभ्यास में आदर व श्रद्धा योगमार्गी की न हो, वह केवल दिखावे के लिए किया जाय कि लोग उसे योगी-महात्मा समझें, तो ऐसा अभ्यास कभी सफल नहीं होता। निष्ठा के अभाव में अभ्यास की उपेक्षा यदा-कदा अवश्य सम्भव है, तब नैरन्तर्य की अवस्था भी नहीं रह सकती। जब स्वयं अनुष्ठाता की अभ्यास में निष्ठा नहीं, तो अभ्यास में दृढ़ता आयेगी कैसे? वह तो मिथ्या आचार[१] ही कहा जायगा। इसलिए अभ्यास को दृढ़भूमि बनाने के लिए अभ्यास में इन तीनों बातों का होना आवश्यक है। तब व्युत्थान के संस्कार अभ्यास में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल पाते। ऐसा अभ्यास चित्तवृत्तियों के निरोध में सफल होता है।

सूत्र के समस्त (समासयुक्त) पद के अन्त में पठित 'आसेवित' पद दीर्घकाल, नैरन्तर्य और आदर तीनों पदों के साथ सम्बद्ध समझना चाहिए॥१४॥

अभ्यास का स्वरूप बताकर आचार्य सूत्रकार ने क्रमप्राप्त वैराग्य का स्वरूप बताया—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥१५॥

[दृष्ट-आनुश्रविक-विषयवितृष्णस्य] दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जब चित्त के अन्दर कोई तृष्णा नहीं उभरती उस अवस्था का **[वशीकारसंज्ञा]** वशीकारसंज्ञा नाम है, उसी को **[वैराग्यम्]** वैराग्य कहा जाता है।

विषय दो प्रकार के हैं-एक दृष्ट, दूसरे आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं, जो इस लोक अथवा चालू जीवन में अनुभव किये जाते

---

१. गीता [३।६] में कहा है-
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

हैं, जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि ऐन्द्रियक विषय एवं स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि का समावेश है। आनुश्रविक विषय वे हैं, जिनको शास्त्र के द्वारा जाना जाता है। शास्त्र द्वारा वेद्य विषय भी दो प्रकार के हैं। एक वे हैं, जो देहान्तर की प्राप्ति होने पर जानने अथवा भोगने योग्य हैं और दूसरे वे हैं, जो उसी देह में चित्त की अवस्थान्तरप्राप्ति पर जाने या भोगे जा सकते हैं। पहले स्वर्ग देवलोक वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व[१] आदि हैं। दूसरे हैं—दिव्यगन्ध, रस-रूप आदि[२] तथा विविध प्रकार की सिद्धियाँ[३]। स्वर्ग आदि सुख का ज्ञान व भोग देहान्तर की प्राप्ति पर होता है तथा दिव्यगन्ध आदि विषयों एवं विविध सिद्धिवेद्य विषयों की उपस्थिति चालू देह में ही-चित्त की विशिष्ट अवस्था प्राप्त होने पर हो जाती है।

इन सब प्रकार के दिव्य, अदिव्य और देहान्तर के विषयों की उपस्थिति में जब चित्त समाधिसंवलित ज्ञान के प्रभाव से इन विषयों के दोषों को समझ लेता है और इनमें आसक्त नहीं होता, इनके उपादान एवं परित्याग में उदासीन रहता है, विषयों के उपादान में होनेवाले राग तथा उनके परित्याग में होनेवाले द्वेष दोनों का जब चित्त में अभाव रहता है, तब चित्त अध्यात्म की ओर प्रवृत्त हुआ एकरूप-एकाग्र बना रहता है। चित्त की इसी अवस्था का नाम 'वशीकार-संज्ञा' वैराग्य है।

शास्त्रकारों ने वैराग्य की चार संज्ञा बताई हैं—१. यतमानसंज्ञा, २. व्यतिरेकसंज्ञा, ३. एकेन्द्रियसंज्ञा तथा ४. वशीकारसंज्ञा।

(१) यतमानसंज्ञा—विषयों से आबद्ध व्यक्ति के चित्त में सहसा क्षणमात्र में पूर्ण वैराग्य हो जाने की संभावना नहीं

---

१. विदेह और प्रकृतिलय का विवरण इसी पाद के उन्नीसवें सूत्र में दिया गया है।
२. दिव्यगन्ध आदि विषयों की उपस्थिति का विवरण इसी पाद के पैंतीसवें सूत्र में दिया गया है।
३. सिद्धियों का विवरण प्रस्तुत शास्त्र के 'विभूतिपाद' नामक तृतीयपाद में विस्तारपूर्वक दिया गया है।

रहती। पहले अनुकूल संस्कार, आध्यात्मिक सद्गुरु के उपदेश व शास्त्रों का परिशीलन, विषयभोगों के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले दुःखों का अनुभव आदि की दशा में राग, द्वेषमूलक सांसारिक विषयों की ओर से चित्त में त्रास, एक प्रकार के उद्वेग की भावना उत्पन्न होने लगती है। तब राग–द्वेषपरित्याग के निरन्तर चिन्तन के फलस्वरूप व्यक्ति की प्रवृत्ति धीरे-धीरे विषयों की ओर शिथिल होने लगती है। इस प्रकार जब वैराग्य की दिशा में चलने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है, वैराग्य के इस प्रथम स्तर को अनुभवी आचार्यों ने 'यतमानसंज्ञा' नाम दिया है।

(२) **व्यतिरेकसंज्ञा**—वैराग्य की ओर प्रवृत्त हुए व्यक्ति के चित्त में जब विषयों की ओर रागादि की समाप्ति हो जाती है। अर्थात् चित्त के मल रागादि दोषों के परित्याग-प्रक्षालन की निरन्तर जागरूक तीव्र भावना एवं प्रयत्न से जब ये दोष धुल जाते हैं, तब विषयों में बाह्येन्द्रियों की आसक्तिमूलक प्रवृत्ति नहीं रहती। परन्तु मोह चित्त का प्रबल दोष है, कभी उभरकर व्यथित करता है। तब योगाभ्यासी सोचता है अमुक चित्तमलों को धो डाला है और ये कुछ अभी शेष हैं। इस प्रकार इनके व्यतिरेक—भेद–विशेषता का अवगाहन वैराग्य की जिस दशा में होता है, यह विषयों के प्रति वैराग्य का द्वितीय स्तर है। इसको 'व्यतिरेकसंज्ञा' अन्वर्थ नाम दिया गया है।

(३) **एकेन्द्रियसंज्ञा**—अब चित्त के मल रागादि दोष बाह्य इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त करने के लिए असमर्थ हो गये हैं। परन्तु मन में अभी सूक्ष्मरूप से विद्यमान हैं, जिससे विषयों की उपस्थिति में कभी-कभी चित्त विक्षुब्ध हो उठता है। यह विक्षोभ मनोरूप एक आन्तर इन्द्रिय द्वारा उभरता है, उसके परित्याग व प्रक्षालन की भावना जागृत होना वैराग्य का एकेन्द्रियसंज्ञक तृतीय स्तर है। गीता के कतिपय श्लोकों में वैराग्य की इस अवस्था का दिग्दर्शन इस प्रकार है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥२।५९॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥३।६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥३।७॥

विषयों के प्रति विरक्त हुए व्यक्ति के लिए एक प्रकार से विषय समाप्त हो जाते हैं। इन्द्रियाँ विषयों की ओर आसक्तिपूर्वक आकृष्ट नहीं होतीं। परन्तु कभी विषयों के सान्निध्य में चाहना उभर आती है, वह अभी पूर्णरूप में नहीं छूटी। पर वह भी उस समय नहीं रहती, जब आत्मतत्त्व की जानकारी हो जाती है।

जो व्यक्ति विषयों की ओर से बाह्येन्द्रियों को रोककर भी मन से उन विषयों का स्मरण करता है, वह झूठा आचरण करनेवाला दम्भी कहा जाता है। परन्तु हे अर्जुन! वह व्यक्ति श्रेष्ठ है, जो मन के साथ सब इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोककर अनासक्तिपूर्वक बाह्येन्द्रियों से 'कर्मयोग' का आरम्भ करता है, अर्थात् जीवन को यथायथ चालू रखने के लिए इन्द्रिय विषयों का उपयोग करता है, परन्तु उनमें नितान्त भी आसक्त नहीं होता।

इन श्लोकों में मनसहित इन्द्रियों का विषयों के प्रति अनासक्ति एवं विरक्ति की भावना का निर्देश है, जो वैराग्य के तृतीय स्तर के साथ मेल खाता है।

(४) वशीकारसंज्ञा—जब चित्त के मलरागादि दोष सूक्ष्मरूप से भी चित्त में नहीं रहते तथा दिव्य-अदिव्य आदि विषयों की उपस्थिति में भी रागादि दोषों के न रहने से चित्त उधर आकृष्ट नहीं होता, प्रत्युत उनकी ओर सर्वथा उदासीन रहता है, यह उक्त तीनों स्तरों से ऊँचे स्तर का 'वशीकारसंज्ञा' नामक वैराग्य है। गीता में स्थितिप्रज्ञ व्यक्ति का जो विवरण प्रस्तुत किया गया

है, वह वैराग्य के वशीकारसंज्ञक स्तर से मेल खाता है।[१] इस दशा में इन्द्रियों सहित चित्त योगी के वश में होता है, योगी को ये विषयों की ओर आकृष्ट नहीं कर पाते। प्रस्तुत वैराग्य के उक्त नामकरण का यही आधार है। वैराग्य के प्रारम्भिक अन्य स्तर वृत्तियों के निरोध में साक्षात् साधन नहीं होते, अतः सूत्रकार ने सूत्र में इसी वैराग्य का निर्देश किया है, परन्तु वैराग्य के इस स्तर तक पहुँचने में स्वभावतः पहली सीढ़ियाँ अन्तराल में पार की जाती हैं। दुर्दान्त इन्द्रिय-समूह विषयों के साथ सम्बद्ध होकर चित्त को आकृष्ट किया करता है, धीरे-धीरे ही इसे साधा जाना सम्भव है।

अग्रिम सूत्र में 'परवैराग्य' के विवरण से स्पष्ट होता है-प्रस्तुत सूत्र में जिस वैराग्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है वह 'अपर-वैराग्य' की कोटि में आता है। इस दशा में योगाभ्यासी 'सम्प्रज्ञात' समाधि को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था चेतनस्वरूप पुरुष और अचेतन बुद्धितत्त्व अथवा चित्त के भेद का साक्षात्कार करा देती है। इसी का नाम 'विवेकख्याति' है। यह वृत्तिरूप होने से पूर्णसमाधि दशा नहीं मानी जाती ॥१५॥

'अपर-वैराग्य' का निरूपण कर सूत्रकार ने 'परवैराग्य' के स्वरूप का निर्देश किया-

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

---

१. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥२।५५॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२।५७॥
यह विस्तृत वर्णन द्वितीयाध्याय की समाप्तिपर्यन्त द्रष्टव्य है। समस्त कामनाओं से रहित मन से भी विषयों का चिन्तन न करनेवाला, आत्मचिन्तन में ही सन्तुष्ट रहनेवाला, विषयों की उपस्थिति में भी राग-द्वेष से रहित व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। वैराग्य के फलस्वरूप उसकी प्रज्ञाचित्त विषयों से हटकर केवल आत्मा में निरुद्ध हो चुका है।

[तत्] वह **[परम्]** पर वैराग्य है, जो **[पुरुषख्यातेः]** पुरुष के साक्षात्कार से **[गुणवैतृष्ण्यम्]** गुणों से तृष्णाराहित्य हो जाना है।

सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास की निपुणता (पूर्णदशा) प्राप्त हो जाने पर त्रिगुणात्मक अचेतन प्रकृति और उसके विकारों से चेतन आत्मतत्त्व के भेद का साक्षात्कार हो जाता है। इसी का नाम 'प्रकृति-पुरुषविवेकख्याति' है, जिसको सूत्र में 'पुरुषख्याति' पद से कहा गया है। यह साक्षात्कार समस्त त्रिगुणात्मक व्यवहार में पुरुष के तृष्णाराहित्य को उत्पन्न कर देता है। तात्पर्य है-पूर्णरूप से तृष्णा का न रहना 'परवैराग्य' है। परन्तु सम्प्रज्ञात समाधि की यह दशा वृत्तिरूप होती है। विवेकख्याति गुणों की एक अवस्था है। रजस्, तमस् का उद्रेक न होने पर सत्त्वगुण की धारा प्रवाहित रहती है। योगी इसका भी निरोधकर पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार जब समस्त गुणवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, वह वैराग्य की पराकाष्ठा 'धर्ममेघ-समाधि' नाम से योगशास्त्र [४।२९] में व्यवहृत है।

अपरवैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि का तथा परवैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का प्रतीक है। यह अवस्था अचानक एक दिन में नहीं प्राप्त होती, गतसूत्र [१४] के निर्देशानुसार निरन्तर अभ्यास करते रहने से कालान्तर में इसकी प्राप्ति हो पाती है। यह क्रम अपने अनुभव और शास्त्र द्वारा विषयों में जाने गये दोष देखनेवाले युञ्जान योगी के आत्मा में विषयों के प्रति उभरते हुए वैराग्य से प्रारम्भ होता है। आत्मसाक्षात्कार के लिए अनुष्ठित निरन्तर अभ्यास से जब आत्मा को विवेकज्ञान हो जाता है, प्रकृति से भिन्नरूप में स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब व्यक्त-अव्यक्तधर्मों से युक्त समस्त त्रिगुणात्मक जगत् के प्रति वह आत्मा में नितान्त विरक्ति की भावना का अनुभव करता है। आत्मसाक्षात्कार की इस अवस्था में आत्मा जान लेता

है-जो प्राप्त करना था, वह कर लिया, समस्त क्लेश समाप्त हो गये, निरन्तर जन्म-मरण की कड़ियों से जुड़ती हुई, जो संसाररूपी जंजीर अज्ञात काल से बढ़ती चली आ रही थी, वह सर्वथा टूट चुकी है। आत्मसाक्षात्कार का यह सर्वोच्चस्तर वैराग्य की पराकाष्ठा है। 'परवैराग्य' अथवा 'आत्मसाक्षात्कार' दोनों कथन आत्मा की समान अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं।

तात्पर्य है-त्रिगुणात्मा जगत् से आत्मा का पूर्णरूप में अलगाव आत्मसाक्षात्कार की पहचान है। जब तक त्रिगुण से लगाव है, आत्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं। आत्मा की वह अवस्था 'कैवल्य' है, मोक्षरूप है। तब त्रिगुण से असंलग्न आत्मा ब्रह्मानन्द का निरन्तर अनुभव किया करता है॥१६॥

अभ्यास और वैराग्य दोनों उपायों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर जो सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था आती है, आचार्य सूत्रकार ने उसका भेदसहित स्वरूप बताया-

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः॥१७॥

[वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मिता-रूपानुगमात्] वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक परिस्थितियों के अनुगम-सहयोग अथवा सम्बन्ध से (चित्तवृत्तियों का निरोध) **[सम्प्रज्ञातः]** सम्प्रज्ञात समाधि है।

'निरोध' का तात्पर्य है—अपनी भावना को निरन्तर किसी एक विषय में रोके रखना। चित्त द्वारा वस्तु का चिन्तन-स्मरण या ज्ञान होना 'भावना' है। ऐसी भावना पहले-पहल निरन्तर एक विषय में रुक जाय, ऐसा सम्भव नहीं होता। चित्त के चञ्चल होने से वह एक विषय के चिन्तन में न रुककर इधर-उधर भागता है। पर धीरे-धीरे निरन्तर अभ्यास द्वारा एक विषय में रुकने के लिए चित्त को सधाया जाता है। धीरे-धीरे कालान्तर में चित्त इतना सध जाता है कि उसके द्वारा आत्मा को आत्म-अनात्म के भेद का साक्षात्कार हो जाता है, अर्थात्

उस अवस्था में समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होकर चित्त केवल आत्मसाक्षात्कार के लिए सक्रिय रहता है। इसी स्थिति का नाम 'विवेकख्याति' है। यह सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम स्तर है।

इस समाधि की प्रारम्भिक स्थिति से लगाकर अन्तिम स्तर तक जो क्रम है, उसे चार स्थितियों में प्रस्तुत किया गया है- वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत। समाधि के समस्त क्रम को इन चार स्तरों में विभाजित करने वाले आधार मूल में तीन हैं-ग्रहीता, ग्रहण, ग्राह्य। अन्तिम ग्राह्य सूक्ष्म-स्थूल भेद से दो प्रकार का है, इसीलिए ये आधार चार हो जाते हैं। इन्हीं के अनुसार समाधि के वितर्क आदि चार स्तर हैं इन्हीं को दूसरे शब्दों में प्रमाता, प्रमाण प्रमेय कहा जाता है। प्रमाता-आत्मा, प्रमाण-बाह्यकरण (इन्द्रियाँ) तथा अन्तःकरण, प्रमेय-सूक्ष्म-स्थूलभेद से यथाक्रम तन्मात्र और स्थूलभूत।

अभ्यासक्रम के प्रारम्भिक स्तर पर चित्त द्वारा किये जानेवाले एकविषयक चिन्तन में ये चारों आधार अवभासित रहते हैं। सर्वप्रथम वृत्तिनिरोध के लिए कोई स्थूल आलम्बन अपेक्षित रहता है। जैसे लक्ष्यवेध का अभ्यास करनेवाला व्यक्ति पहले स्थूललक्ष्य का वेधन करता है, फिर अभ्यास द्वारा सूक्ष्मवेधन तक पहुँच जाता है, ऐसे ही योगाभ्यासी प्रथम चित्तवृत्तिनिरोध के लिए स्थूलविषय को आलम्बन बनाता है। यह आलम्बन देह से बाहर किसी आधार पर गोलाकार वृत्त बनाकर उस पर दृष्टि केन्द्रित करके अभ्यास किया जाता है। अथवा देह में नासिका का अग्रभाग आचार्यों ने उपयुक्त आलम्बन बताया है। देह के अन्य अंगों (नासिका मूल व भौओं के मध्य, हृदय व मस्तिष्क आदि) को भी आलम्बन बनाया जा सकता है।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि—निरोध के इस स्तर में चिन्तन का विषय स्थूल है, जो स्थूलभूतों का विकार होने से स्थूलभूतरूप है। इस स्तर के चिन्तन में स्थूलभूत, उनके कारण तन्मात्र तथा प्रमाण-बाह्य एवं आन्तर करण और प्रमाता आत्मा

चारों आधार भासते हैं। तात्पर्य है–साधारणज्ञान व चिन्तन आदि में प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय की जो स्थिति होती है, वही स्थिति योग के इस स्तर में रहती है। अन्तर केवल इतना है कि साधारण स्थिति में वृत्तियों का विषय बदलता रहता है, पर योग के इस स्तर में वृत्ति के विषय बदलने की स्थिति आने पर नये विषय को दूर हटाने का प्रयास रहता है तथा पूर्वानुवृत्त विषय में ही चित्त को पुन: रोकने का प्रयत्न किया जाता है। तब एक ही बाह्यविषय की ओर लगे रहने की चित्तवृत्ति का आत्मा अनुभव करता है। इस प्रकार समाधि के प्रारम्भिक स्तर के इस चिन्तन में प्रमाता, प्रमाण, सूक्ष्म तथा स्थूल प्रमेय चारों आधार भासते रहते हैं, योग का यह स्तर 'वितर्कानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि के नाम से कहा जाता है।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि–वृत्तिनिरोध-अभ्यास के अधिक उन्नत होने पर जब चिन्तनधारा में से स्थूल प्रमेय और उसके ग्राहक प्रमाण-बाह्य इन्द्रिय निकल जाते हैं, अर्थात् जब सूक्ष्म प्रमेय में चिन्तन स्थिर होने लगता है, स्थूल प्रमेय और उसके ग्रहण-साधन चिन्तन की स्थिरता के लिए अपेक्षित नहीं रहते, तब योग का यह स्तर 'विचारानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि के नाम से व्यवहृत होता है। इस चिन्तनधारा के तीन आधार रह जाते हैं–प्रमाता, प्रमाण (सूक्ष्म प्रमेय का ग्रहण–साधन–अन्त:करण) तथा सूक्ष्म प्रमेय–तन्मात्र।

निरन्तर अभ्यास के द्वारा चित्त में सत्त्वाधिक्य का उद्रेक होने पर उसमें वह क्षमता उभर आती है, जिससे सूक्ष्म विषयों में चित्त स्थिर हो उनका साक्षात्कार करता है। सम्प्रज्ञात समाधि के ये दोनों स्तर अपने दो–दो भागों में विभाजित हैं। जिनका विवरण आगे इसी पाद में [सूत्र ४२–४४ में] प्रस्तुत किया गया है। उस प्रसंग में 'समाधि' पद के स्थान पर 'समापत्ति' पद का प्रयोग है। पहला पद पुल्लिङ्ग और दूसरा स्त्रीलिङ्ग है। इसी के अनुसार वहाँ समाधि के पहले स्तर के दो भेद–'सवितर्का

समापत्ति' और निर्वितर्का समापत्ति' कहे हैं। ऐसे ही दूसरे स्तर के भेद हैं 'सविचारा समापत्ति' तथा 'निर्विचारा समापत्ति'। इनका विवरण उसी प्रसंग में द्रष्टव्य है।

इतना समझ लेना चाहिए-वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के दो भेदों में सवितर्क समाधि [चिन्तनधारा] का आलम्बन स्थूलभूत और उनके ग्रहणसाधन बाह्य इन्द्रियाँ होते हैं। इस चिन्तनधारा में जब ग्राह्य अर्थ उसका शब्द, उनके सम्बन्ध एवं ग्राह्य के कार्य-कारणभाव आदि का उभार होता रहता है, तब यह 'सवितर्क' एवं जब शब्द, अर्थ, सम्बन्ध आदि का उभार न होकर केवल धर्मी भासता है, तब वह 'निर्वितर्क' समाधि है।

इसी प्रकार समाधि के द्वितीय स्तर 'विचारानुगत' सम्प्रज्ञात में जब ग्राह्य तन्मात्र एवं ग्रहण अन्त:करण आलम्बन के विषय में उनके देश, काल, धर्म आदि चिन्तनधारा में उभरते रहते हैं, तब वह 'सविचार' और जब आलम्बनविषयक देश, काल, धर्म आदि चिन्तनधारा में नहीं उभरते, केवल आलम्बन धर्मी भासता है, तब वह 'निर्विचार' सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि-चित्तवृत्ति निरोध के लिए अनुष्ठित निरन्तर अभ्यास के और अधिक उन्नत अवस्था में पहुँचने पर चित्तगत रजस्-तमस् क्षीण हो जाने से सत्त्व का उद्रेक हो आता है। योग के इस स्तर में चिन्तन-धारा के आलम्बन स्थूल-सूक्ष्म प्रमेय तथा उनके ग्रहणसाधन बाह्य-आन्तर करण कोई नहीं होते, केवल सत्त्वप्रधान बुद्धि और आत्मा आलम्बन रहते हैं। उस दशा में सत्त्वप्रधान बुद्धि के सहयोग से आत्मा जड़-चेतन के भेद का साक्षात्कार करता है। इस विवेक ज्ञान से आत्मा को एक आनन्दरूप अति अनुकूल अनुभूति होती है, जो आत्मतत्त्व के तात्कालिक साक्षात्कार से उभरती है। अभी तक यह सब स्थिति वृत्तिरूप है। चित्तवृत्ति का क्रम चालू रहने से योगी को और अधिक उन्नत स्थिति के लिए अभ्यास करते रहना अपेक्षित होता है। योग के इस स्तर का

नाम 'आनन्दानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें सत्त्वाधिक्य होने पर भी रजस्-तमस् [अंशमात्र] से अनुबिद्ध रहता है।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि—योग की उक्त स्थिति प्राप्त होने पर पुनः अधिक निरन्तर अभ्यास से जब रहा-सहा रजस्-तमस् लेश और क्षीण होने लगता है; सत्त्व का प्रकाश बढ़ जाता है, तब ऐसे शुद्ध चित्त के सहयोग से आत्मा स्वरूप का साक्षात्कार करता है। योग की इस दशा की चिन्तनधारा में आलम्बन केवल आत्मा होता है। वह तब अपने शुद्ध-बुद्ध आत्मरूप का 'अस्मि' इस अनभूति के साथ साक्षात्कार करता है। इसी आधार पर योग के इस स्तर का नाम 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि है।

प्रारम्भिक स्तर से अन्तिम स्तर तक समस्त सम्प्रज्ञात समाधि का आलम्बन क्षेत्र व स्थूल ग्राह्य-ग्रहण साक्षात्कार से लगाकर आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त वृत्त्यात्मक है। चिन्तनधारा का एक सीमित आलम्बन रहने से यह योग एवं समाधि का स्वरूप है। व्युत्थान दशा में चिन्तन का आलम्बन शीघ्रता से बदलता रहता है। विषयों की ओर से परमवैराग्य की भावना के साथ किसी एक आलम्बन में चित्तवृत्ति का निरोध, योग की कोटि में आ जाता है। वृत्ति-निरोध के अभ्यास की पराकाष्ठा सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम स्तर है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि वृत्त्यात्मक एवं तात्कालिक होती हैं। जब तक वैसी (एकरूप) चित्तवृत्ति बनी रहती है, वह समाधि अवस्था है, उसके न रहने पर समाधिदशा नहीं रहती। समाधि के इस स्तर का 'सम्प्रज्ञात' नाम इसी कारण है-इसमें स्थूल ग्राह्य से लगाकर आत्मपर्यन्त समस्त तत्त्व का सम्यक् रूप से प्रकृष्ट ज्ञान होता है।

यह तत्त्वज्ञान है, इससे मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है। अभी तक देह इन्द्रिय आदि को जो आत्मा समझा जाता रहा है वह सब मिथ्याज्ञान-तीव्र वायु के वेग से काई के फट जाने के

समान- नितान्त तिरोहित हो जाता है तथा शीतल स्वच्छ सलिल के समान शान्त शुद्ध-बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह साक्षात्कार चित्त के सहयोग से हो पाता है। इसी का संकेत यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में उपलब्ध होता है[१] ॥१७॥

---

१. सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥

मन्त्र में 'सम्भूति' और 'विनाश' पद एक प्रकार से पारिभाषिक जैसे हैं। पहले पद में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'भू' धातु है, इसका अर्थ है-अच्छी तरह होना-अपने परिणतरूप को प्राप्त करना अर्थात् उत्पन्न होना। 'विनाश' पद में 'वि' उपसर्ग और अदर्शनार्थक 'णश्' धातु है। इनसे 'विनाश' पद का अर्थ होता है-जिसमें विशेषरूप से समस्त चर-अचर विश्व अदर्शन अवस्था में चला जाता है, अर्थात् अदृश्य या लीन हो जाता है। तात्पर्य हुआ-'सम्भूति' कार्यजगत् है और 'विनाश' अव्यक्त प्रकृति, जो कार्यजगत् का उपादान कारण है और प्रलय अवस्था में जहाँ कार्यजगत् लीन हो जाता है। इन दोनों को वास्तविकरूप में जानना आवश्यक है।

अब मन्त्र के उत्तरार्द्ध पर ध्यान देना चाहिए-'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' विनाश-अव्यक्त प्रकृति की जानकारी से मृत्यु अर्थात् सांसारिक कष्टों को पार कर। अव्यक्त मूलतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को जानकर मेधावी, प्रतिभाशाली व्यक्ति अद्‌भुत चमत्कारपूर्ण आविष्कारों द्वारा ऐसी वस्तुओं का निर्माण करते हैं, जो मानवसमाज के अभावजनित कष्टों को दूर करने में सहायक होती हैं। 'विनाश' से मृत्यु को पार करने का यही तात्पर्य है। इससे पहले मन्त्र में अव्यक्त प्रकृति के लिए 'असम्भूति' पद का प्रयोग है। अर्थ है-जो कभी उत्पन्न नहीं होता। इन मन्त्रों में एक अव्यक्त प्रकृति के लिए विभिन्न दो पदों का प्रयोग सप्रयोजन है। पहला पद बताता है-मूल प्रकृति का कोई कारण नहीं; पर वह सब जगत् का कारण है, कार्य जगत् 'सम्भूति' है। प्रलय दशा में यह सब असम्भूति में अदृश्य हो जाता है, यह भाव दूसरे पद (विनाश) से अभिव्यक्त होता है।

मन्त्र का अन्तिमचरण है-'सम्भूत्या अमृतमश्नुते'। सम्भूति के द्वारा अमृत (मोक्ष) प्राप्त होता है। यहाँ 'सम्भूति' पद से-प्रकृति के आद्य कार्य बुद्धि से लेकर स्थूल देह पर्यन्त समस्त कार्यसमुदाय अभीष्ट है। यही समुदाय आत्मा के भोग-अपवर्ग का साधन है। मानव देह प्राप्त कर आत्मा इन्हीं के सहयोग से अपना साक्षात्कार व मोक्षपद को प्राप्त करता है। सम्भूति के द्वारा अमृत को प्राप्त करने का यही तात्पर्य है। इसी स्थिति को लक्ष्यकर पहले मन्त्र में कहा गया है-जो असम्भूति की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में पड़े हुए हैं। अर्थात्

जब वृत्तियों का नितान्त निरोध हो जाता है, उससे आगे के योग स्तर को 'असम्प्रज्ञात' कहा जाता है। आचार्य सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया–

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

[विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः] विराम–वृत्तिनिरोध के कारणों का निरन्तर अभ्यास करते रहने से जो स्तर योग का अभिव्यक्ति में आता है **[संस्कारशेषः]** और जब केवल संस्कार शेष रह जाते हैं (वृत्तियाँ नहीं उभरतीं), तब वह **[अन्यः]** सम्प्रज्ञात से भिन्न असम्प्रज्ञात समाधि है।

चित्तवृत्तियों की समाप्ति हो जाना 'विराम' पद का अर्थ है, जब चित्त विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होता। यह स्थिति चित्तवृत्तिनिरोध के कारणों का निरन्तर अभ्यास करते रहने से प्राप्त होती है। यह उत्कृष्ट परवैराग्य का स्तर है। विषयों के प्रति वैराग्य ही चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय है। विषयों की उपस्थिति में चित्त जब किसी प्रकार उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता, यही चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध है। विषयों के प्रति चित्त के व्यापार–प्रवृत्ति का नाम चित्तवृत्ति है। विषयों की ओर चित्त का व्यापार यद्यपि पूर्णरूप से समाप्त हो जाता है, पर उनके संस्कार अभी बने रहते हैं यह 'असम्प्रज्ञात' समाधि का स्वरूप है।

इस समाधि में कौन–से संस्कार बने रहते हैं? यह जिज्ञासा सामने आती है। पूर्व व्याख्याकारों ने इसको कहीं स्पष्ट नहीं किया। दोनों समाधिदशा में चित्त के चार परिणामों का उल्लेख

आत्मज्ञान का प्रकाश उन्हें नहीं हो पाता। पर जो सम्भूति अर्थात् देह इन्द्रिय आदि में ही रत रहते हैं, वे और भी गहरे अन्धकार में पड़े हैं। प्रकृति के उपासकों को प्रकृति का तो वास्तविक ज्ञान होता है और वह मानव समाज को विविध लाभ पहुँचाता है, पर देह इन्द्रिय आदि 'सम्भूति' में रमण करने वाले उतना भी न जानने से घोर अन्धकार में रहनेवाले कहे गये हैं।

१. इस विषय में द्रष्टव्य, प्रस्तुत सूत्र की भोजवृत्ति।

मिलता है[१]—व्युत्थान, समाधि का प्रारम्भ, एकाग्रता, निरोध। प्राचीन अनुभवी आचार्यों ने जो चित्त की पाँच भूमियों (स्तरों का वर्णन किया है—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्रता और निरोध, उनमें पहली दो भूमि [क्षिप्त मूढ़] चित्त का व्युत्थान परिणाम है। विक्षिप्त भूमि में रजस्-तमस् को थोड़ा धकेल दिया जाता है, कुछ सत्त्व का उद्रेक होता है, यह चित्त का दूसरा परिणाम है, जिसमें समाधि का प्रारम्भ होता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि के 'वितर्कानुगत' एवं 'विचारानुगत' स्तर को समझना चाहिए। उसके अनन्तर 'आनन्द अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि का स्तर चित्त का 'एकाग्रता' नामक तीसरा परिणाम है। चौथा परिणाम निरोध है, जो 'असम्प्रज्ञात' का स्तर है।

आचार्यों ने बताया—व्युत्थान के संस्कार समाधिप्रारम्भजनित संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं, समाधिप्रारम्भजन्य संस्कार एकाग्रता संस्कारों से तथा एकाग्रता संस्कार निरोध संस्कारों से ओर निरोध संस्कार स्वतः नष्ट हो जाते हैं। आचार्यों के इस कथन पर यह जिज्ञासा सबल होकर उभरती है कि इस प्रकार संस्कारों के नष्ट हो जाने पर वे कौन-से संस्कार हैं, जो 'असम्प्रज्ञात' समाधि की दशा में शेष रहते हैं?

वस्तुतः कोई संस्कार किन्हीं दूसरे संस्कारों के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं, ऐसा कथन योगशास्त्र की शैली के अन्तर्गत नहीं आता, यह बात प्रस्तुत शास्त्र से बाहर की है। सांख्य-योग की पद्धति के अनुसार कोई संस्कार अपने विरोध प्रबल संस्कारों के उभर आने पर तिरोहित हो जाते हैं, सर्वथा नष्ट नहीं होते। वे एक बार दुर्बल भी पुनः अवसर पाकर प्रबलता के साथ उभर सकते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि का यह स्तर जब समस्त वृत्तियों का नितान्त निरोध हो जाता है, असम्प्रज्ञात की प्रारम्भिक अवस्था ही समझना चाहिए। इस दशा में अभी सभी प्रकार के संस्कार अर्थात् संचित, प्रारब्ध व क्रियमाण बने रहते हैं। यद्यपि चित्तवृत्तियों के नितान्त निरोध से आत्मा स्वरूपस्थिति

का अनुभव करता है, परन्तु वह इस दशा में आत्मावस्थिति की झलकमात्र होती है। इस अवस्था को स्थिरता देने के लिए पुनः-पुनः निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा है।

ऐसी दशा में किसी संस्कार के प्रबलरूप में उभर आने से चित्तवृत्ति का क्रम चालू हो जाता है और असम्प्रज्ञात समाधि भंग हो जाती है। पुनः उस स्थिति को लाने के लिए निरन्तर अभ्यास चालू रखना अपेक्षित रहता है। अगले सूत्र में वर्णित असम्प्रज्ञात के दो भेद इस वास्तविकता को पुष्ट करते हैं। 'विदेह' और 'प्रकृतिलय' योगियों के विषय में यह स्पष्ट है, कि असम्प्रज्ञात समाधि के स्तर तक पहुँच जाते हैं। देह, इन्द्रिय एवं विभिन्न प्रकृतियों में आत्मबुद्धि की भावना से उपासना करते हुए उन्होंने वह स्तर प्राप्त किया है, इस कारण वे आत्मज्ञान के पूर्ण एवं अन्तिम स्तर पर नहीं पहुँचे हैं। अतः आत्मज्ञान के उतने स्तर के अनुरूप अपेक्षाकृत अल्पसीमित काल तक उसके फल भोग कर पुनः संस्कार वश संसार में जन्म लेते हैं।

शास्त्रों का यह प्रवाद[१] कि ज्ञानाग्नि सब कर्मों व संस्कारों को भस्म कर देती है, उसी स्थिति के विषय में समझना चाहिए, जब आत्मज्ञान अपने पूर्ण एवं अन्तिम स्तर में पहुँच जाता है तथा निरन्तर स्थिरता को प्राप्त कर लेता है॥१८॥

असम्प्रज्ञात समाधि के-'भवप्रत्यय' और 'उपायप्रत्यय' नामक दो भेदों का विवरण यथाक्रम आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत किया-

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥१९॥

[भवप्रत्ययः] भवप्रत्यय नामक (असम्प्रज्ञात समाधि) **[विदेह-प्रकृतिलयानाम्]** विदेह और प्रकृतिलय संज्ञक योगियों का होता है।

१. मुण्डक, २।२।८॥, गीता, ४।१९ तथा ३७॥

'विदेह' नामक योगी वे हैं जिन्होंने देह और इन्द्रियों में आत्मभावना से निरन्तर अभ्यास एवं उपासना द्वारा उनका साक्षात्कार कर उनकी नश्वरता, जड़ता आदि को साक्षात् जान लिया है और उसके फलस्वरूप उनकी ओर से नितान्त विरक्त हो चुके हैं। वे चिरकाल तक देह-इन्द्रिय आदि के सम्पर्क में न आकर उसी रूप में समाधिजनित फल मोक्षसुख के समान भोग करते हैं। योगियों का 'प्रकृतिलय' नामक स्तर वह है—जिसमें प्रकृति को आत्मा मानकर निरन्तर अभ्यास व उपासना द्वारा उसका साक्षात्कार किया जाता है। 'प्रकृति' पद से यहाँ तन्मात्र, अहंकार, महत् और मूल प्रकृति का ग्रहण होता है। इनमें आत्मभावना से 'असम्प्रज्ञात समाधि' स्तर तक साक्षात्कार की सफलता प्राप्त हो जाने पर उसी में ये योगी सन्तुष्ट हो जाते हैं। ये भी चिरकाल तक प्रकृतितत्त्वों में लीन हुए समाधिजनित विशिष्ट सुख का मोक्ष-सुख के समान भोग करते हैं। इस प्रकार विदेह और प्रकृतिलय योगियों का असम्प्रज्ञात समाधि का स्तर 'भवप्रत्यय' नामक कहा जाता है।

ये आत्मा प्रायः ऐसे होते हैं, जिनके पूर्वजन्म में संचित अध्यात्मविषयक संस्कार इतने प्रबल हैं कि जन्म से ही उनकी गति-विधि एवं प्रवृत्ति योगियों के समान अभिलक्षित होती है। उस स्तर को प्राप्त करने के लिए उन्हें इस जन्म में यम-नियम आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। अध्यात्मिक तपोऽनुष्ठान से पूर्वजन्म में ही उन्होंने योगी के उस स्तर को प्राप्त कर लिया होता है, जो असम्प्रज्ञात समाधि के समान है। कोई संस्कार ऐसे शेष रह जाते हैं, जिनके कारण पूर्वदेह परित्याग के अनन्तर देहान्तर में आना पड़ जाता है। यह जीवन उनका जन्म से ही योगीस्तर का रहता है।

असम्प्रज्ञात समाधि के इस स्तर के 'भवप्रत्यय' नामकरण का कारण यह है कि भव=संसार इसका प्रत्यय=कारण रहता है। संसार का मूल उपादान प्रकृत तथा अन्य प्राकृत पदार्थ इसमें

निरन्तर अभ्यास के आलम्बन बनकर इसको अन्तिम स्तर तक पहुँचाने में निमित्त रहते हैं। ये दोनों प्रकार के योगी समाधि के इस स्तर को प्राप्त कर समझ लेते हैं कि जो कुछ हमारे लिए प्राप्तव्य था, वह हमने प्राप्त कर लिया है, उसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं। आगे आत्मा व परमात्मा के साक्षात्कार के लिए उनकी भावना जागृत नहीं होती। यह अविद्या, अविवेक व मोह की स्थिति है, क्योंकि अभी तक ये योगी प्रकृतिसम्पर्क की सीमा में रमण करते होते हैं।

यह बात प्रथम कही गई है कि समाधि के इस स्तर तक योगी को जड़ प्रकृति और चेतन आत्मा के भेद का बोध होता है तथा यह बोध साक्षात्कार के स्तर को भी छू लेता है। इस झलकमात्र को योगी उस दशा में पूर्ण आत्मस्वरूपावस्थिति समझकर सन्तुष्ट हो जाता है और आगे पूर्ण आत्मसाक्षात्कार के लिए अभ्यास आदि के प्रयत्न से विमुख हो जाता है। उतने समाधिजनित फल को भोगकर कालान्तर में पुनः जन्म-मरण के साधारण आवर्त्त में आ फँसता हैं इनके सुख-भोग के काल की सीमा का संकेत पुराणों में उपलब्ध होता है।[१]

शास्त्रों [मुण्डक, २।२।८, गीता, ४।१९ तथा ३७] में ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मों के भस्म हो जाने का जो उल्लेख उपलब्ध होता है, वह योगी की उस अवस्था का समझना चाहिए, जब आत्म-साक्षात्कार पूर्ण स्थिरता के स्तर पर पहुँच

१. दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते। वायुपुराण

अन्तिम पंक्ति में जो निर्गुण चेतन आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर उसके फलस्वरूप प्राप्तव्य आनन्दातिशय भोग के लिए कालगणना का अभाव बताया, उसका तात्पर्य पूर्वोक्त कालगणना से अत्यधिक काल के निर्देश में है। उतने अतिमहान काल को पूर्ववत् गणना में लाना एक प्रकार से उपहासास्पद ही माना जायगा।

जाता है। योग का यह 'भवप्रत्यय' नामक स्तर उस अवस्था का नितान्त प्रारम्भिक अवसर माना जाना सम्भव है। अभी तक समस्त संस्कार आत्मा में विद्यमान रहते हैं। कोई भी संस्कार उभरने पर योगी समाधिभ्रष्ट हो जाता है। इस स्तर के योगी विवेकख्याति की एक झलक मिल जाने पर उसी में सन्तुष्ट हुए मग्न हो जाते हैं। आगे उस विवेकज्ञान की स्थिरता के प्रयत्न करने में उनका प्रयास क्षीण हो जाता है। यथावसर देहपात के अनन्तर जब समाधिजनित फल को भोग लेते हैं, तब कालान्तर में ऐसे योगभ्रष्ट आत्माओं का जन्म अच्छे कुलों में हुआ करता है। अर्जुन के पूछने पर कृष्ण ने इनका विवरण गीता में दिया है।[१] अन्त में वहाँ 'एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्' यह अत्यन्त दुर्लभ है कि ऐसे आत्माओं का जन्म योगियों के ही कुल में हो, इस बात को कहकर महायोगी कृष्ण ने इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि ऐसे योगियों के सञ्चित संस्कारों में से कौन से संस्कार प्रबल होकर उस समय उभरते हैं, यह समझना कठिन है। उन संस्कारों के कारण अन्य साधारण कुलों में भी उनका जन्म हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'भवप्रत्यय' स्तर के योगियों के पूर्व-कर्मार्जित सञ्चित संस्कार बराबर बने रहते हैं। इस समाधिस्तर के 'भवप्रत्यय' नामकरण का दूसरा निमित्त यह सम्भव है—भव जन्म से ही जिन आत्माओं में योग का प्रत्यय-ज्ञान अथवा प्रतीक अभिलक्षित होता है, ऐसे योगियों का वह स्तर 'भवप्रत्यय' नामक कहा जाता है॥१९॥

'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि का विवरण प्रस्तुतकर आचार्य सूत्रकार ने क्रमप्राप्त 'उपायप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि के विषय में बताया—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥२०॥

---

१. गीता, ६। ३७-४५॥

[श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकः] श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि का 'उपायप्रत्यय' नामक स्तर है, जो), **[इतरेषाम्]** अन्यों का (विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों का) होता है।

जो योगी इन्द्रिय, तन्मात्र, अहंकार, महत् तथा प्रकृति में आत्मभावना से उपासना व अनुष्ठान न कर पूर्ण मोक्षप्राप्ति की भावना से योगाभ्यास में संलग्न होते हैं, भले ही योगाभ्यास के प्रारम्भ में अभ्यास के लिए उनके आलम्बन इन्द्रिय आदि तत्त्व रहें, पर उनका साक्षात्कार होने पर वे उतने ही में सन्तुष्ट नहीं हो जाते, प्रत्युत श्रद्धा आदि उपायपूर्वक पूर्ण आत्मसाक्षात्कार के लिए संलग्न रहते हैं। वे विदेह और प्रकृतिलय स्तरों में न रुककर निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं, इसके फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार होने पर मोक्ष पा जाते हैं।

श्रद्धा[१]—मोक्षप्राप्ति की भावना से योगाभ्यास में चित्त का प्रसन्न रहना, उधर से नितान्त भी उपेक्षा का भाव न आना 'श्रद्धा' है। यह श्रद्धावान् व्यक्ति को अनन्य-चित्त बनाकर उसके अभिलषित कार्य के सम्पादन में सदा तत्पर रखती है।

वीर्य—इसका तात्पर्य है—उत्साह। श्रद्धालु व्यक्ति सदा उत्साहपूर्वक अपने संपाद्य को सिद्ध करने में लगा रहता है। श्रद्धा कार्य सम्पादन में व्यक्ति के उत्साह को सदा बनाये रखती है।

स्मृति—श्रद्धापूर्वक उत्साह के साथ अपने अभिलषित की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता हुआ व्यक्ति पूर्वाभ्यास स्थिति को निरन्तर याद रखता हुआ आगे के आधार को दृढ़ बनाये रखने

१. गीता में ज्ञानप्राप्ति-आत्मसाक्षात्कार के लिए श्रद्धा को मुख्य उपाय बताया है—
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥४।३९॥
सम्भव है, महायोगेश्वर कृष्ण के मस्तिष्क में उस समय योगदर्शन का प्रस्तुत प्रसंग उभर रहा होगा।

में उपेक्षा नहीं करता।

समाधि—श्रद्धा और उत्साह से पूर्वार्जित योग-सम्पत्ति को स्मृतिरूप में सुरक्षित रखता हुआ योगी असम्प्रज्ञात समाधि के स्तर पर पहुँच जाता है। इस स्तर पर होनेवाली विवेकज्ञान की झलकमात्र से वह सन्तुष्टि लाभ नहीं करता।

प्रज्ञा—तब उस ज्ञान की पूर्ण स्थिरता के लिए प्रयत्न करता हुआ परवैराग्य की उत्कृष्ट कोटि को प्राप्त कर ऋतम्भरा प्रज्ञा के स्तर पर पहुँच जाता है। यह पूर्ण आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। अब आत्मा समस्त क्लेश व अविद्या आदि का फन्दा काटकर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

प्रारब्ध कर्मों के अनुसार चालू देह के भोगों को पूराकर देहपात के अनन्तर मोक्ष पा जाता है। इस दशा में ज्ञानाग्नि से आत्मा के समस्त अशुभ-पाप-कर्मजनित संस्कार (सञ्चित पाप-कर्माशय) नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न उपनिषत् के पाँचवें प्रश्न में शिष्य द्वारा-जीवनपर्यन्त ओङ्कार की उपासना का फल पूछे जाने पर महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर में कहा है—**"यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्"** [५।५]। जैसे साँप उपयुक्त समय आने पर अपनी त्वचा (कैंचुली) से विनिर्मुक्त हो जाता है, ऐसे ही ओङ्कार-उपासना से आत्मा का साक्षात् कर ज्ञानी पापराशि से छुटकारा पा, शान्त पुण्य राशि द्वारा ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है।

इससे प्रतीत होता है, ओङ्कार उपासना से प्राप्त आत्मज्ञानरूप अग्नि द्वारा पापसमूह का नाश होता है, आत्मज्ञान में साधन पुण्यराशि का नहीं यही आशय छान्दोग्य उपनिषत् [८।७।१] में आत्मज्ञानी का 'अपहतपाप्मा' स्वरूप बताकर प्रकट किया गया है।

यह 'उपायप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि उन योगाभ्यासी व्यक्तियों का बताया गया है, जो दृढ़ संकल्प के साथ मोक्षप्राप्ति

की इच्छा रखते हैं, इसी कारण अन्तराल में आनेवाले समस्त विघ्न-बाधाओं एवं मध्यवर्ती अल्प व तात्कालिक सिद्धियों के लोभ को लाँघकर अपने परमलक्ष्य पूर्ण आत्मसाक्षात्कार की स्थिति को पा लेते हैं॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—समाधि-सिद्धि के श्रद्धा आदि उपाय सबके लिए समान हैं, तब एक समान सीमित काल में प्रत्येक योगाभ्यासी को समानरूप से समाधि-सिद्धि का लाभ होना चाहिए। पर ऐसा देखा नहीं जाता, इसका क्या कारण है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

[तीव्रसंवेगानाम्] तीव्र संवेगवालों का **[आसन्नः]** समीप-शीघ्र (होता है—समाधिलाभ)।

सूत्रार्थ करने में 'समाधि लाभ' पदों का अध्याहार कर लेना चाहिए। प्राचीन व्याख्याकारों ने सूत्र के 'संवेग' पद के दो अर्थ किये हैं—१. वैराग्य, २. योगसम्बन्धी क्रियानुष्ठान। शीघ्र समाधि लाभ के लिए ये दोनों आवश्यक हैं। तीव्र वैराग्य अर्थात् परवैराग्य की स्थिति शीघ्र समाधिलाभ में प्रधान साधन होता है। वैराग्य की स्थिति होने पर भी यदि योगाङ्गों के अनुष्ठान में शिथिलता अथवा उपेक्षा की भावना रहती है, तो शीघ्र समाधि लाभ की आशा नहीं रखनी चाहिए। इसलिए शीघ्र समाधिसिद्धि हो सके, इस निमित्त परवैराग्य के साथ योगाङ्गों के अनुष्ठान में नैरन्तर्य व दृढ़संकल्प होना आवश्यक है। जब समाधि शीघ्र सिद्ध हो जाता है, तो उसके फल कैवल्य की प्राप्ति में कोई विलम्ब नहीं होता॥२१॥

वैराग्य और यौगिक क्रियानुष्ठान दोनों में विभिन्न योगाभ्यासियों द्वारा अपने संस्कार व प्रवृत्तियों के अनुसार तीव्रता व शिथिलता से न्यूनधिकता का होना स्वाभाविक है। इस आधार पर व्याख्याकारों ने योगाभ्यासियों के मुख्यरूप में नौ वर्ग बताये हैं। जिसको

आचार्य सूत्रकार ने मूलरूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया--

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥२२॥

[मृदु-मध्य-अधिमात्रत्वात्] मृदु, मध्य और अधिमात्र होने से (वैराग्य एवं अनुष्ठान के) **[ततः]** उससे **[अपि]** भी **[विशेषः]** विशेष (और अधिक समीपतर समीपतम) समाधि लाभ होता हैं

गतसूत्र में तीव्र वैराग्य तथा तीव्र क्रियानुष्ठान से समाधि लाभ का शीघ्र होना बताया गया है। यदि इन दोनों साधनों का प्रयोग अधिमात्र स्तर पर किया जाता है, तो पहले की अपेक्षा और अल्पकाल में समाधिलाभ की सम्भावना रहती है। वैराग्य और क्रियानुष्ठान की आधारभित्ति पर मृदु, मध्य और अधिमात्र का विवरण निम्न प्रकार समझना चाहिए।

दृढ़ संकल्प को अभिव्यक्त करने के लिए गतसूत्र में 'तीव्र' पद का प्रयोग है, प्रस्तुत सूत्र में उस भाव को 'अधि मात्र' पद से कहा है। 'तीव्र' पद के अर्थ में आपेक्षिक न्यूनता अधिकता की सम्भावना रहती है, परन्तु 'अधिमात्र' तीव्रता की अधिकता के अन्तिम स्तर को छू लेता है, उस स्तर से अधिक वैराग्य एवं क्रियानुष्ठान के स्तर की सम्भावना नहीं है।

'उपायप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि के लक्षण-सूत्र में निर्दिष्ट 'श्रद्धा' आदि उपायों तथा समाधि के अन्य समस्त अपेक्षित आठ योगाङ्गरूप उपायों का समावेश 'वैराग्य' एवं 'यौगिक क्रियानुष्ठान' में हो जाता है। अतः मृदु आदि का विवरण इन्हीं आधारों पर प्रस्तुत है--

१. मृदु वैराग्य, मृदु क्रियानुष्ठान =अत्यधिक काल
२. मृदु वैराग्य, मध्य क्रियानुष्ठान =पूर्वोक्त से कुछ न्यून
३. मृदु वैराग्य, अधिमात्र क्रियानुष्ठान =कुछ और न्यून
४. मध्य वैराग्य, मृदु क्रियानुष्ठान =द्वितीय स्तर के समान
५. मध्य वैराग्य, मध्य क्रियानुष्ठान =तृतीय स्तर के तुल्य

६. मध्य वैराग्य, अधिमात्र क्रियानुष्ठान =तृतीय स्तर से न्यून
७. अधिमात्र वैराग्य, मृदु क्रियानुष्ठान =तृतीय स्तर के समान
८. अधिमात्र वैराग्य, मध्य क्रियानुष्ठान =षष्ठ स्तर के समान
९. अधिमात्र वैराग्य, अधिमात्र क्रियानुष्ठान =सर्वापेक्षा अल्पकाल

समाधिसिद्धि प्राप्त करने के लिए योगाभ्यासी द्वारा किये जाने वाले प्रयत्न के ये नौ स्तर हैं। प्रत्येक योगाभ्यासी इनमें से किसी स्तर पर प्रयत्न करता है, उसके अनुसार न्यून व अधिक काल में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यह मार्ग अत्यन्त कठिन विपुल बाधाओं से भरा हुआ जन्म-जन्मान्तरों के प्रयत्न से साध्य होता है। निराशा और उत्साहहीनता सिद्धि के प्रबल शत्रु हैं। इसी भावना को ऋषियों एवं आध्यात्मिक उपदेष्टाओं ने 'दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति' [कठ. १।३।१४] 'अनेक-जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' [गीता ६।४५] आदि वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त किया है॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अति समीप काल में समाधि सिद्धि के लिए क्या यही पूर्वोक्त एकमात्र उपाय है अथवा अन्य भी कोई उपाय इस कोटि का कारगर हो सकता है? आचार्य सूत्रकार ने अन्य उपाय बताया—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥२३॥

[ईश्वरप्रणिधानात्] ईश्वरप्रणिधान से **[वा]** अथवा।

अपेक्षाकृत अल्पकाल में होनेवाले चित्तवृत्ति निरोध अथवा समाधि-सिद्धि लाभ के लिए अन्य सर्वश्रेष्ठ उपाय 'ईश्वर-प्रणिधान' है। सूत्र में दो पद हैं—'ईश्वर' और 'प्रणिधान'। ईश्वर का लक्षण आचार्य ने स्वयं अग्रिम सूत्र में बताया है। 'प्रणिधान' पद का तात्पर्य है—अनन्यचित्त होकर पूर्णभक्तिभाव से आत्मसमर्पण-पूर्वक उपासना करना। ईश्वर की इस प्रकार से उपासना करने से आराधित हुआ प्रभु भक्त उपासक के

अभीष्ट को सिद्ध करता है। वस्तुतः उपासक जब सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर समस्त भावनाओं को भगवान् में निहित कर देता है, तब व्युत्थानभूमि की चित्तवृत्तियों के उद्भव की सम्भावना नहीं रहती। इसी को प्रभु का प्रसाद कहा गया है--भक्त की भावनाओं को जानता हुआ ईश्वर उसके अभीष्ट को प्रदान कर देता है। इस स्थिति को व्याख्याकारों ने इस रूप में अभिव्यक्त किया है—ईश्वर उस दशा में अभिध्यान (संकल्प) मात्र से भक्त के अभिलषित को सिद्ध कर देता है। ईश्वर को अन्य किसी बाह्य साधन का सहयोग प्राप्त करना अपेक्षित नहीं होता। उपासक द्वारा अपने आपको प्रकृष्ट व प्रवणरूप से ईश्वर में निहित कर देना, यह भाव 'प्रणिधान' पद से स्वतः अभिव्यक्त होता है।

गत सूत्रों में चित्तवृत्तिनिरोध अथवा पूर्णसमाधिसिद्धि के लिए उपायरूप में 'परवैराग्य' के साथ 'क्रियानुष्ठान' का उल्लेख हुआ है। इसका सर्वोच्च अथवा सर्वश्रेष्ठ स्वरूप 'ईश्वरप्रणिधान' है। आगे [२।१] स्वयं सूत्रकार ने 'क्रियायोग' पद से इसका उल्लेख किया है। उसकी अपेक्षित व्याख्या वहाँ कर दी गई है ॥२३॥

प्रसंगप्राप्त ईश्वर के स्वरूप का निर्देश आचार्य सूत्रकार ने किया--

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

[**क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः**] क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों [**अपरामृष्टः**] असंपृक्त-अछूता [**पुरुषविशेषः**] विशेष चेतनतत्त्व [**ईश्वरः**] ईश्वर है।

सांख्य-योग के शास्त्रीय विवरणों में प्रकृति-पुरुष पदों का प्रयोग प्रायः होता रहता है। इनमें जैसे 'प्रकृति' पद जड़तत्त्व का बोधक है, इसी प्रकार 'पुरुष' पद चेतनतत्त्व को अभिव्यक्त

करता है। वैसा एक साधारण चेतन प्रत्येक मानव पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि के देहों में एक-दूसरे से सर्वथा पृथक्-पृथक् विद्यमान रहता है; यह साधारण चेतनतत्त्व (पुरुष) हैं। साधारण इसलिए कि ये समानरूप से विभिन्न देहों में अपने क्रियाकलाप आदि साधनों द्वारा एक-दूसरे से भिन्न जाने जाते हैं। इनसे अतिरिक्त एक विशेष (असाधारण) चेतन है, जो 'ईश्वर' है पहला पुरुष जीवात्मा कहा जाता है।

यद्यपि इन दोनों के चैतन्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता, पर अन्य अनेक अन्तर हैं, जिनके कारण ईश्वर को 'पुरुषविशेष' कहा गया है। वह विशेषता उसके नाम 'ईश्वर' पद से अभिव्यक्त होती है। उसका अर्थ है-ऐश्वर्ययुक्त। वह ऐश्वर्य उसके सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी होने में निहित है। वह चेतनतत्त्व समस्त विश्व का नियन्त्रण करता है; संसार के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय उसके नियन्त्रण का स्वरूप हैं। जीवात्म-चेतन यद्यपि संसार में आकर कर्म करने में स्वतन्त्र है और आंशिकरूप से अपने लिए प्राकृतिक तत्त्वों का उपयोग करने में बहुत सीमा तक समर्थ है, परन्तु संसार की रचना के बिना न वह कोई कर्म कर सकता है, न कर्मों का फल भोग सकता है, कर्म करके भी अपनी इच्छानुसार फल भोग सकने या न भोगने में वह समर्थ नहीं। इन सब स्थितियों के लिए संसार की रचना आवश्यक है, जो केवल उस चेतनतत्त्व के सामर्थ्य में है, जिसको 'ईश्वर' कहा जाता है।

'प्रकृति' उपादान जड़तत्त्व से वह संसार की रचना केवल जीवात्म-पुरुषों के लिए करता है, अपने लिए नहीं। जीवात्म-चेतनतत्त्व कर्म करने और उनके फलों को भोगने के लिए देहादि सम्बन्ध द्वारा प्रकृति के सम्पर्क में आते हैं। विद्या-अविद्या-जनित शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप रूप) कर्मों को करते और कर्मानुसार उनके सुख-दुःखरूप फलों को भोगते हैं। सूत्र में जिन क्लेश आदि का निर्देश है, जीवात्मा बराबर उनमें लिपटा

रहता है। क्लेशों का विवरण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश के रूप में आगे [२।३] सूत्रकार ने दिया है। कर्म–वे कार्य हैं, जिन्हें जीवात्म-चेतन देहबन्धन में आकर पुण्य–पाप[1] के रूप में किया करता है। विपाक-उन कर्मों के फल परिणाम का नाम है, जिन्हें कर्म करनेवाला अवसर आने पर सुख–दु:ख के रूप में भोगा करता है। जब तक कर्मफल भोगा नहीं जाता, तब तक पूर्वकृत कर्मों के संस्कार आत्मा में बने रहते हैं, इन्हीं संस्कारों को 'आशय' अथवा 'वासना' पद से कहा जाता है।

जैसा प्रथम कहा गया–ईश्वर संसार को जीवात्माओं के लिए बनाता है, अपने लिए नहीं। इसी कारण वह देहादिबन्धन में कभी नहीं आता। सूत्र-निर्दिष्ट क्लेश आदि चारों स्थितियाँ देहबन्धन में आने पर सम्भव हैं, अत: ईश्वर इन स्थितियों से सर्वथा सर्वदा अछूता रहता है। यह भी जीवात्म-पुरुषों से उसकी विशेषता है।

यद्यपि जीवात्म–चेतन शास्त्रप्रतिपादित पद्धति पर आचरण करता हुआ स्व-रूप एवं परमात्मा का साक्षात् कर कालान्तर में ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है, जहाँ क्लेश, कर्म आदि का स्पर्श उसे नहीं रहता। यह जीवात्मा की मुक्त अवस्था कही जाती है। पर इस अवस्था में भी जीवात्मा ईश्वर के समान-स्तर को नहीं पाता। एक अथवा अनेक मुक्त पुरुष भी संसार की रचना में सदा असमर्थ हैं। इसके लिए निम्नलिखित कारणों पर विचार करना चाहिए–

१. जीवात्मा स्वभावत: अल्पज्ञ व अल्पशक्ति है, वह पूर्ण सर्वज्ञ व सर्वशक्ति कभी नहीं होता, जो जगद्रचना आदि कार्यों

---

१. पुण्य-पाप की परिभाषा अत्यन्त दुरवगाह्य है। इसको समझने के लिए मानव सदा प्रयत्नशील रहा है, आगे भी रहने की सम्भावना है, पर यह पहेली अनबूझी रही है। यहाँ इन पदों का प्रयोग शास्त्रीय परम्परा के अनुसार कर दिया गया है।

के लिए आवश्यक है।

२. किसी एक मुक्त आत्मा को जगद्रचयिता इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी मुक्त अवस्था आने से पहले जगत् बना होता है, उसी में आकर वह देहादि के सहयोग से अष्टांग योग-साधनों द्वारा उस अवस्था को प्राप्त करता है।

३. जगद्रचना का क्रम अनादि मानने पर पूर्व-पूर्व के मुक्त जीवात्मा यथाक्रम जगद्रचना करते आये हैं, यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्येक मुक्त जीवात्मा-चाहे जब कभी उसने मुक्तदशा को प्राप्त किया हो-उसके पहले जगद्रचना हुई रहती है। तात्पर्य है-प्रत्येक मुक्त जीवात्मा की मुक्त अवस्था सादि है। उसके प्रकट में आने से पूर्व उसकी अभिव्यक्ति के लिए जगत् सहयोगी रूप में प्रथम विद्यमान रहता है।

४. अनेक मुक्त जीवात्मा मिलकर जगद्रचना में समर्थ हो सकते हों, ऐसा भी सम्भव नहीं। किसी कार्य के कर्त्ता जब अनेक होते हैं, तो उनमें कभी-न-कभी विरोध की सम्भावना बनी रहती है। यदि परस्पर विरोध होने से वह कार्य नहीं बन सका, तो उस कार्य के प्रति उनका ईश्वर होना समाप्त हो जाता है। यदि सब मिलकर एक सम्मति से कार्य करते हैं तो यह भी उपपन्न प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जो एक ने कहा या चाहा वही दूसरे ने व अन्यों ने चाहा, कहा, तो कार्य के सम्पादन में एक का चाहना, कहना ही पर्याप्त है, अन्यों को कर्त्ता माना जाना सर्वथा अनपेक्षित है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि सबके सम्मिलित होने पर ही रचना करने से प्रत्येक का स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है तथा यह भी निश्चय करना संभव नहीं कि वे कितने सम्मिलित होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् का रचयिता एक ही सम्भव है।

५. संसार में सुख-दुःख दोनों देखे जाते हैं, इनका भोक्ता जीवात्म-चेतन है, इससे स्पष्ट है, वह स्वयं इसका बनानेवाला नहीं है। जो बनानेवाला है, वह भोक्ता नहीं, जो भोक्ता है, वह

बनानेवाला नहीं। इसलिए भोक्ता जीवात्मा से अतिरिक्त चेतनतत्त्व जगत्कर्त्ता सम्भव है। उसी को ईश्वर माना गया है।

सांख्य-योग में जहाँ-तहाँ जीवात्म-पुरुष को नित्यमुक्त कहा गया है, तब उसकी मुक्ति को 'सादि' कहने पर शास्त्रसिद्धान्त का विरोध होता है।

सांख्यसूत्र [१।१९] में आत्मा को शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव बताया है। सांख्य में अशुद्ध वह तत्त्व है, जो परिणामी है, चेतन आत्मा परिणामी न होने से शुद्धस्वभाव है। 'बुद्ध' पद से आत्मा के चेतन स्वभाव को अभिव्यक्त किया है। प्रकृति के सम्बन्ध अथवा सम्पर्क में रहता हुआ आत्मा कभी प्रकृति का स्वरूप नहीं होता। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, आत्मा निर्गुण है। प्रकृति के संयोग में भी आत्मा सर्वथा निर्गुण बना रहता है। आत्मा की ऐसी स्थिति को 'मुक्त' पद प्रकट करता है। इसका अर्थ है-छूटा हुआ। किससे छूटा हुआ? प्रकृति के त्रिगुणात्मक स्वरूप से। इसी अभिप्राय से आत्मा को मुक्तस्वभाव बताया गया है। इस प्रकार इन पदों से जो अर्थ बोधित होता है, उसे शास्त्रीय परिभाषा ही समझना चाहिए।

मुक्त आत्माओं द्वारा सृष्टिरचना किये जाने के विषय में जो सम्भावना प्रथम प्रकट की गई है, वहाँ 'मुक्त' का तात्पर्य उन आत्माओं से है, जो स्वरूप का साक्षात्कार कर प्रकृति सम्पर्क से छूटकर मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। इस प्रकार की मुक्ति आत्मा को विशेष साधनों द्वारा किसी विशेषकाल में प्राप्त होती है, इसलिए वह सादि है। आत्मा का 'नित्यमुक्तस्वभाव' केवल उसके निर्गुणस्वरूप को अभिव्यक्त करता है, इस कथन का साधन-प्राप्त मुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः सृष्टिकर्त्ता और कर्मफलप्रदाता आदि के रूप में ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य है॥२४॥

विश्व-नियन्ता के रूप में ईश्वर ही स्वीकार्य है, इसकी पुष्टि के लिए आचार्य सूत्रकार ने उपोद्बलक प्रमाण प्रस्तुत किया-

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[1] ॥२५॥

[तत्र] वहाँ उस ईश्वर में **[निरतिशयम्]** सर्वोत्कृष्ट, (जिससे अतिशय-बढ़ोतरी कहीं अन्यत्र सम्भव न हो, ऐसा) **[सर्वज्ञबीजम्]** सर्वज्ञता का बीज-मूल विद्यमान है।

जो सर्वोत्कृष्ट सर्वज्ञता का मूल आधार है, वही विश्व के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदि का नियन्ता हो सकता है। अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीवात्मा के लिए ऐसी स्थिति का प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव है। अतः सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ईश्वर का स्वीकार करना पूर्णरूपेण से प्रामाणिक है।

प्राकृतिक पदार्थों में जो यह-अतीत, अनागत, वर्त्तमान, एक, अनेक का समूह, अतीन्द्रिय, इन्द्रियग्राह्य, अल्प, महान आदि-भेद देखा जाता है, उनमें एक-दूसरे की अपेक्षा से अल्पता और महत्ता दृष्टिगोचर होती है। व्यावहारिक परिमाण की दृष्टि से जहाँ निरतिशय अल्पता परमाणु में है, वहाँ निरतिशय महत्ता आकाश में है। पदार्थों में छोटे से छोटा परमाणु है और बड़े से बड़ा आकाश। यह परिमाण की दृष्टि से कहा गया। इसी प्रकार जब 'ज्ञान' को लक्ष्य कर विचार किया जाता है, तो वह चेतनधर्म होने से ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में सम्भव मानी जाती है। जीवात्म-चेतन की अल्पज्ञता का प्रत्यक्ष से भान होता है। मुक्त अवस्था में भी वह पूर्णज्ञानी नहीं हो पाता, सर्ग रचना आदि के ज्ञान से वह तब भी वंचित रहता है, इसलिए सर्वज्ञाता-पूर्णज्ञाता अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा का आश्रय ईश्वर को माना जाता है। सर्ग रचना आदि के लिए ऐसा माना जाना नितान्त प्रामाणिक एवं आवश्यक है।

यद्यपि उक्त प्रकार से सामान्यरूप में किसी एक ऐसे तत्त्व का बोध अवश्य हो जाता है, जो सृष्टि आदि की प्रक्रिया में समर्थ हो, परन्तु उसका नाम ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि जो

---

१. 'सार्वज्ञबीजम्' इति वाणीविलासमुद्रायन्त्रालयपाठः।

कुछ कहा जाय, इसका निर्णय, वेदशास्त्र आदि के द्वारा किया जाना चाहिए। यह प्रथम कहा जा चुका है, सृष्टि की रचना ईश्वर अपने लिए नहीं करता, उसका प्रयोजन केवल प्राणियों पर अनुग्रह करना है। सर्गकाल में देहधारण कर आत्मा ज्ञान-धर्म के उपदेश पर आचरण करते हुए सांसारिक दुःखों से अपना उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। मानव-देह धारण के बिना 'अमरपद' के साधनों का अनुष्ठान असम्भव है-'सम्भूत्या अमृतमश्नुते' अर्थात् सम्भूति-देह के द्वारा ही अमृत का भोग प्राप्त होता है। फलतः संसार जीवात्माओं के लिए है, ईश्वर के लिए नहीं। उसी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए परमर्षि कपिल ने मानव हितार्थ सर्वप्रथम दर्शनरूप में सांख्यशास्त्र का प्रवचन किया। इस रूप में कपिल आदि इस विषय के आदिगुरु हैं॥२५॥

वह ईश्वर उन गुरुओं का भी गुरु है, क्योंकि आदि सर्ग में उसने वेदादिसच्छास्त्रों का उपदेश कर कपिल आदि को सन्मार्ग बताया, जो आज भी और सदा मानवमात्र के लिए समान है। इसी भाव को आचार्य सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र से कहा-

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥२६॥

[पूर्वेषाम्] पहलों का **[अपि]** भी **[गुरुः]** गुरु है, (उपदेष्टा है, वह ईश्वर) **[कालेन]** काल के द्वारा **[अनवच्छेदात्]** अवच्छिन्न-सीमित न होने के कारण।

ब्रह्मा, कपिल, सनक, सनन्दन आदि तत्त्वदर्शी गुरुओं ने यद्यपि आदिकाल में देहधारण कर मानवमात्र को आत्मज्ञान का उपदेश दिया, परन्तु वे सब देह-धारण करने के कारण काल से सीमित रहे। कोई भी देह सदा नहीं रह सकता, वह अनित्य है, एक नियतकाल से सीमित है। किन्हीं जीवात्माओं द्वारा तत्त्वज्ञान का उपदेश देहधारण के बिना सम्भव नहीं। अतः वे

ब्रह्मा, कपिल आदि पहले गुरु काल से सीमित रहते हैं। परन्तु ईश्वर काल से कभी सीमित नहीं होता, क्योंकि, उपदेश के लिए उसे शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। वह अशरीर रहता हुआ सर्वशक्तिमत्ता से आदि ऋषियों के आत्मा में वेदज्ञान को अभिव्यक्त कर देता है। काल की सीमा उस पर कोई प्रभाव नहीं रखती। इस प्रकार वह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु माना जाता है। उसका वह उपदेश सार्वकालिक होता है।

जैसे वर्त्तमान सर्ग के आदि में अपनी प्रकृष्टता से वह वेदोपदेश में समर्थ है, वैसे ही अनादिकाल से चले आ रहे क्रमिक अतीत सर्गों में वेदोपदेश प्राप्त कराता रहा है, यह विश्वास करना चाहिए॥२६॥

प्रकृत में अपेक्षित ईश्वर का वाचक पद क्या है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तस्य वाचकः प्रणवः॥२७॥

[तस्य] उसका **[वाचकः]** बोधक (नाम-पद) **[प्रणवः]** प्रणव-ओ३म् है।

वेद-वैदिक साहित्य में ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा गया है। ब्रह्म, परमात्मा, सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वाधार, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, आदि, अनुपम, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, सच्चिदानन्द आदि अनेकानेक नामों से उसका उल्लेख शास्त्रों में किया गया है। परन्तु इनमें से अनेक नाम ऐसे हैं, जो बिना किसी बाधा के अन्य तत्त्वों के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि वे सब नाम अपने प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार परमेश्वर की किसी एक विशेषता को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत परमात्मा का 'ओ३म्' नाम उसके पूर्णस्वरूप को अभिव्यक्त करता है तथा उसके ही स्वरूप को अभिव्यक्त करता है, अन्य किसी तत्त्व के लिए

सर्वथा अप्रयुक्त है। इसी कारण परमात्मा का यह मुख्य नाम माना जाता है। इसे योगशास्त्र में 'महामन्त्र' समझना चाहिए।

'ओ३म्' पद की संपिण्डित तथा अकार, उकार, मकार वर्णविभागपूर्वक विस्तृत व्याख्या उपनिषत्[१] आदि आर्षग्रन्थों में उपलब्ध है। प्रत्येक उपासक को उसका समझना और उसके सार को हृदयंगम कर लेना आवश्यक है। योग के लिए 'ओ३म्' का उपयोग अगले सूत्र में निर्दिष्ट है उस उपयोग को सम्पन्न करने के लिए 'ओ३म्' के रहस्यपूर्ण अर्थों को समझ लेना अपेक्षित होता है। उसी के लिए सूत्रकार ने ईश्वर का वाचक 'प्रणव' [ओ३म्] बताया है।

'प्रणव' पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'णु-स्तुतौ' धातु से निष्पन्न होता है। जिस पद द्वारा प्रकृष्टरूप से परमात्मा की स्तुति की जाय, उस पद को 'प्रणव' कहते हैं। ऐसा वह पद 'ओ३म्' है।[२] 'नव' पद का अन्य अर्थ नवीन भी है। तात्पर्य है-जो पद अपने वाच्य का बोध कराने में सदा नवीन के समान तरोताजा बना रहे, जिसमें कभी शिथिलता व बुढ़ापा (जरा) न आवे। परमात्मा के अजर, अमर, अभय, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् आदि अन्य नाम किसी विशेष प्रवृत्ति-निमित्त के आधार पर हैं। जब एक प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर परमात्मा का अजर, अमर आदि कोई नाम लिया जाता है, तब वैसे दूसरे नाम वहाँ शिथिल हैं, उनका प्रवृतिनिमित्त वहाँ जरा-जीर्ण रहता है। जैसे-'अमर' के प्रयोग में 'अभय' तथा 'अभय' के प्रयोग में अन्य नाम। परन्तु 'ओ३म्' ऐसा नाम है, जिसमें अन्य किसी नाम का प्रयोग होने पर कभी शिथिलता नहीं आती, क्योंकि यह परमात्मा के

१. इसके लिए द्रष्टव्य है-प्रश्न उपनिषत्, पञ्चम प्रश्न। कठ., १।२।१४-१७॥, सत्यार्थप्रकाश का प्रारम्भिक भाग। छान्दोग्य उपनिषत् के 'उद्गीथ-उपासना' प्रसंग [१।३।१॥, २।२।१ आदि], छान्दोग्य सामवेदीय उपनिषत् है। वहाँ 'ओ३म्' उद्गीथ पद से कहा गया है। जिसके द्वारा उत्तमरूप से प्रभु का गान-ध्यान किया जाय।

२. मुण्डक०, २।२।३-४॥

पूर्णरूप को को अभिव्यक्त करता है। इसलिए इसको 'प्रणव' कहा गया है, परमात्मा का अन्य कोई नाम 'प्रणव' नहीं कहा जाता।

शास्त्रकारों ने परमात्मा को सत्-चित्-आनन्दस्वरूप बताया है। परमात्मा का यह मौलिक व पूर्णरूप 'ओ३म्' पद के विभाजित तीन वर्णों से बोधित व अभिव्यक्त होता है। अकार से आनन्द, उकार से चित् और मकार से सत् का बोध होता है। उच्चारणरूप में 'ओ३म्' के दो भाग हैं-'ओ३' और 'म्'। 'ओ' में अकार-उकार मिले हुए हैं। इनमें प्रथम अकार से सर्वोत्कृष्ट आनन्द-स्वरूप केवल परमात्मा बोधित होता है, तथा 'चित्' से परमात्मा-जीवात्मा दोनों। इन दोनों वर्णों का मेल दोनों के समानवर्गीय होने को अभिव्यक्त करता है। इनका प्लुतभाव, मानो उच्चस्वर से घोषित करता है कि चैतन्य इन दो के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। नाम का दूसरा भग 'म्' ईश्वर- जीव-प्रकृति इन तीनों सत्-तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि तीनों 'सत्' हैं, पर तीसरे की सत्ता में पहले दोनों की सत्ता से कुछ अन्तर रहता है, इसलिए उसको व्यंजन वर्ण और भिन्न विभाग द्वारा प्रकट किया गया है। पहले विभाग के स्वर वर्णों [अ, उ] से अभिव्यंजित तत्त्व स्वयं राजित-प्रकाशित रहते हैं। [स्वयं राजन्ते, इति स्वराः]। उनकी सत्ता सदा एकरूप अपरिणामी है, परन्तु तीसरा सत्-तत्त्व परिणामी रहता है। अतः उसका संकेत पृथक् विभाग द्वारा अभिलक्षित किया गया है। जगत् का मूल उपादान जड़तत्त्व (प्रकृति) चेतन-प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ रहता है, वह अपनी प्रत्येक क्रिया के लिए चेतन पर अवलम्बित है। यह भव भी पूर्वतत्त्वों की सत्ता से इस सत्ता को पृथक् लक्षित करता है।

यह स्थिति स्पष्ट करती है-'ओ३म्' नाम ईश्वर के पूर्णस्वरूप को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। 'ओ३म्' ईश्वर का वाचक और ईश्वर उसका वाच्य है। 'ओ३म्' नाम ईश्वर

नामी है। 'ओ३म्' अभिधान और ईश्वर अभिधेय है। प्राचीन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने बताया-यह ओ३म् पद और ईश्वर अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेत से जन्य नहीं है, यह नित्य सम्बन्ध है। 'प्रणव ईश्वर का वाचक है' यह संकेत-कथन केवल उस सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है, पहले से विद्यमान सम्बन्ध को प्रकट करता है। उत्पन्न नहीं करता। जैसे पिता-पुत्र के विषय में कहा जाता है-'यह इसका पिता और यह इसका पुत्र है' यह संकेत-कथन पिता-पुत्र के सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को प्रकटमात्र करता है। अथवा जैसे अंधेरे घर में रखे पदार्थों को प्रदीप-प्रकाश केवल प्रकाशित कर देता है, उन्हें उत्पन्न नहीं करता, इसी प्रकार 'ईश्वर का वाचक प्रणव है' यह संकेत-कथन ईश्वर और प्रणव के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को केवल प्रकट करता है। फलतः यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध नित्य है, संकेतजन्य नहीं। पद और अर्थ का ऐसा सम्बन्ध अनादिकाल से चालू है, यह तत्त्वज्ञ आचार्यों ने समझाया है।

ईश्वरप्रणिधान से समाधिलाभ का निर्देश प्रथम किया है। उपासक योगी जब ईश्वर और प्रणव के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को जान लेता है, तब वाचक पद के द्वारा वाच्य के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करता है। यही ईश्वरप्रणिधान है। आचार्य सूत्रकार ने उसकी पद्धति का निर्देश किया-

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥२८॥

[**तज्जपः=तत् जपः**] उसका जप, और [**तत्-अर्थ-भावनम्**] उसके अर्थ की भावना करना।

सूत्र का प्रथम 'तत्' सर्वनाम पद प्रणव का परामर्श करता है। प्रणव 'ओ३म्' है, अतः सूत्रार्थ हुआ-'ओ३म्' का जप करना। दूसरा 'तत्' सर्वनाम पद भी प्रणव का बोधक है।

तात्पर्य हुआ-'ओ३म्' का जप करते समय उसके अर्थ का भावन-चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिए। यही ईश्वरप्रणिधान है, इससे शीघ्र समाधिलाभ की सम्भावना रहती है। [द्रष्टव्य, सूत्र २।४५]

परमात्मा के 'ओ३म्' नाम की महत्ता और उसके जप-विधान के शास्त्रीय संकेतों का निर्देश गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है। प्रणव के जप का तात्पर्य है-'ओ३म्' का निरन्तर मानसिक उच्चारण, जिसमें वाक् इन्द्रिय का व्यापार नितान्त नहीं होना चाहिए। प्रणव की मानसिक कल्पना के साथ प्रणव के अर्थ का निरन्तर चिन्तन करते रहना। प्रणव का वाच्य अर्थ परमात्मा है, उसके स्वरूप को अपने ध्यान से न हटने देना-उसका चिन्तन है। यह स्थिति प्राप्त करना यद्यपि अति कठिन है, पर निरन्तर तथा दीर्घकाल अभ्यास से इसका आभास होने लगता है। तब वह स्थिति अभ्यासी को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है, चित्त चाहने लगता है कि यही स्थिति बराबर बनी रहे। अभ्यास की प्रथम दशा में एक क्षण भी इस प्रकार चित्त रुकना कठिन होता है। ध्यान के लिए बैठते ही अभ्यस्त जीवन के सब खुराफ़ात एकदम उभरकर सामने आ जाते हैं। धीरे-धीरे उनको हटाते हुए 'ओ३म्' जप के आधार पर चित्त को परमात्मस्वरूप में एकाग्र करने का प्रयास करते रहना अपेक्षित होता है।

परमात्मा के कैसे स्वरूप का चिन्तन होना चाहिए; इस विषय में अभ्यासी व्यक्तियों का कहना है-परमात्मा के किसी आकार की कल्पना नहीं हो सकती, उसे चेतन, आनन्द प्रकाशस्वरूप बताया जाता है। ध्यान के समय उसका यही स्वरूप चिन्तन का लक्ष्य रहता है। उपासक यह कल्पना करे-मेरे सब ओर प्रकाश ही प्रकाश फैला हुआ है, उस दिव्य प्रकाश में सब कुछ अन्तर्हित हो गया है; सर्वत्र विस्तृत प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कोई कल्पना चित्त में न उभरने दे। वह

प्रकाश अनन्त अनुपम आनन्द से परिपूर्ण है, ऐसी भावना जागृत रखे। तात्पर्य है- उपासक अपने आपको-समस्त विश्व में परिपूर्ण उस दिव्य प्रकाश व आनन्द के मध्य में बैठा हुआ कल्पना करे, मेरे चारों ओर ऊपर-नीचे तेजोमय आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है। प्रणव-जप के साथ इस परमात्मास्वरूप चिन्तन की दृढ़ता व नैरन्तर्य चित्त की एकाग्रता का चिह्न है। यह स्थिति बड़े परिश्रम व पुण्य से प्राप्त होती है। प्राप्त चाहे जब हो, पर इस स्थिति की प्राप्ति के विषय में सन्देह का अवकाश नहीं है।

'ओ३म्' के जप करने की भी विशेष विधि है, जो इस मार्ग के अभ्यासीजनों की परम्परा में प्रचलित है। यह 'ओ३म्' का जप श्वास-प्रश्वास की गति के साथ करना चाहिए। प्रथम अभ्यासी शारीरिक दृष्टि से शुद्ध पवित्र होकर अभ्यास योगासन से बैठ पाँच-छह प्राणायाम[१] करे। उसके अनन्तर श्वास-प्रश्वास गति सम होने पर 'ओ३म्' का जप प्रारम्भ करे। जप के लिए इसके दो भाग किये जाते हैं, एक-'ओ३' दूसरा-'म्'। श्वास लेते समय उपासक को कल्पना करनी चाहिए कि श्वास के साथ-साथ नाभिप्रदेश से उठकर 'ओ३' की ध्वनि मस्तिष्क तक पहुँच रही है। यह 'ओ' की प्लुत ध्वनि का स्वरूप है।

---

१. प्राणायाम का प्रकार किसी जानकार से सीख लेना चाहिए। साधारणविधि है-प्रथम थोड़ा गहरा श्वास लेकर वेग के साथ प्रश्वास ले, अर्थात् वायु को पूर्णरूप से बाहर निकालने का प्रयास करे, जब समझे कि यथासम्भव वायु निकल गया है, तब वहीं प्राण को रोके और देह के ऊपरी भाग को ऊपर उठाते हुए उदर को जितना अधिक अन्दर [पीछे] की ओर खींच सके, खींचे। तब जितना सम्भव हो, प्राण को वहीं रोके रखे। जब घबराहट अनुभव हो, तब धीरे-धीरे गहरा श्वास लेकर यथासम्भव पूर्णरूप में वायु को अन्दर भर ले; फिर वहीं श्वास को रोके रखे, जितना शक्य हो। घबराहट होने पर धीरे-धीरे प्रश्वास के साथ वायु को बाहर निकालकर दो-तीन बार साधारण श्वास-प्रश्वास लेकर पुनः पहले के समान प्रक्रिया प्रारम्भ करे। पुनः प्रारम्भ करने से पूर्व तक एक प्राणायाम होता है। इसमें वायु का अन्दर खींचना [श्वास] 'पूरक' वायु का बाहर निकालना [प्रश्वास] 'रेचक' तथा पूरक व रेचक के अनन्तर वहीं रोके रखना 'कुम्भक' कहा जाता है।
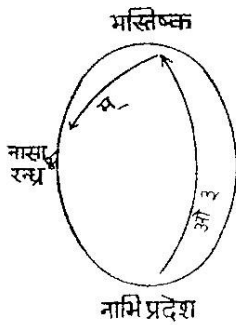
'ओ३' जब मस्तिष्क में टकराता है, तब श्वासगति पूरी होकर वायु प्रश्वास के रूप में नासारन्ध्र से बाहर निकलने लगता है। उस काल में उपासक को कल्पना करनी चाहिए कि यह 'ओ३म्' का दूसरा भाग 'म्' उच्चरित हो रहा है अथवा वायु के साथ बाहर को जा रहा है। यह 'ओ३म् का एक जब हुआ। इसी प्रकार पुनः श्वास के साथ 'ओ३' और प्रश्वास के साथ 'म्' के ध्वनित व उच्चरित होने की कल्पना के रूप में जप करता रहे, जितना समय इस अनुष्ठान के लिए अपेक्षित समझे।

यह 'ओ३' और 'म्' का श्वास-प्रश्वास के साथ कल्पना-मूलक उच्चारण एक आयताकार [रेखाचित्र] बना लेता है।

सर्किल की इन रेखाओं पर निर्धारित 'ओ३' ध्वनि के साथ चित्त को उसके साथ-साथ रहना सधाया जाता है। ओ३म् के जप और उसके अर्थ-चिन्तन के घेरे में चित्त को लपेटकर रखना है, इससे बाहर न निकलने पाये। यही चित्त का निरोध व एकाग्र करना है।

गत सूत्र [१।२७] की व्याख्या में निर्देश किया गया है, कि उपनिषद् आदि आध्यात्मिक वाङ्मय में 'ओ३म्' की उपासना के संकेत मिलते हैं। यहाँ प्रश्न उपनिषद् के इस विषय के प्रसंग का संक्षेप में निर्देश करना उपयोगी होगा। यह केवल ध्यान या चिन्तन नहीं, यह वस्तुतः एक क्रियानुष्ठान है। यह अनुष्ठान श्वास-प्रश्वास की गति के आधार पर किया जाता है, जो स्वयं एक क्रियारूप है। उसके अनुसार 'ओ३म्' का मानव उच्चारण व कल्पनामूल ध्वनि क्रिया का रूप ग्रहण करती है। जैसे प्रथम कहा गया-उस ध्वनि को नाभि प्रदेश से

उठाकर मस्तिष्क [आत्म-निवासस्थान-मस्तिष्कगत हृदय] तक ले जाना है। इस रूप में 'ओ३म्' ध्वनि त्रिमात्रिक प्लुताकार हो जाती है। इसका विवरण प्रश्न उपनिषद् के पाँचवें प्रश्न में है। शिवि के पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया–जो व्यक्ति जीवनपर्यन्त ओंकार का अभिध्यान करता रहता है, वह किस लोक को प्राप्त होता है?

महर्षि पिप्पलाद ने 'ओ३म्' के एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक मानस उच्चारण के तीन प्रकार का अभिध्यान बताकर अन्त में त्रिमात्रिक ओंकार के अभिध्यान को सर्वश्रेष्ठ प्रकट किया है। अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए किसी वैदिक वाङ्मय से निम्नलिखित सन्दर्भ उद्धृत किया है–

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥[1]

योगानुष्ठान में प्रयुक्त हुई 'ओ३म्' की प्लुतरूप तीन मात्रा मृत्युमती हैं, अस्थायी हैं, क्योंकि वे मानस उच्चारण रूप में क्रियात्मक हैं। वे एक-दूसरे से सटी हुई हैं, इसीलिए उनका एकात्मक प्लुतरूप है, पर अपने रूप में वे एक-दूसरे से अलग भी हैं। यदि एक मात्रा अन्य में सर्वात्मना समाविष्ट हो जाय, तो प्लुत उच्चारण का अस्तित्व ही सम्भव न होगा। तीनों-एक-एकमात्रा अपने अस्तित्व को बनाये रखकर ही-मिलकर प्लुतरूप में उच्चरित हो पाती हैं। नाभिस्थान से मस्तिष्क तक ध्वनिमार्ग के तीन स्तर हैं–बाह्य, मध्यम, आभ्यन्तर। श्वास के साथ जैसे ही ध्वनि को नाभिप्रदेश से उठाया जाता है, यह उसका बाह्य स्तर है। उसके आगे कण्ठ तक मध्यम तथा आगे मस्तिष्क तक आभ्यन्तर। विधिपूर्वक इन सब स्तरों में क्रियानुष्ठान का प्रयोग किये जाने से ज्ञाता योगी स्थिर समाधि को प्राप्त कर

---

१. सांख्यसिद्धान्त (पृष्ठ १५९; २१९) में प्रश्नोपनिषत् के इस सन्दर्भ का व्याख्यान आधिभौतिक आधार पर किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में आध्यात्मिक दृष्टि से है।

लेता है। चित्तवृत्तियों का निरोध होकर व्युत्थान दशा उस योगी को विचलित नहीं करती।

इस प्रक्रिया का अनुष्ठान करते हुए जैसे-जैसे उपासक अपने मार्ग पर उन्नत हो जाता है, उसके अनुसार योग के विभिन्न स्तरों का शास्त्र में वर्णन है, जो स्थूलरूप से प्रथम प्राणायाम और प्रत्याहार, अनन्तर धारणा, ध्यान, समाधि के रूप में कहा जाकर समाधि के सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात स्तरों में सम्पन्न होता है।

यदि उपासक 'ओ३म्' जप के रूप में योगाभ्यास का प्रारम्भ करने से पूर्व एक लाख या सवा लाख गायत्रीमन्त्र का विधिपूर्वक जप कर ले तो चित्तभूमि योगाभ्यास के लिए उर्वरा बन जाती है। यदि गायत्री का तीन लाख जप कर लिया जाय, तो यह अत्युत्तम है। इससे चित्तभूमि के बहुत से राग, द्वेष, क्रोध, मोह आदि खरपत साफ हो जाते हैं। ये उपासक के ऊपर कभी प्रभावी (हावी) नहीं होते। प्रतिदिन अपेक्षित समय देकर यदि गायत्री अनुष्ठान को पहले सम्पन्न कर लिया जाय और इसको फिर भी 'ओ३म्' जपानुष्ठान के साथ चालू रखा जाय तो अत्युत्तम है। इस प्रकार प्रणव का जप और उसके अर्थ का भावना-चिन्तन करते रहने से चित्त एकाग्र हो जाता है।

अपनी वैदिकचर्या में उक्त अनुष्ठान के लिए अपेक्षित समय निर्धारित कर लेना सुविधाजनक होता है। अनुष्ठान या अभ्यास के लिए निरन्तर बैठा रहना सम्भव नहीं, अन्य दैहिक कार्य आदि करने आवश्यक होते हैं। अनुष्ठान के लिए स्थान की अनुकूलता सबसे अधिक एकान्त का होना है। जो अभ्यासी अपनी स्थितिवश एकान्त स्थान में न रह सकने के लिए बाध्य हैं, आवास-प्रदेशों में रहना पड़ता है, उनके लिए अभ्यास का समय मध्यरात्रि के अनन्तर रात्रि का तृतीय प्रहर अनुकूल रहता है। अभ्यास के समय बाहर की ध्वनियों का कान में पड़ते रहना सबसे बड़ा बाधक है। आवास-प्रदेशों में वह समय प्रायः

ध्वनिहीन शान्त निर्वात रहता है।

अभ्यासी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए, वह अपने रिक्त समय में अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन-पारायण करता रहे, इधर-उधर के अप्रासंगिक साहित्य के अवलोकन में अपना समय नष्ट न करे। इस प्रकार की प्रवृत्ति उसे कभी-कभी अपने निर्धारित मार्ग से उठाकर दूर पटक देती है। अध्यात्मग्रन्थों क पर्यालोचन अभ्यासी के विचारों को अभिलषित मार्ग के अनुकूल बनाये रखता है। योग और स्वाध्याय का साथ-साथ चलते रहना आत्मसाक्षात्कार में सहायक होता है॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने प्रणवजप आदि अनुष्ठान का फल बताया--

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥२९॥

[ततः] उससे **[प्रत्यक्-चेतन-अधिगमः]** प्रत्यक्चेतन-अन्तरात्मा का अधिगम-ज्ञान साक्षात्कार, **[अपि]** भी **[अन्तराय-अभावः]** अन्तराय-विघ्नों-बाधाओं का अभाव (हो जाता है) **[च]** तथा।

प्रणव के जप और उसके अर्थ की भावनारूप ईश्वर-प्रणिधान से अन्तरात्मा का साक्षात्कार हो जाता है तथा आत्मसाक्षात्कार होने में जो विघ्न-बाधाओं की सम्भावना रहती है, उनका भी अभाव हो जाता है। तात्पर्य है-ईश्वर-प्रणिधान से निर्विघ्न निर्बाध आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

गत २३वें सूत्र में समाधिलाभ के लिए ईश्वरप्रणिधान को साधन बताया है। यह ऐसा साधन है, जिससे अन्य साधनों की अपेक्षा-शीघ्र सफलता प्राप्त होती है।

सूत्र के 'प्रत्यक्चेतन' पद का अर्थ है-देह के अन्दर बैठा हुआ चेतन आत्मा। बाह्य विषयों की ओर से विमुख होकर जो चेतन अपने अन्तःकरण तक सीमित रहता है, अर्थात् बाह्य विषयों से विरक्त हुआ उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होता, केवल

अन्तःकरण [बुद्धि] के सहयोग से परमात्मा के चिन्तन [समर्पण भावना से ध्यान करते रहने] में प्रवृत्त रहता है; वह 'प्रत्यक्चेतन' जीवात्मा-तत्त्व है। अथवा जो देह में विद्यमान चेतन बुद्धि, इन्द्रिय आदि कारणों के सहयोग से अपने विपरीत जड़ पदार्थों तक पहुँचता, उनको जानता एवं भोगता है, वह 'प्रत्यक्चेतन' है। भाष्यकार ने इस 'प्रत्यक्चेतन' को 'बुद्धेः प्रतिसंवेदी' लिखा है। तात्पर्य है- जो बुद्धि के सहयोग से प्रत्येक बाह्य पदार्थ को जानने में समर्थ होता है। यहाँ 'बुद्धि' पद प्रधान होने से सब कारणों का उपलक्षण है। यह 'प्रत्यक्चेतन' [जीवात्मा-पुरुष] अपने साक्षात्कार के लिए 'ईश्वरप्रणिधान' का अनुष्ठान करता है, और उससे समाधिदशा को प्राप्तकर स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

जिज्ञासा होती है-अन्य [ईश्वर] के प्रणिधान से अन्य [जीवात्मा] का साक्षात्कार कैसे हो जाता है? जिसका प्रणिधान किया जाय, उसका साक्षात्कार होना संगत कहा जाता है। अन्य के प्रणिधान से अन्य का साक्षात्कार कहना प्रमाण संगत न होगा।

वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा दोनों समानवर्गीय तत्त्व हैं। दोनों चेतन, अ-त्रिगुण अपरिणामी वृद्धि-ह्रास आदि से रहित एवं ज्ञाता हैं। इनसे विपरीत त्रिगुणात्मक तत्त्व जड़, परिणामी, वृद्धि ह्रास आदि से युक्त एवं केवल ज्ञेय होता है। इस प्रकार समानवर्गीय होने के कारण एक के प्रणिधान से अन्य का साक्षात्कार प्रमाणसंगत है। जैसे एक दीपक के प्रज्वलित कर लिये जाने पर उससे अन्य दीपक अनायास प्रज्वलित कर लिया जाता है;[1] यही स्थिति ईश्वरप्रणिधान से आत्मसाक्षात्कार में समझनी चाहिए। चेतन, नित्य आदि रूप में समान होने पर भी

१. यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्॥ श्वे० २।१५॥
इन दोनों तत्त्वों के समानवर्गीय होने के लिए द्रष्टव्य हैं-
ऋ० १।१६४।२०॥, यजु० ३१।१८-१९॥

जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, एकदेशी तत्त्व है, इसे अपने अनेक कार्यों की सफलता में परमात्मा के अनुग्रह कृपाभाव की अपेक्षा सदा बनी रहती है। मानवजीवन की आत्मसाक्षात्कार-विषयक पूर्ण एवं अन्तिम सफलता के लिए भी 'ईश्वरप्रणिधान' प्रधान साधन है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'ईश्वरप्रणिधान' के दो फल बताये। एक-आत्मतत्त्व का प्रत्यक्षबोध, दूसरा-उसमें आनेवाले विघ्नों का अभाव। इनमें पहला योग अथवा समाधि के अन्तिम दशा है जिसके विषय में सूत्रकार ने बताया-उस दशा में आत्मद्रष्टा स्वरूप में अवस्थित होता है। उससे पहले तक आत्मा जितनी दशाओं में से गुजरता है, उन सबमें आत्मा का प्रकृति के साथ सम्पर्क बना रहता है। आत्मा की इस दशा में मध्यकालिक आचार्यों ने आत्मा को 'शबल' 'सगुण' तथा 'अपर' नाम दिया है। इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति दशाओं के आधार पर इस शबलरूप के यथाक्रम 'विश्व, तैजस, प्रज्ञ' नाम बताये हैं। शबल आत्मा के ये नाम यथाक्रम स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर के साथ आत्मा के सम्बन्ध के आधार पर हैं।

जैसे शरीर के साथ सम्बन्ध से शबल आत्मा इस रूप में समझा जाता है, ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप प्रकृति के सम्बन्ध से परब्रह्म परमात्मा का शबलरूप यथाक्रम 'विराट, हिरण्यगर्भ' और 'ईश्वर' नाम से समझना चाहिए।

वस्तुत: आत्मतत्त्व के विषय में इस प्रकार का विवेचन उन मध्यकालिक आचार्यों ने प्रस्तुत किया है, जो जीवात्मा-तत्त्व को परब्रह्म परमात्मा-तत्त्व से अतिरिक्त नहीं मानते। उनकी इस विवेचना का कारण क्या रहा होगा, यह जानना यहँ अपेक्षित नहीं, परन्तु आत्मतत्त्व के इस प्रकार के विवेचन को सांख्य-योगाचार्यों ने आदर नहीं दिया है। प्रस्तुत शास्त्र की मान्यता है-आत्मतत्त्व के प्रकृति-सम्पर्क में आने पर भी आत्मा के शुद्ध निर्गुण चेतनस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। सम्पर्क होने

पर भी ये एक-दूसरे में मिश्रित नहीं होते। इनका अन्योऽन्य-मिथुनीभाव कभी नहीं होता। सम्पर्क में आने का कवेल इतना तात्पर्य है कि चेतन आत्मतत्त्व अभिलषित कार्यों की पूर्ति के लिए प्रकृति को अपने साधन के रूप में उपयोग करता है। यह उपयोग का क्रम जीवात्मतत्त्व के लिए पूर्णसमाधि प्राप्ति के पहले तक बना रहता है, जब इसका उपयोग अपेक्षित नहीं रहता, उसी को आत्मा द्रष्टा की स्वरूपावस्थिति कहा गया है। इससे पहले की शेष दशा को वृत्तिसरूप [सूत्र-४] कहा है। पर उस दशा में भी आत्मा अपने शुद्ध निर्गुण चेतनस्वरूप से वञ्चित नहीं होता।

परब्रह्म परमात्मा का प्रकृति के साथ सम्पर्क जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय द्वारा प्रकट किया जाता है। इससे परमात्मा का स्वरूप शबल, मिश्रित, सगुण, अपर [निम्नकोटि] का नहीं हो जाता। यदि ऐसा प्रस्तुत शास्त्र को अभिमत होता, तो वह पूर्णसमाधिलाभ के लिए 'ईश्वरप्रणिधान' का निर्देश न करता। क्योंकि 'ईश्वर' उस पर-आत्मतत्त्व का शबलरूप है, जो कारणभू प्रकृति के सम्पर्क से उभरता है। गतसूत्र [२३] में 'ईश्वर' पद से वही परात्मतत्त्व अभिप्रेत होना चाहिए, जो शुद्ध निर्गुण चेतन है और जिसका अनुग्रह प्रकृतिबन्धन से छुड़ा सकता है। जो स्वयं 'शबल' है, प्रकृति से प्रभावित है, उसका प्रणिधान उक्त कार्य के लिए निष्फल होगा।

यदि आत्मतत्त्व का इस प्रकार का विभाग-विवेचन व्यवहार-स्थिति को सुगमता से समझाने के लिए एक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया गया हो, तो कोई विशेष आपत्ति की बात न होगी॥२९॥

ईश्वरप्रणिधान का दूसरा फल 'अन्तरायों का अभाव' बताया। समाधिलाभ में विघ्नरूप से उपस्थित होनेवाले वे

अन्तराय क्या हैं? आचार्य सूत्रकार निर्देश करता है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

[**व्याधिस्त्यान...नवस्थितत्त्वानि**] व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्त्व ये नौ [**चित्तविक्षेपाः**] चित्त के विक्षेप हैं, [**ते**] वे [**अन्तरायाः**] विघ्न हैं, बाधक हैं योग के।

देह आदि में व्याधि, रोग आदि की स्थिति चित्त में विक्षेप, व्यथा, बेचैनी उत्पन्न कर देती है, जिससे चित्त योग की ओर प्रवृत्त नहीं हो पाता, इसी कारण वे व्याधि आदि योग में अन्तराय विघ्नकारक--बाधक बताये गये हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

व्याधि—शरीर के रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र इन सात धातुओं तथा वात, पित्त, कफ इन तीन प्रकार के दोषों में विषमता-विकार आ जाने से जो ज्वर आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वह व्याधि है। खाये-पिये अन्न, जल आदि का परिपाक 'रस' कहा जाता है। रक्त आदि सर्वविदित हैं। नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की दुर्बलता आदि भी व्याधि में परिगणित हैं। देह तथा इन्द्रियों के रोग चित्त को बेचैन करते रहने के कारण योगप्रवृत्ति में बाधक होते हैं।

स्त्यान—इच्छा एवं लाभ होने की सम्भावना का ज्ञान होने पर भी उस ओर से अकर्मण्य बने रहना, उसमें रुचि न लेना।

संशय—योगानुष्ठान व उसके फल के विषय में संदिग्ध रहना, योग के लिए अनुष्ठान करें या न करें? क्या मलूम, इसका कुछ फल मिले या न मिले? यह अनिश्चितता वा दोलायमान स्थिति योग में बाधक रहती है।

प्रमाद—लापरवाही, उपेक्षा की भावना, जानते हुए भी योगसाधनों का अनुष्ठान न करना।

आलस्य—अनुष्ठान में रुचि व सामर्थ्य होने पर भी देहादि की क्रिया द्वारा उसमें न लगना अथवा मनोयोगपूर्वक कर्त्तव्य में प्रवृत्ति का न होना। कफ आदि दोषों के प्रकोप से देह का भारीपन तथा तमोगुण के प्राधान्य से चित्त का भारीपन ध्यान में बाधक बन जाते हैं।

अविरति—सांसारिक विषयों की ओर से विरक्ति का न होना; रूप, रस आदि विषयों में तृष्णा का बने रहना। इससे योगसाधनों की ओर प्रीति का अभाव हो जाता है।

भ्रान्तिदर्शन—योगविषयक यथार्थता को अशुद्ध समझना, गुरु द्वारा बताये मार्ग को ठीक न समझना अथवा योगी की प्रारम्भिक सफलताओं में जो विविध दृश्य दिखाई देते हैं, उनको भ्रम से पूरी सफलता समझ लेना। अथवा योगविषयक किसी भी प्रकार का मिथ्याज्ञान।

अलब्धभूमिकत्व—योगानुष्ठान करते हुए योग की किसी भूमि का प्राप्त न होना। मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति, अतिक्रान्तिभावनीय ये चार योगभूमि—योग की अवस्था—कही जाती हैं। क्रमपूर्वक होनेवाले योग की सफलता के ये स्तर हैं। योग की सफलता के किसी स्तर को प्राप्त न होने पर अनुष्ठाता निराश होकर योगमार्ग को छोड़ बैठता है।

अनवस्थितत्व—योग की सफलता के किसी स्तर को प्राप्त कर लेने पर चित्त का पूर्णरूप से अवस्थित न होना। किसी समाधिभूमि की सफलता पर जब अनुष्ठाता को यह अनुभव होता है कि इस अवस्था में भी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं हुआ है, ये उभरती रहती हैं और व्यथित करती हैं, तब उसकी ऐसी भावना जागृत होने लगती हैं कि योग आदि सब मिथ्या है। योगविषयक सफलता मिल जाने पर भी जब वृत्तियाँ दु:खी कर रही हैं, तो इससे बनता-बनाता कुछ नहीं। वह आगे प्रयत्न करना छोड़ बैठता है। वस्तुस्थिति यह है कि चित्तवृत्तियों का पूर्णनिरोध उसी समय हो पाता है, जब अनुष्ठाता समाधि

की अन्तिम अवस्था में पहुँचता है। प्रारम्भिक अथवा मध्यवर्ती सिद्धियाँ-सफलतायें चित्तवृत्तियों के पूर्णनिरोध में समर्थ नहीं होतीं। उस स्थिति को देखकर अनुष्ठाता योग को व्यर्थ समझकर छोड़ बैठता है।

ये नौ अन्तराय हैं, जो योग के विभिन्न स्तरों पर योगानुष्ठाता के सम्मुख आते रहते हैं, जो चित्त को विक्षिप्त कर योगमार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं। ये चित्त के विक्षेप, योग के मल, अन्तराय अथवा प्रतिपक्षी कहे जाते हैं॥३०॥

योगी को सतर्कता से इनका प्रतिरोध-इनके वश में न आने का प्रयास-सतत करते रहना चाहिए, क्योंकि इनके रहते हुए इनके और भी अनेक साथी अवसर पाकर योग में बाधा डालनेवाले उठ खड़े होते हैं। आचार्य सूत्रकार दयाभाव से उनका निर्देश करता है-

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-सहभुवः॥३१॥

[**दुःखदौर्मन...प्रश्वासाः**] दुःख दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास ये सब [**विक्षेपसहभुवः**] पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथ-साथ उभरते रहते हैं।

पूर्व सूत्र में बताये व्याधि आदि नौ अन्तरायों के-ये दुःख आदि पाँच साथी हैं। विभिन्न स्तरों पर उभरकर योगानुष्ठान में बाधक होते रहते हैं। इनका विवरण इस प्रकार समझना चाहिए-

दुःख-अपने प्रतिकूल अनुभव का नाम दुःख है। यह आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का प्रसिद्ध है। आध्यात्मिक दुःख के 'शरीर' और 'मानस' दो अवान्तर भेद हैं। शारीर आध्यात्मिक दुःख वह है, जो शरीर में रोग आदि उत्पन्न हो जाने के कारण होता है। मानस आध्यात्मिक दुःख वह है, जो काम, क्रोध आदि के कारण होता है। सिंह,

सर्प, मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों से पहुँचनेवाला दु:ख 'आधि भौतिक' है। जो दु:ख अति वर्षा, अति आतप, वज्रपात, भूकम्प आदि के द्वारा होता है, उसे आधिदैविक कहा जाता है। इन सब परिस्थितियों से चित्त विचलित होकर योगानुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति में सहयोगी नहीं रहता। जीवन की चिन्ता अधिक हो जाने से उधर झुक जाता है। इससे चोट खाये हुए प्राणी सदा इसको दूर हटाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

दौर्मनस्य—सत्-इच्छाओं के विघात एवं प्रतिकूल आपातों से मन का उद्विग्न हो जाना 'दौर्मनस्य' है। किन्हीं कारणों से जब चित्त में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, तो यह स्थिति योग के लिए अनुकूल नहीं रहती। खिन्नचित्त व्यक्ति योगानुष्ठान के प्रति प्रवृत्त नहीं हो पाता।

अङ्गमेजयत्व—देह के अङ्गों का हिलना-डुलना, काँपना 'अङ्गमेजयत्व' है। योगानुष्ठान के लिए आवश्यक है—व्यक्ति एक आसन से पर्याप्त समय तक निश्चेष्ट बैठा रह सके। आसन सिद्ध न होने-किसी बाह्य आपात एवं रोग आदि के कारण शरीर का काँपते या हिलते-डुलते रहना योगानुष्ठान के अनुकूल नहीं होता।

श्वास—नासिकारन्ध्र द्वारा बाहर से वायु का अन्दर प्रवेश होना 'श्वास' कहाता है। साधक की इच्छा के विरुद्ध जब श्वास बाहर से अन्दर जाय, तो यह अभ्यासी के लिए अनुकूल नहीं। यह रेचक प्राणायाम का प्रतिबन्धी है। धूल, धुआं व दुर्गन्ध आदि बाह्य आपातों से कभी ऐसी स्थिति आ जाती है। इसी कारण योग के लिए एकान्त आदि विशेष स्थानों का निर्देश है।

प्रश्वास—देह के अन्दर से बाहर की ओर वायु का फेंकना-निकालना 'प्रश्वास' है। यह भी साधक की इच्छा के विपरीत हो, तो बाधक है। यह कुम्भक प्राणायाम का प्रतिबन्धी है।

ये दु:ख आदि बाधायें प्राय: उसी समय सताती हैं, जब

साधक विक्षिप्तचित्त रहता है, अर्थात् पूर्वोक्त व्याधि आदि विक्षेपों से अभिभूत रहता है। इसी कारण इनको प्रस्तुत सूत्र में 'विक्षेपसहभुवः' कहा गया है। विक्षेपों के साथ ये उपद्रव भी साधक के सन्मुख आ जाते हैं। साधक इनसे बचा रहे, इसलिए इनका निर्देश किया गया है॥३१॥

व्याधि आदि ये सब विक्षेप समाधि के विरोधी होते हैं इनको पूर्वोक्त अभ्यास और वैराग्य के द्वारा हटाया जा सकता है। इसके लिए आचार्य सूत्रकार पुनः अभ्यास का स्मरण कराता है—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥३२॥

[**तत्प्रतिषेधार्थम्**] उनके प्रतिषेध-निरोध के लिए [**एकतत्त्वाभ्यासः**] एकतत्त्व का अभ्यास आवश्यक है।

सूत्र के 'एकतत्त्व' पद का प्रयोग 'ईश्वर' के लिए हुआ है। एकमात्र ध्येय तत्त्व ईश्वर के अतिरिक्त अन्य नहीं। 'अभ्यास' का तात्पर्य उसकी निरन्तर उपासना अथवा प्रणिधान है। प्रस्तुत प्रसंग में इसी का उपपादन किया जा रहा है। फलतः व्याधि आदि विक्षेपों और उनके सहचर दुःख दौर्मनस्य आदि योग-विरोधी परिस्थितियों को दूर रखने अथवा रोकने के लिए निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक ईश्वरप्रणिधान में संलग्न रहना सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसका अनुष्ठान करते रहने से विक्षेपों का प्रकोप साधक पर नहीं हो पाता। यदि कभी अचानक हो जाय, तो वह साधक को बिना सताये स्वतः दूर हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान में संलग्न साधक को उसके घबराने या चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं।

सूत्र के 'एकतत्त्व' पद का—किसी एक तत्त्व पर चित्त को लगाने का अभ्यास करना—यह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि साधक कहीं-न-कहीं चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न तो करता ही रहता है, पर उस दशा में ईश्वरानुग्रह के बिना

विक्षेप प्रभावी होकर साधक को सताते व दबाते रहते हैं। अपने आपको सर्वात्मना ईश्वरार्पण कर देने की भावना साधक को इस दिशा में दृढ़, साहसी व उदात्त बना देती है, तब किसी प्रकार के विक्षेप साधक पर प्रभावी नहीं हो पाते। अट्ठाईसवें सूत्र में जो पद्धति अभ्यास की बताई है, वही ईश्वरप्रणिधान है। प्रस्तुत में प्रसंग भी उसी का है। उसी से शीघ्र समाधिलाभ का अनुभवी आचार्यों ने आश्वासन दिया है। उसी के महत्त्व का यह उपपादन है।

योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु ने सूत्र के 'एकतत्त्व' पद से 'ईश्वर' एकतत्त्व समझने का प्रतिषेध किया है। भिक्षु का कहना है—

सूत्र में 'एकतत्त्व' सामान्य पद है, इससे विशेष अर्थ ईश्वर का ग्रहण करना उचित नहीं। सामान्य पद के प्रयोग में उस पद को किसी विशेष अर्थ का बोधक समझना वांछनीय नहीं माना जाता। इसलिए 'एकतत्त्व' सामान्य पद से कोई भी स्थूल आदि पदार्थ अभ्यासी के लिए चित्त की एकाग्रता निमित्त स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ ईश्वर के ग्रहण करने में पुनरुक्ति दोष भी है, क्योंकि गतसूत्रों में अभी प्रणवजप अथवा ईश्वरप्रणिधान का कथन कर दिया गया है, उसी को फिर यहाँ कहना पुनरुक्त है। ऐसी व्याख्या किन्हीं आचार्यों ने उक्त पद की की है।[१]

सामान्यपद का उपयुक्त अवसर पर विशेष अर्थ के बोध न कराने में कोई अनौचित्य नहीं माना जाता। ऐसे प्रयोग शास्त्र व लोक में प्रायः होते रहते हैं, जो सर्वमान्य स्वीकार किये जाते हैं। 'सब ब्राह्मण आ गये?' यह कहने पर सामान्य 'ब्राह्मण' पद से आमन्त्रित विशेष ब्राह्मण ही अपेक्षित होते हैं, सामान्य ब्राह्मणमात्र नहीं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में 'एकतत्त्व' पद से ईश्वर का ग्रहण अनुचित नहीं कहा जा सकता।

१. द्रष्टव्य, विज्ञानभिक्षुकृत योगवार्त्तिक की प्रस्तुत सूत्र पर प्रारम्भिक पंक्तियाँ

यदि इस पद को प्रस्तुत प्रसंग में गम्भीरता से देखा जाय, तो वस्तुतः यह सामान्य पद न होकर विशेष पद ही है। कोई भी स्थूल पदार्थ एकमात्र तत्त्व नहीं होता, वह एक 'पदार्थ' कहा जा सकता है, पर तात्त्विक रूप से वह एक नहीं है। सूत्रकार ने 'एक' के साथ 'तत्त्व' पद का प्रयोग कर यह स्पष्ट किया है–जिस एक पर चित्त की एकाग्रता के लिए अभ्यास किया जाय, वह तात्त्विकरूप से एक होना चाहिए। ऐसा जप्य व उपास्य तत्त्व केवल ईश्वर है। अभ्यास के आधार-रूप में उसका यहाँ निर्देश पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता। गतसूत्रों में 'ईश्वरप्रणिधान' के स्वरूप का निरूपण हुआ है, जो अभ्यास-वैराग्य के अतिरिक्त चित्तवृत्तियों के निरोध एवं समाधि सिद्धि के लिए–एक उपाय बताया है (२३)। यहाँ अन्तरायों के प्रतिषेध के लिए उसका निर्देश है यह पुनरुक्त का स्वरूप नहीं है, इस कथन का विशेष प्रयोजन है, जो सूत्र से स्पष्ट है।

प्रसंगवश जहाँ अपेक्षित समझा है, सूत्रकार ने स्वयं एकाधिक बार ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख किया है।[१] क्या इसको पुनरुक्त कहा जायगा? फलतः सूत्र में 'एकतत्त्व' पद का 'कोई स्थूल पदार्थ' अर्थ न होकर 'ईश्वर' अर्थ ही शास्त्रीय एवं प्रसंगानुकूल है। स्थूल अर्थ चित्त की एकाग्रता का आधान न होकर विक्षिप्तता का ही प्रयोजक हुआ करता है।

शास्त्रकार ने चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' बताया है, ये चित्त के एकाग्र होने की अवस्था है, अर्थात् तब चित्त एकमात्र ध्येय में व्यापृत रहता है, अन्य कोई ध्येय उस समय वहाँ नहीं उभरता। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने एकतत्त्व के चिन्तन को लक्ष्य पर चित्त की तात्कालिक स्थिति का विवेचन प्रस्तुत किया है। चित्त में निरन्तर एक ध्येय के प्रवृत्त रहने और ध्येयान्तर के न उभरने के लिए चित्त को स्थिर एकरूप माना जाता है। परन्तु दार्शनिक क्षेत्र में चित्त के

१. द्रष्टव्य, साधनपाद, सूत्र १ तथा ४५।

प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने की भी एक मान्यता है। उसके अनुसार जिस एक क्षण में चित्त जिन वृत्तियों से व्यापृत है, उससे अतिरिक्त वृत्तियों के उभरने की सम्भावना भी उसी क्षण में नहीं हो सकती। तात्पर्य है, चित्त के किसी एक क्षण में जो वृत्ति वहाँ उपस्थित हैं, वे ही वहाँ रहती हैं, वृत्यन्तर के उभरने का वहाँ कोई अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार प्रत्येक क्षणिक चित्त में उसी क्षणकाल में वृत्यन्तर का उभरना असम्भव होने से क्षणिक चित्त की मान्यता में प्रस्तुत शास्त्र के प्रतिपादित चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग नितान्त व्यर्थ हो जाता है। प्रत्येक क्षणिक चित्त स्वभाव से उसी एकमात्र वृत्ति का आधार है, जो उस क्षण में वहाँ वर्त्तमान है। यदि वृत्यन्तर की आगे सम्भावना है, तो अन्य क्षण में चित्त भी भिन्न हो जाता है। उसके अपने क्षण में जो वृत्ति हैं, वे ही बनी हैं, वृत्त्यन्तरों का उस क्षण में कोई समावेश नहीं। फलत: चित्त की क्षणिकता में निसर्गत: चित्त एकाग्र बना रहता है, उसके लिए किसी प्रकार का प्रयास सर्वथा निरर्थक है।

ऐसी दशा में चित्त को क्षणिक माननेवाले आचार्य अपने शास्त्रों में अपने अनुयायियों को समाधिप्राप्ति के लिए प्रयास करने का उपदेश क्यों करते हैं? पर उन्होंने उपदेश किया, इससे परिणाम यह निकलता है कि चित्त का क्षणिक मानना अप्रामाणिक व असंगत है। चित्त को स्थिर मानकर एक चित्त में नाना विषयों की वृत्तियों का क्रमश: उभरना और मिटना चलता रहता है, ऐसी स्थिति में उनके निरोध के लिए समाधि का उपदेश और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास व योगाङ्गों का अनुष्ठान आदि सार्थक हैं, उनके वैयर्थ्य आदि का कोई दोष आड़े नहीं आता।

चित्त को क्षणिक मानने में एक विचार ऐसा है कि जब चित्त का विसदृश-प्रवाह चलता है, तब वह चित्त की विक्षिप्त दशा है। क्षणिक होने से चित्त का प्रवाह तो निरन्तर चलता ही रहता है और उसमें विभिन्न-विषयक वृत्तियाँ उभरती व मिटती

रहती हैं, यह विसदृश-प्रवाह है, इसी को 'विक्षेप' कहा जाता है। इसकी रोकथाम के लिए समाधि का उपदेश और अनुष्ठान आदि प्रयास अपेक्षित हैं, जिससे वह सदृशप्रवाह के रूप में आ सके। यही क्षणिक चित्त की एकाग्र अवस्था है। ऐसी दशा में चित्त को स्थिर मानना आवश्यक नहीं। इसका तात्पर्य है- चित्त तो क्षणिक है, पर उसकी वृत्ति-व्यापार अर्थात् एक विषय की प्रतीति (प्रत्यय) जो पहले क्षण में है, वही क्षणान्तरों में-परिवर्तित होनेवाले चित्तों में-बनी रहती है। यही क्षणिक चित्त का- सदृशप्रत्यय-प्रवाहरूप-निरोध व एकाग्रता है। उसी की प्राप्ति के लिए समाधि के उपदेश आदि हैं।

ऐसी स्थिति में प्रस्तुत प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इस तथ्य को जाना जाय कि यह एकाग्रता प्रवाहमार्ग पर आरूढ़ चित्त का धर्म है? अथवा प्रवाह के अंशभूत 'प्रत्यय' का धर्म है? यहाँ पहला विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि चित्त प्रतिक्षण परिवर्तित होने रहने से एक नहीं है। प्रतिक्षण बदलते रहनेवाले को एकाग्र कहना यह अपने आप में विरोधी कथन है। दूसरे विकल्प में चित्त के विक्षेप की अवस्थिति ही असम्भव हो जाती है; चाहे सदृश प्रत्ययप्रवाह हो अथवा विसदृश प्रत्ययप्रवाह, दोनों अवस्थाओं में क्षणमात्र की एकाग्रता समानरूप से बनी रहेगी। सदृश-प्रत्ययप्रवाह में प्रत्ययांश का धर्म एकाग्रता को मानकर जैसे विक्षेप का अवकाश यहाँ नहीं है, इस प्रकार विसदृश प्रत्ययप्रवाह में क्षणिक चित्त की उस क्षण में एकमात्र वृत्ति होने से वृत्यन्तर का अभाव विक्षेप की स्थिति को ठुकरा देता है। तब चित्त की कोई अवस्था ऐसी नहीं रहती, जिसको 'विक्षेप' की स्थिति माना जाय।

फलतः चित्त को क्षणिक न मानकर एक स्थिर तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। उसमें विविध विषयों की वृत्तियाँ-जानकारी (प्रत्यय) उभरती और मिटती रहती हैं। वृत्तियों का ऐसा प्रवाह निरन्तर चला करता है। वह विक्षेप की

स्थिति है। उसे रोककर एकतत्त्व के अभ्यास में वृत्ति को लीन कर देने के लिए योगशास्त्र का उपदेश है। यहाँ रहस्य केवल इतना है--एकतत्त्व के अभ्यास के लिए चित्त को अवस्थित माना जाना आवश्यक है। इसी संकेत को पाकर भाष्यकार ने अन्याभिमत चित्त की क्षणिकता का विवेचन किया है। इसी कारण भाष्यकार ने अगली पंक्तियों द्वारा चित्त की क्षणिकता में दोष प्रस्तुत किया, जो इस प्रकार है–

लोक में यह प्रतीति होती देखी जाती है–जिस घड़े को मैंने आँखों से देखा है, उसी को मैं त्वगिन्द्रिय से छू रहा हूँ। तथा जिसको मैंने पहले छुआ था, उसी को अब देख रहा हूँ। ऐसी प्रतीति प्रत्येक व्यक्ति को होती रहती है। इसको संस्कृत में इस प्रकार कहा जाता है–**'यमहमद्राक्षम् तं स्पृशामि। यञ्च पूर्वमस्पार्क्षम्, तमिदानीं पश्यामि'**। दार्शनिक परिभाषा में ऐसी प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञान' अथवा 'प्रतिसन्धिज्ञान' कहा जाता है। इसमें देखने और सुनने के साधन इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं। पर विभिन्न इन्द्रियरूप साधन से होने वाले ज्ञान का ज्ञाता एक है, जो 'अहम्' (मैं) पद से बोध्य है। भूतकालिक और वर्त्तमानकालिक दोनों स्पर्शन-दर्शन (छूना-देखना) क्रियाओं के साथ 'अहम्' पदबोध्य एक ही ज्ञाता का सम्बन्ध है। तात्पर्य है–जो ज्ञाता भूतकाल में वस्तु को छूनेवाला है, वही ज्ञाता वर्त्तमान में उसे देखनेवाला है।

दर्शनशास्त्र की एक व्यवस्था है–जो व्यक्ति अनुभव करता है, वही उसका स्मरण व प्रत्यभिज्ञान कर सकता है, अन्य नहीं। देखना-सुनना आदि क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा है। बौद्धदर्शन में आत्म-स्थानीय तत्त्व 'विज्ञान' है। विज्ञान-स्थानीय तत्त्व योगदर्शन में चित्त है। फलत: उक्त क्रियाओं के कर्त्ता चित्त का स्थिर माना जाना आवश्यक है, चित्त के क्षणिक माने जाने पर पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीति-अथवा पहले अनुभव किये हुए का स्मरण-होना सम्भव न होगा, क्योंकि जिस चित्त

ने प्रथम अनुभव किया है, अथवा जिसने वस्तु को देखा व छुआ है, वह चित्त क्षणिक होने से अगले आनेवाले क्षणों में नहीं रहता, तब पूर्वानुभूत का स्मरण-तथा भिन्न इन्द्रियों द्वारा उपस्थित विषय का प्रत्यभिज्ञान-नहीं हो सकता। फलतः चित्त की एकाग्रता अथवा चित्त का एकतत्त्वविषयक अभ्यास चित्त के स्थिर मानने पर सम्भव है, अन्यथा नहीं॥३२॥

समाधिलाभ के लिए 'ईश्वरप्रणिधान' उपाय की महत्ता बताकर सम्प्रज्ञातसमाधिभूमि में एकग्रता किन उपायों से सम्भव है, इसका उपपादन 'यथाभिमतध्यानाद्वा' [३९] सूत्र तक किया गया है। इसके लिए राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त-मलों को किस प्रकार दूर करना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने बताया-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥३३॥

[**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्**] मैत्री, दया, मुदित (हर्ष) और उपेक्षा की, [**सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्**] सुख, दुःख, पुण्य, पाप विषयोंवाले व्यक्तियों के प्रति, [**भावनातः**] भावना से [**चित्तप्रसादनम्**] चित्त को प्रसन्न-स्वच्छ-निर्मल रखे, साधक।

संसार में सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी आदि सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रति साधारणजन का अपने विचारों के अनुसार राग, द्वेष आदि उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किसी व्यक्ति को सुखी देखकर दूसरे अनुकूल व्यक्ति का उसमें राग उत्पन्न हो जाता है, प्रतिकूल व्यक्ति को द्वेष व ईर्ष्या आदि। किसी पुण्यात्मा के प्रतिष्ठित जीवन को देखकर अन्य जन के चित्त में ईर्ष्या आदि का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसकी प्रतिष्ठा व आदर को देखकर दूसरे अनेक जन मन में जलते हैं, हमारा इतना आदर क्यों नहीं होता? यह ईर्ष्या का भाव है। इससे प्रेरित होकर ऐसे व्यक्ति पुण्यात्मा में अनेक

मिथ्यादोषों का उद्भावन कर उसे कलङ्कित करने का प्रयास करते देखे जाते हैं। इस प्रकार परनिन्दा की भावना असूया है। दु:खी देखकर प्राय: साधारणजन उससे घृणा करने लगते हैं, उसे दुत्कार और तिरस्कार के साथ अधिक दु:खी बनाते रहते हैं। ऐसी भावनायें व्यक्ति के चित्त को व्यथित एवं मलिन बनाये रखती हैं। यह समाज की साधारण व्यावहारिक स्थिति है।

योगमार्ग पर चलनेवाला साधक ऐसी परिस्थिति से अपने आपको सदा बचाये रखने का प्रयास करे। साधक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका चित्त ईर्ष्या, असूया आदि मलों से सर्वथा रहित हो, यह स्थिति योग में प्रवृत्ति के लिए अनुकूल होती है। निर्मल-चित्त साधक योग में सफलता प्राप्त करने का अधिकारी होता है। दयालु आचार्य ने इस दिशा में बढ़ने के लिए साधक को उपाय बताये।

सुखीजनों को देखकर साधक उसके प्रति मित्रता की भावना बनाये। मित्र के प्रति कभी ईर्ष्या आदि भाव उत्पन्न नहीं होते। दु:खीजनों के प्रति सदा करुणा-दया, उनके प्रति हार्दिक सहानुभूति का भाव रखे। उनका दु:ख किस प्रकार दूर हो सकता है, इसके लिए उन्हें सन्मार्ग दिखाने का प्रयास करे। इससे साधक के चित्त में उनके प्रति कभी घृणा का भाव उत्पन्न नहीं हो पायेगा। इससे दोनों के चित्त में शान्ति और सान्त्वना बनी रहेगी। इसी प्रकार पुण्यात्मा के प्रति साधक हर्ष का अनुभव करे। योग स्वयं ऊँचे पुण्य मार्ग है। जब दोनों एक ही पथ के पथिक हैं, तो हर्ष का होना स्वाभाविक है। संसार में सन्मार्ग और सद्विचार के साथी सदा मिलते रहें, तो इससे अधिक हर्ष का और क्या विषय होगा। पापात्मा के प्रति साधक का उपेक्षाभाव सर्वथा उपयुक्त है। ऐसे व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के प्रयास प्राय: विपरीत फल ला देते हैं। पापी पुरुष अपने हितैषियों को भी-उनकी वास्तविकता को न समझते हुए-हानि पहुँचाने और उनके कार्यों में बाधा डालने के लिए प्रयत्नशील

बने रहते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा-उदासीनता का भाव श्रेयस्कर होता है। साधक इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के प्रति अपनी उक्त भावना को जागृत रखकर चित्त को निर्मल-स्वच्छ-प्रसन्न बनाये रखने में सफल रहता है जो सम्प्रज्ञात योग की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है ॥३३॥

उक्त उपायों से चित्त को निर्मल-प्रसन्न रखकर उसकी एकाग्रता के लिए आचार्य ने उपाय बताया—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

[प्रच्छर्दन-विधारणाभ्याम्] प्रच्छर्दन-फेंकना और विधारण-रोकना, इन दोनों के द्वारा **[वा]** अथवा **[प्राणस्य]** प्राण के।

सूत्रगत 'प्राण' पद का तात्पर्य यहाँ उस वायु से है, जो श्वास-प्रश्वास के रूप में बाहर से अन्दर शरीर में और शरीर के अन्दर से बाहर की ओर नासिका छिद्रों द्वारा फेंका जाता है, यह 'प्रच्छर्दन' कहाता है। वायु को बाहर या भीतर फेंककर वहीं उसे रोक देना 'विधारण' है। वायु को भीतर से बाहर फेंकना 'रेचक' तथा बाहर से भीतर को फेंकना 'पूरक' कहा जाता है। इन दोनों क्रियाओं के अनन्तर जो प्राण को वहीं रोक देना है, उसका नाम 'कुम्भक' है। जब बाहर रोका जाय, तो 'बाह्यकुम्भक' और भीतर रोका जाय, तो 'आन्तर-कुम्भक' कहलाता है। इस प्रकार एक प्राणायाम तीन अंशों में पूरा होता है-रेचक, पूरक, कुम्भक। सूत्र में केवल दो पदों का प्रयोग है-प्रच्छर्दन और विधारण। रेचक और पूरक दोनों 'प्रच्छर्दन' में अन्तर्गत हैं, कुम्भक (दोनों बार का-रेचक के अनन्तर का और पूरक के अनन्तर का) 'विधारण' में। इस प्रकार सूत्र के दो पदों से प्राणायाम का पूरा विवरण प्रस्तुत होता है।

प्रतिदिन विधिपूर्वक समयानुकूल प्राणायाम करते रहने से

चञ्चल चित्त शान्त होकर स्थिरता प्राप्त करने लगता है। प्रणव-जप के विवरण में प्राणायाम-विधि का निर्देश कर दिया है। प्रस्तुत सूत्र के व्याख्यान में भी विधि स्पष्ट है। चित्त की स्थिरता के लिए प्राणायाम का महत्त्व उपनिषत्, मनु, गीता आदि प्राचीन तथा मध्यकालिक आध्यात्मिक साहित्य[१] में विस्तार के साथ वर्णित है। प्राण की महिमा प्राणायाम के महत्त्व को साधार स्पष्ट करती है।

अनुभवी आचार्यों का कहना है—जो रचना विराट् में है, वह पिण्ड में है। पिण्ड की रचना-व्यवस्था योगानुष्ठान में अपेक्षित रहती है, क्योंकि योगसम्बन्धी समस्त अनुष्ठान पिण्ड पर आधारित हैं। जहाँ तक पिण्ड में भौतिक रचना का प्रश्न है, प्राण की प्रधानता सर्वमान्य एवं सर्वानुभववेद्य है। सर्ग के आदिकाल से प्रयत्नशील रहने पर भी मानव आज तक शरीर की रचना-व्यवस्था को पूर्णरूप में नहीं जान पाया है, कभी जान पायेगा, इसकी भी सम्भावना प्रतीत नहीं होती, पर इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं, जो कुछ मानव अभी तक इस विषय में जान पाया है, वह इस सम्बन्ध की समस्त व्यावहारिक प्रक्रियाओं के सञ्चालन के लिए कुछ कम नहीं है। दैहिक चिकित्सा एवं देह-सम्बन्धी मलों व दोषों के संशोधन आदि के लिए उच्चकोटि की सफलता मानव ने प्राप्त की है।

इसी प्रकार आन्तरचिकित्सा तथा आन्तर मलों व दोषों के संशोधन-अपवारण के लिए प्राचीन अनुभवी महान् आत्माओं ने योग-प्रक्रिया का उद्भावन किया। प्राचीन व मध्यकालिक भारतीय साहित्य में इन प्रक्रियाओं का इतना अधिक विस्तार हुआ है कि उसका एकत्रित किया जाना सरल नहीं। फिर भी इस दिशा में आनेवाले साधकों के लिए अनुभवी योगियों ने जो सुविधापूर्ण मार्ग प्रशस्त किया है, उसमें प्राणायाम का स्थान अत्यन्त

१. प्रश्न उ० २; ४, ८; ६ ॥ ४॥, तै० उ० ३।३॥, छा० उ०, १।११।५॥, अथर्व० ११।४॥ मनु० ६।६९-७२॥, गीता ४।२९॥, ६।१०-१४॥

महत्त्वपूर्ण है। समस्त कारणों एवं चित्तभूमि के ईर्ष्या, असूया आदि मलरूप खरपत प्राणायाम से समूल दग्ध हो जाते हैं। निर्मल चित्त स्वाभावत: स्थिरता प्राप्तकर योगानुष्ठान में संलग्न रहने लगता है। योग में उन्नति के लिए मार्ग निर्बाध हो जाता है।

वस्तुत: समस्तकरण अपनी प्रवृत्ति के लिए प्राण पर आधारित रहते हैं। प्राण के नियन्त्रित होने पर करण स्वत: नियन्त्रण में आ जाते हैं। प्राणों का नियन्त्रण प्राणायाम से होकर, साथ ही इन्द्रियाँ मन आदि करण वृत्तियों में चञ्चल न रहकर स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। साधारण व्यक्ति जब पहाड़ पर चढ़ने लगता है, तो बहुत जल्दी उसका दम फूल जाता है। वही व्यक्ति यदि बैठा रहे, तो दम नहीं फूलता। परन्तु जो व्यक्ति प्राणायाम का अभ्यासी है, वह पहाड़ पर चढ़े, तो उसका नगण्य-सा फूलता है। प्राणायाम प्राण की स्थिरता के साथ चित्त आदि करणों में स्थिरता को लाता है॥३४॥

चित्त की स्थिरता के लिए प्रधान उपाय प्राणायाम का उपपादन कर आचार्य सूत्रकार ने प्रोत्साहन-प्रवृत्तिरूप में अन्य उपाय बताया—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥३५॥

[विषयवती] गन्ध आदि विषयोंवाली **[वा]** अथवा **[प्रवृत्तिः]** प्रकृष्ट वृत्ति-व्यापार **[उत्पन्ना]** उत्पन्न हुई **[मनसः]** मन की **[स्थितिनिबन्धनी]** स्थिति का कारण होती है।

सूत्र का 'वा' पद इस विकल्प को कहता है कि प्राणायाम के अतिरिक्त चित्त-स्थिति के अन्य उपोद्बलक सम्भव हैं। उन्हीं में से एक का इस सूत्र में निर्देश है।

योग के आठ अंगों में प्राणायाम चौथे स्तर पर है। साधक को सबसे प्रथम यम[१] और नियमों का पूरा पालन करना

१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम का विस्तृत वर्णन अगले साधनपाद के २९वें सूत्र से ५१वें सूत्र तक किया गया है। प्राणायाम का विवरण गतसूत्रों में प्रसंगवश आ गया है।

अत्यावश्यक है। उसके अनन्तर अथवा साथ-साथ आसन सिद्ध करना चाहिए। आसन-जय होने पर प्राणायाम निर्विघ्न चलता है यम, नियम, आसन की उपेक्षा कर प्राणायाम आदि करने से साधक को इस दिशा में अधिक लाभ की आशा नहीं रखनी चाहिए। प्राय: लोग यम, नियम आदि का नितान्त पालन न करते हुए तथा एक आसन से थोड़ी देर भी बैठने का अभ्यास न रखते हुए केवल दस-बीस मिनट श्वास-प्रश्वास की फां-फां करके योगी बनने का दावा करने लगते हैं। दिनभर झूठ-फरेब, हिंसा, भ्रष्टाचार, छल-कपट, लोभ-मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि के मल-सागर में डूबे रहते हैं। फिर किसी प्रकार की सफलता न मिलने पर योगी की निन्दा करने लगते हैं। योगानुष्ठान का विधिपूर्वक साङ्ग आचरण करने पर ही सफलता की आशा रखनी चाहिए।

यम, नियम का पालन करते हुए आसन सिद्ध हो जाने पर जब साधक प्राणायाम में अभ्यस्त हो जाता है और चित्त प्रत्याहार एवं धारणा की स्थिति में पहुँचने लगता है, उस समय साधक को किसी एक देश में स्थित करने की दशा को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में साधक जब नासिक के अग्रसर में धारणा का प्रयोग करता है, तो उसे एक दिव्य गन्ध का अनुभव होता है। साधारणदशा में प्रत्येक व्यक्ति घ्राण इन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण करता है, यह घ्राण की साधारण वृत्ति अथवा व्यापार है। पर नासिकाग्र में धारणा से जिस दिव्यगन्ध का अनुभव होता है, वह घ्राण की साधारण वृत्ति न होकर 'प्रवृत्ति' है-प्रकृष्ट व्यापार। यही अभिव्यक्ति करने के लिए सूत्र में उक्त पद का प्रयोग किया है।

इसी प्रकार जिह्वा के अग्रभाग में धारणा के प्रयोग से दिव्य रस का अनुभव होता है। तालु में चित्त की धारणा से दिव्यरूप का अनुभव, जिह्वा के मूल में धारणा से दिव्य शब्द का साक्षात् अनुभव होता है, ऐसा अनुभवी योगियों ने बताया है।

गन्ध आदि सब विषय हैं। धारणा के प्रयोग के फलस्वरूप दिव्यरूप में इन विषयों की अनुभूति (प्रवृत्ति), साधक को अन्य अतीन्द्रिय तत्त्वों के यथार्थ होने में विश्वासी व श्रद्धालु बना देती है। साधक की यह भावना उसको अपने अनुष्ठानों में निरन्तर संलग्न रहने के लिए प्रेरित करती रहती है जिससे साधक निरन्तर श्रद्धापूर्वक सोत्साह प्रयत्न करता हुआ कालान्तर में पूर्ण समाधि अवस्था को प्राप्तकर अतीन्द्रिय आत्म-परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार से मोक्ष पा जाता है।

कभी-कभी धारणा-ध्यान आदि के अनुष्ठान के अवसर पर साधक को चन्द्र, सूर्य, विशेष ग्रह-नक्षत्र, रत्न, मणि, प्रदीप प्रकाश आदि के विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न हुई सुनी जाती है। साधक की इस स्थिति को भी विषयवती प्रवृत्ति के अन्तर्गत समझना चाहिए। ये प्रवृत्तियाँ साधक के संशय का उच्छेदकर उसे योगानुष्ठान में संलग्न रहने के लिए प्रोत्साहित करती रहती है। इसी रूप में इन्हें चित्त की स्थति का प्रयोजक (कारण) बताया गया है।

यद्यपि विभिन्न मान्यशास्त्रों, अनुमान आदि प्रमाणों तथा आप्त आचार्यों के उपदेश से जाने हुए अर्थतत्त्व सदा यथार्थ हो हैं, उनमें असत्य की सम्भावना नहीं की जानी चाहिए, न उनमें ऐसी गुंजायश रहती है। सत्य अर्थतत्त्व को बतलाने में शास्त्र आदि वस्तुतः समर्थ होते हैं। फिर भी जब तक ऐसे अतीन्द्रिय अर्थतत्त्व का कोई एक अंश अथवा देश स्वतः करणों द्वारा अनुभूत नहीं हो जाता, तब तक सब परोक्ष जैसा ही रहता है। यह स्थिति सूक्ष्म अतीन्द्रिय अपवर्ग आदि विषयों के प्रति साधक की बुद्धि में दृढ़ता को उत्पन्न नहीं होने देती। इसलिए शास्त्र आदि द्वारा प्रतिपादित अतीन्द्रिय सूक्ष्म अर्थतत्त्वों के किसी एक अंशविशेष का प्रत्यक्ष हो जाने पर समस्त सूक्ष्म शास्त्रीय तत्त्वों के विषय में व्यक्ति का दृढ़ श्रद्धाभाव जागृत हो जाता है, जो योग में चित्त की स्थिरता के लिए अभिनन्दनीय प्रयोजक है।

लोकायतमत के समान व्यवहार में प्राय: समस्त लोकजन प्रत्यक्षवादी रहता है। प्रत्यक्ष के प्रधान्य को तो सभी स्वीकार करते हैं, पर समस्त व्यवहारों को केवल प्रत्यक्षाश्रित मानने की प्रवृत्ति साधारण लोकसमुदाय में सर्वत्र-बलवती रहती है। इसका प्रभाव विद्वानों पर भी रहता है। लोकायत मत का प्रत्यक्षवादी होना इसी के अनुरूप है। इस विचार के लोक-विस्तृत होने से यह 'लोकायत' है। वस्तुत: लोकव्यवहार में समस्त मानव समाज इस दृष्टि से लोकायत विचारों की अवहेलना नहीं करता। इसलिए अतिन्द्रिय तत्त्वों का आंशिक प्रत्यक्ष उनकी वास्तविकता में श्रद्धा व दृढ़ता को बनाये रखने में अत्यावश्यक है। इसी प्रयोजन के लिए शास्त्र में चित्त की शुद्धि एवं स्थिरता का निर्देश किया गया है, क्योंकि जब वृत्तियाँ अव्यवस्थित रहती हैं, तो चित्त योग की ओर प्रेरित नहीं होता। इसके लिए आवश्यक है, चित्त पूर्णरूप से तृष्णा आदि की ओर न झुके। तृष्णाराहित्य से साधक बाह्य रूप रसादि विषयों की ओर से विरक्त होकर स्थिरचित हुआ दिव्यगन्ध आदि विषयों के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है। यह स्थिति चित्त की पूर्ण स्थिरता के लिए साधक को प्रेरित करती है और पूर्ण समाधि लाभ के लिए वह निरन्तर सोत्साह प्रयत्नशील बना रहता है॥३५॥

योगानुष्ठान में जब दिव्यगन्धसंविद् (ज्ञान-प्रतीति-साक्षात्कार) आदि तथा सूर्य, चन्द्र, मणि, रत्न, प्रदीप आदि के प्रकाश तथा अन्य प्रकार के दिव्य आलोक दिखाई देते हैं, यह सब सम्प्रज्ञात समाधि का स्तर समझना चाहिए। गतसूत्र [१७] में इसका संकेत उपलबध है। साधक इस उपलब्धि पर अपने को कृतकृत्य न समझकर आगे उन्नति के लिए निरन्तर प्रयास करता रहे। जैसे विषयवती प्रवृत्ति चित्त की स्थिरता का प्रयोजक है, वैसे ही ज्योतिष्मती। तात्पर्य है-यह स्तर उद्देश्य का अवसान नहीं है। अभी प्रारम्भिक सफलता है। यह सफलता

साधक को अपने पूर्ण उद्देश्य तक पहुँचाने के लिए प्रोत्साहित कर उसमें विश्वस्त एवं श्रद्धालु बना देती है। उसी को अन्य उपाय के रूप में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

[**वि-शोका**] शोक से रहित [**वा**] अथवा [**ज्योतिष्मती**] ज्योति-प्रकाश से युक्त (प्रवृत्ति उत्पन्न हुई चित्त की स्थिरता का कारण-प्रयोजक होती है)।

गत सूत्र से '**प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी**' पदों का इस सूत्र में अनुवर्त्तन है। जैसे दिव्य गन्ध आदि का साक्षात्कार चित्त की स्थिरता का प्रयोजक होता है, ऐसे ही योगानुष्ठान में दिव्य ज्योति-आलोक आदि का दिखाई देना चित्त की स्थिरता का प्रयोजक है। उस दिव्य आलोक के दर्शन में साधक इतना उत्फुल्ल हो जाता है कि उस समय शोक-दुःख आदि का लेश भी अनुभव नहीं होता। इसी कारण इस दशा को 'विशोका' नाम दिया गया है। तब साधक का हृदय गुदगुदा उठता है, अपार उल्लास से भर जाता है। प्रसन्नता के आवेश व वेग में प्रकाशमय विश्व नृत्य-सा करता दिखाई देता है।

यह अवस्था उस समय की है, जब चित्त अर्थात् बुद्धितत्त्व नितान्त सात्त्विक होता है, रजस् तमस् का लेश भी वहाँ नहीं रहता। आत्मा के निवासस्थान हृदयवेश में उसका साक्षात्कार होना सन्मुख रहता है। सात्त्विक बुद्धि के सहयोग से आत्म-साक्षात्कार की यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम स्तर समझना चाहिए। वृत्त्यात्मक होने से यह तात्कालिक होता है। जब तक बुद्धिवृत्ति ऐसी बनी रहती है, तब तक साक्षात्कार भावना रहती है, उस वृत्ति के न रहने पर वह विलीन हो जाती है। यह अनुभव साधक को प्रोत्साहित करता है कि वह उक्त दशा को स्थायीरूप में प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता रहे। उसके अनुभवकाल में यह भावना जागृत होती है और साधक

को गुदगुदाती है कि वह इसी अवस्था में बराबर बना रहे। पर वह दशा वृत्यात्मक है, उसका अवसान अनिवार्य है। अन्यथा सर्ववृत्तिनिरोधरूप 'योग' कहाँ अवसर पा सकेगा?

विषयवती प्रवृत्ति के लिए जैसे नासिका के अग्रभाग में ध्यान करना अपेक्षित होता है, इसी प्रकार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के लिए सुषुम्णा नाड़ी के विभिन्न केन्द्रों में ध्यान करना श्रेयस्कर होता है। सुषुम्णा का स्थान ब्रह्मरन्ध्र से लेकर पीछे की ओर रीढ़ की अस्थि के अन्तर्गत त्रिक स्थान तक पहुँचता है। इनमें ध्यान व उपासना का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है।

भारतीय इतिहास के मध्यकालिक हठयोगी साधकों ने योगमार्ग को विभिन्न मुद्रा, अनुपयोगी आसन तथा अन्य बाह्य आडम्बरों से इतना बाधापूर्ण व भयावह कर दिया है कि साधक उसके प्रवाह--भंवर में फँसा वहीं चक्कर काटता जीवन बिता देता है, हाथ कुछ नहीं लगता। उस पद्धति के अनुसार सुषुम्णा केन्द्रों के विषय में कहा जाता है कि ऊपर से नीचे तक नाड़ी के विशिष्ट स्थानों पर कुछ 'चक्र' हैं, उन्हीं में ध्यान लगाना अपेक्षित होता है। उसके नाम व स्थान यथाक्रम इस प्रकार हैं–

नाम	स्थान
१. सहस्रार चक्र	ब्रह्मरन्ध्र, तालु और कपाल-सन्धि के लगभग मध्य में
२. आज्ञा चक्र	भ्रुकुटि के पीछे की ओर, यह भाग्य-ग्रन्थि अथवा 'पिट्युटरी बॉडी [Pituitary Body] का स्थान है, ये ग्रन्थियाँ हैं, जो शरीर में प्रतिभा को जगानेवाले अद्भुत रसों का निर्माण करती हैं।
३. विशुद्ध चक्र	कण्ठ के पीछे।
४. अनाहत चक्र	हृदय की सीध में पीछे की ओर।

५. मणिपूरक चक्र नाभिमूल की सीध में पीछे की ओर।

६. स्वाधिष्ठान चक्र मूलाधार से कुछ ऊपर की ओर पेडू की सीध में पीछे को।

७. मूलाधार चक्र त्रिक का केन्द्र स्थान।

हठयोग तथा तन्त्रग्रन्थों में इनका जो आडम्बरपूर्ण विवरण दिया गया है, वह प्राय: निराधार कल्पनाओं से भरा है चमत्कारपूर्ण, पर सर्वथा अनुपयोगी ऐसे जोड़-तोड़ मिला रखे हैं, जिनको विचार में लाने से भी साधक घबड़ा जाता है और श्रेयमार्ग को छोड़ बैठता है।

योगानुष्ठान की सर्वश्रेष्ठ पद्धति यम नियम आदि का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए 'ईश्वराराधन' है, जो प्रणव-जप द्वारा साध्य है। इसका सांकेतिक विवरण जप-सूत्र [२८] की व्याख्या में दिया गया है। ईश्वराराधन के रूप में प्रणव-जप जिस यौगिक पद्धति से किया जाता है, उसमें ध्यान के केन्द्रस्थान भाग्यग्रन्थि अर्थात् आज्ञाचक्र एवं ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् सहस्रारचक्र रहते हैं। फलत: समाधिलाभ के लिए-अन्य व्यर्थ के आडम्बरपूर्ण पचड़ों में न पड़ विधिपूर्वक ईश्वराराधन में विशेष प्रयास करते रहना चाहिए।

इस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में नितान्त सात्त्विक चित्त प्रकाशमय एवं आकाश के समान निर्दोष निष्कलङ्क रहता है। उस दशा में सूर्य, चन्द्र, विशिष्ट प्रभायुक्त मणि आदि के समान विविध आलोकरूप में प्रकाशित रहता है। चित्त के प्रकाशित व आलोकित किसी वृत्ति का उद्भावन उसमें नहीं रहता, वह तब केवल अस्मितावृत्ति में समापन्न होता है। तात्पर्य है—ऐसे चित्त के सहयोग से आत्मा में अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार 'अस्मि=मै हूँ, इस रूप में होता है। केवल स्वरूप-साक्षात्कार की वृत्ति उक्तरूप में उद्भासित रहती है, अन्य कुछ नहीं। इस कारण आचार्यों ने उस दशा को शान्त निस्तरंग समुद्र की उपमा

दी है। इसी विषय में प्राचीन पञ्चशिख आदि आचार्यों ने कहा है-वह अणुमात्र अतिसूक्ष्म आत्मा उस समाहित अवस्था में अपने आपका साक्षात् अनुभव 'मैं हूँ' इस प्रकार यथार्थ बोध पूर्वक करता है।

सूर्यादि आलोक विषय हैं, इसलिए यह विषयवती प्रवृत्ति होने पर भी ज्योतिष्मती है। ध्यान के स्थान तथा विषय के भेद से इसका प्रथम सूत्र [३५] प्रतिपादित प्रवृत्ति में अन्तर्भाव नहीं होता। अस्मितामात्रा प्रवृत्ति में सूर्यादि आलोक न होने पर भी वह ज्योतिष्मती है, क्योंकि इसमें आत्मा स्वरूप से प्रकाशित होता है। यह चित्तस्थिति का निबन्धन करनेवाली इस कारण है, कि इसमें आत्म-साक्षात्कार वृत्त्यात्मक होने से स्थायी नहीं होता। यह प्रवृत्ति उसकी स्थिरता के लिए साधक को बलपूर्वक प्रोत्साहित करती है। उससे साधक योगी का चित्त सोत्साह प्रयत्न करते रहने से पूर्ण स्थिरता को प्राप्त कर लेता है॥३६॥

चित्त की स्थिरता के लिए आचार्य सूत्रकार अन्य उपाय का निर्देश करता है-

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥३७॥

[वीतरागविषयम्] रागरहित (योगियों के चित्त) का आलम्बन करनेवाला **[वा]** अथवा **[चित्तम्]** चित्त (साधक का, स्थिरता प्राप्त कर लेता है)।

इतिहास प्रसिद्ध जो विरक्त योगी महात्मा हर्ष, शोक, राग-द्वेष आदि से रहित समदर्शी शान्तचित्त हो चुके हैं, उनके चरित्रों का चिन्तन चित्त की चञ्चलता को दूर कर उसे एकाग्र करने में सहायक होता है। उनके चिन्तन से साधक की यह भावना जागृत होती है कि मैं वैसा शान्तचित्त बनूँ। ऐसा चिन्तन ही वीतराग के चित्त का आलम्बन है। उसका ध्यान करते-करते साधक उसी रंग में रंग जाता है। सांसारिक विषयों से हटकर चित्त की स्थिरता के लिए प्रयत्नशील बना रहता है, जिसमें

कालान्तर में सफलता प्राप्त कर लेता है ॥३७॥

इसी प्रसंग में आचार्य सूत्रकार ने अन्य उपाय बताया—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

[स्वप्न-निद्राज्ञानालम्बनम्] स्वप्नज्ञान का आलम्बन एवं निद्राज्ञान का आलम्बन (चित्त को स्थिर करने में सहायक होते हैं), **[वा]** अथवा।

कभी-कभी स्वप्न में ऐसे मनोहर व चित्ताकर्षक दृश्य दिखाई देते हैं, जिन्हें स्वप्नद्रष्टा निरन्तर देखते रहना चाहता है। उसकी तीव्र उत्कण्ठा जागृत रहती है कि यह दृश्य कभी आँखों से ओझल न हो पाये। जागने पर ऐसे दृश्यों का यथावसर निरन्तर ध्यान करना चित्त की स्थिरता के लिए सहायक होता है। इसमें वही स्वप्न अनुकूल होते हैं, जो शास्त्रीय व प्राकृतिक हों, वासना-मूलक तथा वासनाओं के उत्तेजक न हों, जैसे-कभी स्वप्न में एकान्त-स्थित सुन्दर आश्रम और वहाँ भव्य महात्मा का दर्शन होना, उनसे वार्तालाप व उपयुक्त प्रसाद प्राप्त करना आदि। इसी प्रकार तटपर्यन्त पूर्ण स्वच्छ नदी प्रवाह, उसके इधर-उधर सुन्दर स्वच्छ हरा-भरा मैदान, अथवा आकर्षक पर्वत श्रेणियाँ। ऐसे स्वप्न के स्मरण व ध्यान चित्त की एकाग्रता में सहायक होते हैं।

निद्राज्ञान भी इसी प्रकार सहयोगी होता है। 'निद्रा' पद से यहाँ 'सुषुप्ति' अभिप्रेत है। यद्यपि सुषुप्ति को तामस दशा माना जाता है, पर यहाँ सात्त्विकी निद्रा ग्रहण करना चाहिए। जब व्यक्ति निद्रा से जागकर यह अनुभव करता है—मैं सुखपूर्वक सोया, किसी दुःख क्लेश का लेश भी मैंने अनुभव नहीं किया। सुषुप्तिविषयक ऐसा अनुभव चित्त की शान्ति-एकाग्रता और वहाँ किसी भी प्रकार के क्लेश आदि का अभाव होना—अभिव्यक्त करता है। ऐसी स्थिति का चिन्तन व ध्यान चित्त की एकाग्रता में निश्चित सहायक होता है। इससे चित्त चञ्चलता से दूर

रहकर निश्चल होता हुआ एकाग्रता का लाभ करता है ॥३८॥

बहुत से उपाय बताकर प्रसंग का उपसंहार करते हुए आचार्य सूत्रकार ने कहा—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

[यथा-अभिमत-ध्यानात्] जैसा अभिमत हो, उसमें यान से (चित्त एकाग्र हो जाता है), **[वा]** अथवा।

चौंतीसवें सूत्र से यहाँ तक प्रत्येक सूत्र में 'वा' पद का प्रयोग 'उपाय' की वैकल्पिक स्थिति को अभिव्यक्त करता है। इन छह-सात उपायों में से जिसको जो उपाय अभिमत हो, श्रद्धेय हो, उसको आलम्बन बना ध्यान करने से चित्त एकाग्र होता है। जब एक विषय में एकाग्रता हो जाती है, तो अन्य अभीष्ट ध्येय में चित्त को एकाग्र करना सरल हो जाता है। जो उपाय बताये, इनसे अतिरिक्त भी शास्त्रीय उपाय का अवलम्बन लिया जा सकता है। साधक के लिए सुविधाजनक और योग के अनुकूल जो भी ध्येयभूत उपाय चित्त की एकाग्रता के लिए सम्भव हो, उसका आश्रय लिया जा सकता है। इससे नशा आदि करने तथा वासनामूलक सभी अशास्त्रीय तथाकथित उपायों को सर्वथा आग्रह्य समझना चाहिए ॥३९॥

चित्त की स्थिरता के लिए उपायों का निर्देश कर आचार्य सूत्रकार ने उसका फल बताया—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

[परमाणु-परममहत्त्वान्तः] परमाणु और परममहत्त्व पर्यन्त **[अस्य]** इसका (स्थिर चित्त का), **[वशीकारः]** वश में किया जाना सम्भव होता है।

निर्दिष्ट उपायों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से जब चित्त स्थिर हो जाता है, तब उसे साधक योगी द्वारा छोटे-से-छोटे तत्त्व परमाणु एवं महान-से महान तत्त्व आकाश आदि में जहाँ

चाहें वहाँ संयत किया जा सकता है। तात्पर्य है-ऐसे स्तर तक चित्त की स्थिरता हो जाने पर योगी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परमाणु में चित्त को संयत कर उसकी यथार्थ जानकारी प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार महान-से-महान पदार्थ की अतिसूक्ष्म एवं अमिहान् पदार्थों तक की साक्षात् जानकारी के लिए साधनरूप में चित्त समर्थ होता है। चित्त की चञ्चलता नितान्त दूर होकर स्थिरता इतनी निश्चित हो जाती है कि योगी तब उसे स्वेच्छा से चाहे जैसे गहन विषयों में लगा सकता है। इसी स्थिति का नाम-चित्त का वशीकार-है। पूर्णरूप से चित्त का वश में हो जाना। तब सूक्ष्म और महान् दोनों ओर की सीमाओं तक पहुँचने में चित्त को कोई रुकावट नहीं होती।

ऐसी स्थिति को प्राप्त करने के अनन्तर योगी को चित्त की स्थिरता के लिए किसी अतिरिक्त उपाय के अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती। केवल इतना अपेक्षित रहता है कि इस स्थिरता की वृत्तिरूपता को समाप्त कर दिया जाय, तब चित्तसहयोगनिरपेक्ष ही चेतन आत्मतत्त्व साक्षात् प्रकाशित रहता है। यह दशा द्रष्टा आत्मा के स्वरूप में अवस्थित की है। जीवन रहते भी प्रारब्ध-कर्मानुसार देहस्थित-साधनों का उपयोग करते रहने पर भी वह आत्मसाक्षात्कार की ज्ञानप्रकाशधारा विच्छिन्न नहीं होती। यह असम्प्रज्ञात समाधि एवं योगी की जीवन्मुक्त दशा है। प्रारब्ध कर्म भोगे जाकर समाप्त हो जाने पर देह छूट जाता है, आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥४०॥

गत सूत्र [१७] में संकेतित सम्प्रज्ञात समाधि के स्तरों को अगले छह सूत्रों द्वारा 'समापत्ति' नाम से प्रस्तुत किया है। आचार्य सूत्रकार समापत्ति का स्वरूप बताता है-

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण-
ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

[क्षीणवृत्तेः] जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो

चुकी हैं, ऐसे (अतएव) **[अभिजातस्य]** स्वच्छ-निर्मल निर्दोष (चित्त के तथा स्वच्छ, निर्मल) **[इव]** समान **[मणेः]** मणि के **[ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु]** ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यों में **[तत्स्थतदञ्जनता]** स्थित होकर उसी रूप-आकार में प्रतीत होना **[समापत्तिः]** समापत्ति है।

जैसे स्वच्छ-निर्मल श्वेत बिल्लौर आदि मणि के सामने जब लाल, पीला, नीला आदि जैसा भी रंगीन द्रव्य आता है, तब वह मणि अपने रूप को अभिव्यक्त न कर सामने उपस्थित द्रव्य के समान लाल, पीला, नीला दिखाई देता है। यह तभी सम्भव है, जब वह स्वच्छ है। यदि मलिन हो, तो वह लाल आदि अन्य द्रव्याकार को ग्रहण नहीं करेगा, उस रूप-आकर में प्रतिभासित न होगा। इसी के समान जब चित्त की समस्त राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, सत्त्व के उद्रेक से चित्त स्वच्छ-निर्मल है, तब जो ध्येय उसके सामने आयेंगे अथवा जिस ध्येय में उसे संयत किया जायगा, उसी रूप-आकार में चित्त भासित होगा। तात्पर्य है—ऐसे चित्त द्वारा उस ध्येय को आत्मा साक्षात् कर लेगा।

ऐसे चित्त के ध्येय हैं—ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य। सूत्र में पठित ध्येय के क्रम को उलटकर समझना चाहिए। तब यह क्रम होगा—ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता। ग्राह्य के दो भेद हैं—स्थूल और सूक्ष्म, जो भूतों के रूप में उपलब्ध हैं। पहले चित्त को स्थूलभूतों में संयत किया जाता है। जिस भूत में चित्त का संयम होगा, चित्त तदाकार हो उठेगा, आत्मा उसका साक्षात् करेगा। प्रचलित व्यावहारिक शब्दों में उक्त अर्थ को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है—शुद्ध निर्मल चित्त में अभीष्ट ध्येय के प्रतिबिम्बित होने से चित्त ध्येयाकार हो जाता है और आत्मा इस पद्धति से उस ध्येय अर्थ का साक्षात् करता है।

समाधि का स्तर और बढ़ने पर चित्त का ध्येय सूक्ष्मभूत हैं। आत्मा उनका साक्षात् अनुभव करता है। उससे भी ऊँचे

स्तर पर ग्रहण-ज्ञान के कारण इन्द्रियाँ हैं। चित्त का ध्येय जो इन्द्रिय है, उसका साक्षात्कार आत्मा को हो जाता है। अनन्तर समाधि की ओर उन्नत दशा में चित्त का ध्येय अस्मितारूढ़ आत्मा होता है, तब 'अस्मि' की भावना के साथ आत्मा का स्वयं साक्षात्कार होता है।

इस सब प्रक्रिया में ध्येय का चित्त में स्थित होना [तत्स्थ] अर्थात् प्रतिबिम्बित होना और उससे चित्त का तदाकार होना [तदञ्जनता], 'समापत्ति' का स्वरूप है। अच्छी तरह से [सम्] सब ओर से [आ] चित्त में ध्येय अर्थ की प्राप्ति होना 'समापत्ति' है। जहाँ समाधि के सामर्थ्य से आत्मा को ध्येय अर्थ का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार शुद्ध स्वच्छ मणि के समान निर्मल चित्त का ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता में अर्थात् भूत-इन्द्रिय और पुरुष में जो संयम [तत्स्थ] और तदाकारता [तदञ्जनता] है, उसे 'समापत्ति' कहा जाता है।

विषय के प्रतिपादन की यह एक रीतिमात्र है। तात्पर्य केवल इतना है–शुद्ध निर्मल चित्त के सहयोग से आत्मा ध्येय अर्थ को साक्षात् अनुभव कर लेता है। ध्येय अर्थ की श्रेणियाँ पृथक् होने से समाधि के स्तर विभिन्न हो जाते हैं। उन्हीं का 'समापत्ति' नाम से वर्णन है ॥४१॥

ध्येय के आधार पर समापत्ति चार हैं–'सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा'। उनमें पहली समापत्ति का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया–

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः[1] ॥४२॥

---

१. गवर्नमेंट प्रैस, बम्बई के योगसूत्र-व्यासभाष्य संस्करण में तथा श्रीरङ्गम् के वाणीविलास प्रैस से प्रकाशित 'योगसुधाकर वृत्ति' के संस्करण में प्रस्तुत सूत्र के अन्तर्गत 'समापत्तिः' पद का पाठ नहीं है। संभवतः वाचस्पति मिश्र के सम्मुख भी सूत्र का 'समापत्तिः' पदरहित पाठ उपलब्ध था। परन्तु परम्परानुसार

[तत्र] उनमें **[शब्दार्थज्ञानविकल्पैः]** शब्द, अर्थ और ज्ञान के विविध प्रकारों से **[सङ्कीर्णा]** मिश्रित, **[सवितर्का]** सवितर्का नामक **[समापत्तिः]** समापत्ति है।

शब्द, अर्थ और ज्ञान ये एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, परन्तु विकल्प अर्थात् अन्य में अन्य का अध्यास, भेद में अभेद और अभेद में भेद का प्रदर्शन कर देता है। ऐसी स्थिति में शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर भिन्न होने पर सम्प्रज्ञात समाधि के जिस स्तर में शब्द, अर्थ, ज्ञान इन तीनों का विविध प्रकार से मिश्रित प्रत्यक्ष योगी को होता है, वह स्तर 'सवितर्का समापत्ति' कहा जाता है।

जैसे 'गौ' एक शब्द है, वह ध्वनिमात्र है, उसके उदात्त, अनुदात्त आदि धर्म हैं। गो-पद का अर्थ है-एक विशेष प्राणी, उसके मूर्त्तत्व एवं विषाणित्व आदि धर्म हैं। गवादि शब्द या अर्थ-विषयक जो प्रतीति होती है, वह ज्ञान है। उसके धर्म हैं-प्रकाश (अर्थ का बोध कराना), आकृति-विरह आदि (जैसे शब्द या अर्थ किसी विशेष आकृति या उदात्तादि रूप में उपलब्ध होता है, ज्ञान में ये सब धर्म नहीं होते। फलतः शब्द, अर्थ और ज्ञान का मार्ग एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। जब योगी की समापन्न दशा में ये तीनों मिश्रित होकर-इकट्ठे होकर अपने-अपने रूप में भासते हैं, वह समापत्ति 'सवितर्का' है।

तात्पर्य है-जब योगी का चित्त एकाग्र होने लगता है और समाधिदशा में पहुँचता है, तब वह जिस स्थूल विषय में ध्यान लगाता है, अपने साधारण लौकिक व्यवहार में अभ्यास के कारण ध्यान में शब्द के उभरने पर उसका अर्थ, अथवा अर्थ का ध्यान होने पर उसका वाचक शब्द तत्काल उपस्थित हो

मिश्र को यह पाठ स्वीकृत न था, इसी कारण इस सूत्र की 'तत्त्ववैशारदी' में "तत्रैत्यादिसमापत्यन्तं सूत्रम्" ऐसा लिखा है।

अगले सूत्रों में इस सूत्र से 'समापत्तिः' पद का अनुवर्तन है। वह गतसूत्र से भी यहाँ और आगे हो सकता था।

जाते हैं। शब्द या अर्थ के स्मरण हो जाने के रूप में उनका ज्ञान तथा योग-सामर्थ्य से उस दशा में उनका प्रत्यक्ष ज्ञान, यह सब सङ्कीर्ण होकर भासता है पर उस योगसामर्थ्यजनित प्रतीति में वही एक विषय निरन्तर भासित होता रहना चाहिए, तभी वह दशा समाधि अथवा समापत्ति का रूप हो सकती है। ध्येय रूप में कोई अन्य विषय आ जाने पर उस समाधि-स्थिति का भङ्ग हो जाना माना जायगा। फलत: शब्द, अर्थ, ज्ञान तीनों सहभाव से जिस समापत्ति में भासते रहें, वह सवितर्का समापत्ति समझनी चाहिए॥४२॥

इसके अनन्तर क्रमप्राप्त निर्वितर्का समापत्ति का स्वरूप आचार्य सूत्रकार बताया है–

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥४३॥

[स्मृतिपरिशुद्धौ] स्मृति के निवृत्त हो जाने पर **[स्वरूप-शून्या, इव]** अपने ग्रहणरूप से शून्य हुई-जैसी **[अर्थमात्र-निर्भासा]** केवल अर्थ का भान कराने वाली (चित्तवृत्ति की स्थिति) का नाम **[निर्वितर्का]** निर्वितर्का समापत्ति है।

गत सूत्र से 'समापत्ति:' पद का यहाँ अनुवर्त्तन समझना चाहिए। सूत्र के 'परिशुद्धि' पद का अर्थ है–सफाया हो जाना, अर्थात् निवृत्त हो जाना। सवितर्का समापत्ति में–जहाँ स्थूल अर्थ गो-घट आदि ध्येय होता है, अर्थ का ध्यान करते ही उसके शब्द का स्मरण हो जाता है और उनका ज्ञान भी उस चित्तवृत्ति में भासता है। उस समय वह शब्द, अर्थ, ज्ञान तीनों को साथ लेकर त्रिपुटाकार रहती है। पर चित्त की एकाग्रता जब अधिक उन्नत हो जाती है और चित्तवृत्ति के ध्यान का विषय कोई स्थूलभूत या भौतिक पदार्थ होता है, तब समाधि के जिस स्तर में केवल वह अर्थमात्र भासित होता रहे, शब्द-स्मृति निवृत्त हो जाय, अर्थात् उस अर्थ के ध्यान के अवसर पर उसके वाचक

शब्द की स्मृति न उभरने पाये तथा स्वयं ग्रहणात्मक चित्त भी अपने स्वरूप ग्रहण (ज्ञान) का परित्याग-सा कर दे, तो चित्तवृत्ति की ऐसी अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि के जिस स्तर में होती है, उसका नाम 'निर्वितर्का समापत्ति' है।

सूत्र में प्रस्तुत चित्तवृत्ति का एक विशेषण 'स्वरूपशून्या, इव' दिया। यहाँ 'स्व' पद से चित्तवृत्ति का अपना ग्रहणात्मक रूप में समझना चाहिए। जब चित्तवृत्ति अपने ध्येय अर्थ में इतनी गहराई से तदाकार हो जाती है कि वह अपने ग्रहणात्मक रूप को छोड़ बैठी हो, उस स्थिति को 'स्वरूप शून्या, एव' पदों से अभिव्यक्त किया गया है। पर वस्तुत: उसका ग्रहणात्मकरूप बना रहता है, अन्यथा ध्येय अर्थ का प्रत्यक्ष योगी को उस दशा में न हो सकेगा। फलत: ध्येय की तल्लीनता में चित्त का ग्रहणात्मकरूप ग्राह्यरूप में परिवर्तित होकर पृथक् बोधित न होने से शान्त-जैसा बना रहता है। इस प्रकार उस अवस्था में योगी को अर्थमात्र का प्रत्यक्ष होता है, जो तत्त्व की वास्तविकता है। यह ज्ञान अथवा बोध 'पर-प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

यह शब्द और अनुमान का बीज-कारण होता है। अर्थतत्त्व के इस रूप में प्रत्यक्षदर्शी कपिल, पतञ्जलि आदि योगी ऋषियों ने शब्द-संकेत के द्वारा अपने उस ज्ञान को शास्त्रों के रूप में ग्रथित किया, जो शब्द-प्रमाणरूप है। उसी आधार पर अनुमान आदि के द्वारा अन्य जनों को उस अर्थतत्त्व का ज्ञान कराया जाता है। इस कारण उस 'पर-प्रत्यक्ष' में शब्द और अनुमान के सहयोग एवं सहभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए वह प्रत्यक्ष अन्य किसी प्रमाण अथवा ज्ञान से सर्वथा असङ्कीर्ण-अमिश्रित रहता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान योगी को समाधि द्वारा प्राप्त होता है। अन्य शब्द, अनुमान, ज्ञान आदि से असङ्कीर्ण होने के कारण सम्प्रज्ञात समाधि के इस स्तर को 'निर्वितर्का समापत्ति' नाम दिया जाता है।

सवितर्का समापत्ति में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प होने से उसका अपर नाम 'सविकल्प समाधि' और केवल अर्थ का प्रत्यक्ष होने के कारण निर्वितर्का समापत्ति में विकल्पों के अभाव से इसको दूसरे 'निर्विकल्प समाधि' के नाम से कहा जाता है।

निर्वितर्का समापत्ति में जो स्थूल भूत-भौतिक द्रव्य ध्येय (ध्यान का विषय) रहता है उसका प्रत्यक्ष 'गौ, घट-आदि' एक द्रव्य के रूप में होता है। दार्शनिक परिभाषा में उसे 'अवयवी' नाम दिया जाता है। कोई भी अवयवी अनेक अवयवी के संयुक्त होने अथवा समूह या संघात से बनता है। कतिपय दार्शनिक 'अवयवी' के अस्तित्व को स्वीकार न कर समस्त विश्व को केवल अवयवों का संघात कहते हैं। समस्त विश्व के मूल अवयव परमाणु है।, इसलिए यह सब विश्व परमाणुओं का पुञ्ज अथवा संघातमात्र है। इस मान्यता के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में वर्णित चित्तवृत्ति का ध्येय एक द्रव्यरूप तत्त्व सम्भव नहीं होता, क्योंकि जो भी ध्येय होगा, वह सब अनेकानेक परमाणुओं का समूहमात्र है। वहाँ एकत्व का विषय या आधार कोई अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक वस्तु अनेक परमाणुरूप है।

ऐसी मान्यता सर्वलोकसिद्ध सद्व्यवहार के नितान्त विरुद्ध तथा प्रमाणहीन है। यह एक गाय है, एक घट है, ऐसा लोकव्यवहार प्रमाणसिद्ध है, ऐसे ज्ञान की कभी बाधा नहीं होती; इसलिए यह भ्रान्त न होकर पूर्णरूप से यथार्थ है। अवयवरूप सूक्ष्मभूतों के सन्निवेशविशेष से उद्भूत जो गौ, घट आदि द्रव्य तत्त्व हैं, वह उन अवयवों का स्वरूपभूत साधारण धर्म है; जो गाय, घट आदि के द्वारा होनेवाले कार्यों से सिद्ध है। केवल परमाणुपुञ्ज न दूध की धार दे सकता है, न जल आदि का आहरण कर सकता है। किसी भी द्रव्य तत्त्व का ऐसा धर्म तभी तिरोहित होता है, जब वहाँ अन्य धर्म का उदय

हो जाता है। वही द्रव्यधर्म 'अवयवी' कहा जाता है। वह एक है, बड़ा है, छोटा है, वह छुआ जाता है, उसके द्वारा विशेष कार्य किये जाते हैं। वह धर्म सदा नहीं रहता, उसका प्रादुर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। साधारण लोकव्यवहार उसी अवयवी पर आधारित है।

जो वादी परमाणुओं के प्रचयविशेष को वस्तुहीन मानता है और निर्वितर्का समापत्ति के ध्येय स्थूलभूत द्रव्य के सूक्ष्म कारण-तन्मात्र आदि की अतीन्द्रिय होने से उपलब्धि नहीं हो सकती, तब ऐसे वादी के मत में अवयवी के न माने जाने से जो ज्ञान होगा, वह सब मिथ्यारूप होगा। क्योंकि वह सूक्ष्म में स्थूल, अदृश्य में दृश्य एवं अतीन्द्रिय में ऐन्द्रियक होने से अतद्रूप में प्रतिष्ठित है। जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान हो रहा है। तब सम्यक् ज्ञान का अभाव हो जायगा। पर ऐसा नहीं है, जो उपलब्ध होता है, वह यथार्थ है, वह अवयवी के अस्तित्व का साधक है।

ऐसा द्रव्यतत्त्व लघु–महत् आदि व्यवहार का विषय होता हुआ निर्वितर्का समापत्ति का ध्येय होता है। समाधि के इस स्तर में–लघु अथवा महत् रूप से सिद्ध एकमात्र स्थूलभूत तत्त्व-चित्तवृत्ति का विषय है। फलतः सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत निर्वितर्का समापत्ति का स्वरूप सर्वथा साधार है॥४३॥

इसी का अतिदेश करते हुए आचार्य सूत्रकार ने सविचारा और निर्विचारा समापत्ति का स्वरूप बताया–

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥४४॥

[एतया-एव] इससे ही **[सविचारा]** सविचारा समापत्ति **[निर्विचारा]** निर्विचारा समापत्ति **[च]** और **[सूक्ष्मविषया]** सूक्ष्म विषय (ध्येय) वाली **[व्याख्याता]** व्याख्यान की हुई समझ लेनी चाहिए।

सवितर्का तथा निर्वितर्का के व्याख्यान से ही सविचारा और निर्विचारा समापत्ति का -जिसमें विषय-ध्येय सूक्ष्म रहता है—व्याख्यान समझ लेना चाहिए।

सवितर्का-निर्वितर्का में ध्येय विषय स्थूलभूत अथवा भौतिक पदार्थ रहता है। पर सविचारा-निर्विचारा में चित्त की एकाग्रता का स्तर बढ़ जाने से ध्येय विषय सूक्ष्म तत्त्व हो जाते हैं। यह प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है, सवितर्का समापत्ति में ध्येय विषय शब्द, अर्थ, ज्ञान से सङ्कीर्ण रहता है, जबकि निर्वितर्का में केवल स्थूल अर्थतत्त्व ध्यान का विषय रहता है।

सवितर्का के ठीक समान सविचारा समापत्ति में चित्त के ध्यान का विषय सूक्ष्मतत्त्व पृथिवी आदि परमाणु शब्द, अर्थ ज्ञान के साथ देश, काल और कारण से सङ्कीर्ण रहता है। जब चित्त पृथिवी आदि परमाणु में संयत किया जाता है।, तो वह तब उसके शब्द, अर्थ, ज्ञान के चिन्तन के साथ उसके देश-ऊपर, नीचे, इधर-उधर आदि, काल -वर्त्तमान, भूत-भविष्यत तथा उसके कारण तन्मात्र[१] के विषय में भी चिन्तन करता है। इस प्रकार प्रस्तुत समापत्ति में ध्येय का चिन्तन शब्द, अर्थ, ज्ञान और देश काल, कारण से सङ्कीर्ण रहता है, सूक्ष्म अर्थतत्त्व के चिन्तन के साथ तत्सम्बन्धी उक्त बातों का भी चिन्तन होने से यह सविचारा समापत्ति है।

निर्विचारा समापत्ति में चित्त की एकाग्रता की स्थिति और उन्नत हो जाने से ध्येय विषय के शब्द, ज्ञान तथा देश, काल

---

१. यह पद 'तन्मात्र' है, 'तन्मात्रा' स्त्रीलिंग नहीं। सांख्य-योग के समस्त ग्रन्थों-सूत्र और व्याख्याओं में नपुंसकलिङ्ग अकारान्त 'तन्मात्र' पद का प्रयोग है। सांख्य के सृष्टिक्रम सूत्र में 'अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि' पाठ है। आगे विभिन्न संस्करणों में 'तेभ्यः स्थूलभूतानि' अथवा 'तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि' पाठ है, जो पद के नपुंसकलिङ्ग होने को स्पष्ट करता है। पर योग के अनेक हिन्दी व्याख्याकार अहम्मन्य योगाचार्य तक स्त्रीलिंग पद के प्रयोग में ही रस लेते रहते हैं। यह उनके शास्त्रीय आन्तरिक वैदुष्य की परख है।

पृथिवी आदि के परम सूक्ष्म 'परमाणु' तत्त्व तन्मात्रों से अभिव्यक्त होते हैं।

कारण के चिन्तन की निवृत्ति होकर केवल शुद्ध अर्थमात्र ध्यान का विषय रह जाता है। इसलिए शब्द और देश आदि से सङ्कीर्ण न होने के कारण सम्प्रज्ञात समाधि का चौथा उन्नत स्तर 'निर्विचारा समापत्ति' कहा जाता है यद्यपि शब्द, ज्ञान, देश, काल आदि सब धर्म ध्येय अर्थ में अन्तर्हित रहते हैं, पर वे केवल अर्थमात्र के ध्यानकाल में उभरते नहीं, समाधिप्रज्ञा के साक्षात् विषय अथवा आलम्बन नहीं होते। केवल अर्थमात्र निरन्तर आलम्बन बना रहता है, जब तक वह प्रज्ञा अथवा चित्तवृत्ति चालू रहे। यही समाधि का द्योतक है। इस प्रकार सवितर्का-निर्वितर्का समापत्ति में ध्येय विषय स्थूल और सविचारा-निर्विचारा में सूक्ष्म होता है। फलतः निर्वितर्का के समान निर्विचारा भी विकल्प-सङ्कीर्णता से रहित है, यह स्पष्ट हो जाता है ॥४४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या सूक्ष्मविषय पृथिवी आदि परमाणु पर समाप्त हो जाता है या आगे और भी कोई सूक्ष्मविषय हैं? आचार्य सूत्रकार ने बताया

सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥४५॥

[सूक्ष्मविषयत्वम्] सूक्ष्म विषय होना **[च]** और **[अलिङ्गपर्यवसानम्]** प्रकृति पर्यन्त रहता है।

सूत्र में 'अलिङ्ग' पद मूल प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ

सांख्य-योग में इनके लिए पारिभाषिक पद 'विशेष' है। तन्मात्रों के लिए पद है-'अविशेष'। तन्मात्र से अभिव्यक्त पृथिवी आदि के आद्य परमसूक्ष्मकण में गन्ध आदि विशेष गुणों के उभर आने से उनका नाम 'विशेष' है। ऐसे गुणों का उभार तन्मात्रों में न होने से उनको 'अविशेष' नाम दिया गया। इन 'विशेष' संज्ञक पृथिवी आदि परमाणुओं को ही मूल मानकर कणाद ने आगे तत्त्वों की व्याख्या की-दर्शन के प्रारम्भिक अधिकारियों के लिएए इसी आधार पर उसका 'वैशेषिक दर्शन' नाम सार्थक है। 'विशेषं मूलत्वेन अधिकृत्य प्रवृत्तं दर्शनं शास्त्रं, इति वैशेषिकं शास्त्रं दर्शनं वा'। इसे मूल मानने के कारण वहां नित्य स्वीकार कर लिया गया है। इसमें कोई शास्त्रीय बाधा या विरोध नहीं है।

है। लीन- अन्तर्हित अर्थ का बोध करानेवाले को लिङ्ग कहते हैं-**लीनमर्थं गमयति-बोधयति इति लिङ्गम्।** प्रत्येक कार्य अपने कारण का लिङ्ग होता है। क्योंकि कारण के बिना कार्य हो नहीं सकता, इसलिए कार्य को देखकर अदृश्य भी कारण का अनुमान किया जाता है; फलतः कार्य कारण का लिङ्ग है।

सवितर्का-निर्वितर्का समापत्ति के ध्येयविषय स्थूल भूत अथवा भौतिक पदार्थ रहते हैं। सविचारा-निर्विचारा समापत्ति के सूक्ष्म भूत पृथिवी आदि परमाणु। कार्य की अपेक्षा कारण सदा सूक्ष्म होता है। यह व्यवस्था उपादान कारण के विषय में समझनी चाहिए। सूक्ष्म पृथिवी आदि परमाणु क्योंकि कार्य है, उसके कारण तन्मात्र उससे सूक्ष्म होंगे। अतः पृथिवी आदि परमाणु अपने कारण-तन्मात्रों के लिङ्ग हैं। तन्मात्र भी कार्य हैं, अहंकार तत्त्व से अभिव्यक्त होते हैं। अहंकार से घ्राण आदि इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं, अतः उनकी सूक्ष्मता तन्मात्र तत्त्वों के समकक्ष समझनी चाहिए। वे भी अपने कारण अहंकार के लिङ्ग हैं। अहंकार महत्तत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व का कार्य होने से उसका लिङ्ग है। महत्तत्त्व प्रकृति का आद्य कार्य है, फलतः महत्तत्त्व प्रकृति का लिङ्ग है। प्रकृति समस्त कार्यजगत् का मूल उपादान कारण है, प्रकृति का कोई कारण नहीं। अतः प्रकृति किसी का कार्य न होने से लिङ्ग नहीं, अलिङ्ग है। इस प्रकार सूक्ष्मता के क्रम का परमाणु से प्रारम्भ होकर प्रकृति पर अवसान हो जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के साधारण लक्षण-सूत्र [१७] के निर्देशानुसार प्रस्तुत समाधि के ध्येय विषय के आधार पर चौथे स्तर की निर्विचारा समापत्ति के आगे 'आनन्दानुगत' और 'अस्मितानुगत' समाधि का भी उल्लेख है। यह भी सूक्ष्मध्येय-विषयक समाधि-स्तर हैं। जहाँ निर्विचार समापत्ति में ध्येय विषय परमाणु एवं तन्मात्र हैं, वहाँ आनन्दानुगत समाधि में ध्यान का विषय करण एवं प्रकृति होते हैं तथा अस्मितानुगत में

अहंकाररूढ़ आत्मा। समापत्ति विभाग के विचार से आनन्दानुगत और अस्मितानुगत को निर्विचार समापत्ति के अन्तर्गत समाधि के उन्नत एवं उन्नततर स्तर के रूप में समझना चाहिए।

यद्यपि आत्मतत्त्व प्रकृति से सूक्ष्म है, पर सूक्ष्मविषयता के इस क्रम के अन्तर्गत केवल शुद्ध आत्मतत्त्व का समावेश नहीं है। यह सूक्ष्मविषयता का क्रम उपादानमूलक कार्य-कारणभाव पर आधारित है। आत्मतत्त्व किसी का उपादान कारण नहीं होता। इसीलिए सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम स्तर 'अस्मितानुगत' में अहं प्रज्ञा से अभिभूत आत्मा ध्यान का विषय रहता है, केवल शुद्ध आत्मतत्त्व[१] नहीं। समाधि के इस स्तर में आत्म-साक्षात्कार की झलक ध्यान साधक को अवश्य मिल जाती है। नितान्त सात्त्विक बुद्धि (प्रज्ञा) का सहयोग उस साक्षात्कार में भासित रहता है। वह अहंभावापन्न सात्त्विक बुद्धि जब तक उस ध्यानक्रम में निर्बाध निरत रहती है, साक्षात्कार बना रहता है। वैसी चित्तवृत्ति न रहने पर ओझल हो जाता है। पर वह दर्शन (साक्षात्कार) साधक को दृढ़ता के साथ प्रोत्साहित करता है कि वह उसकी निरन्तर निर्बाध स्थायिता को प्राप्त करे ॥४५॥

समाधि के इस स्तर पर पहुँचने तक उसका विशेषरूप क्या होता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

[ताः-एव] वे ही **[सबीजः]** बीज सहित **[समाधिः]**

---

१. आत्मतत्त्व स्वरूप कभी अशुद्ध नहीं होता, वह सदा शुद्ध है। प्रकृति के सम्पर्क में आने की अवस्था को लक्ष्यकर आत्मतत्त्व को उस समय 'सोपाधिक' आदि पदों से व्यवहृत किया जाता है। प्रकृति का सम्पर्क आत्मतत्त्व में न कोई विकार उत्पन्न करता है, न उसको अशुद्ध बनाता है। केवल इतना समझना चाहिए कि अशुद्ध प्रकृति के सम्पर्क में रहने पर एकमात्र शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं रहता, प्रत्युत प्रकृति सम्पर्क भी उसके साथ रहता है, यद्यपि उसके स्वरूप में इससे कोई अन्तर नहीं आता। समाधि की उस दशा में 'अस्मिता' वृत्ति के बने रहने से प्रकृति-सम्पर्क की विद्यमानता अभिलक्षित होती है।

समाधि है।

समाधि के इस स्तर तक पहुँचने पर साधक के साथ बन्धन के बीज (कारण) बने रहते हैं। आत्मा के बन्धन का कारण प्रकृति-संयोग[१] है। समाधि के इस स्तर पर आत्मा का प्रकृति के साथ सम्पर्क बना हुआ है। साधक आत्मा यहाँ तक सात्त्विक बुद्धि के सहारे चढ़कर आया है। अभी वह साथ चिपटी है। कोई तीव्र प्रकृति का लोभ सामने आ जाय, तो फिर वह आत्मा को पीछे की ओर खींच ले जा सकती है। सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम स्तर तक बन्धन का बीज प्रकृति-संयोग बना रहता है इसलिए सम्प्रज्ञता को 'सबीज' समाधि माना गया है।।४६।।

सात्त्विक बुद्धि के सहारे केवल शुद्ध आत्मसाक्षात्कार-रूप सर्वोच्च शिखर के किनारे पर आकर इसे (बुद्धि को) नीचे की ओर धकेल देना है। पुरुष सदा यही करता आया है, जिसके सहारे चढ़ा उसे ही ठुकराया। फिर अकेले कैवल्य का रास्ता साफ है। सूत्रकार ने इस भावना की स्थिति का संकेत दिया--

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।।४७।।

[निर्विचारवैशारद्ये] निर्विचार समापत्ति के और अधिक निर्मल (उन्नत) हो जाने पर **[अध्यात्मप्रसादः]** आत्मविषयक प्रसाद-विवेकख्याति-साक्षात्कार (अधिक समीप हो जाता है।)

सूत्र में 'प्रसाद' पद का अर्थ है-प्रसन्नता, स्वच्छता, निर्मलता, चित्तवृत्ति की एकाग्रता का और अधिक उन्नत स्तर। तात्पर्य है—विवेकख्याति के स्तर तक पहुँच जाना। सम्प्रज्ञात समाधि के सीमाक्षेत्र में 'निर्विचार समापत्ति' का स्थान लगभग मध्य में आता है। सवितर्का-निर्वितर्का के विषय में साक्षात्क्रियमाण स्थूलभूत हैं। सविचारा-निर्विचारा के सूक्ष्मभूत। इसके आगे

१. द्रष्टव्य, सांख्यसूत्र-१।१९।।, गीता १३।२१।।

आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि के कारणों से प्रकृति पर्यन्त और प्रकृति [अहंभावमिश्रित चित्त-बुद्धि] से अभिभूत आत्मा का तात्कालिक साक्षात्कार होता है। निर्विचारा समापत्ति की यहाँ सीमा है और सम्प्रज्ञात समाधि की भी इस प्रकार 'निर्विचारा समापत्ति' का विषय उसके समस्त स्तरों का विचार करते हुए, सूक्ष्मभूत से लेकर प्रकृति-पर्यन्त है तथा उसी का अन्तिम स्तर है-अहंभावापन्न आत्मा का साक्षात्कार, जो तात्कालिक रहता है-झलकमात्र। सूत्र के 'निर्विचारवैशारद्य' पद से 'निर्विचार समापत्ति' के अथवा 'सम्प्रज्ञात समाधि' के इसी स्तर का निर्देश किया गया है।

चित्त की एकाग्रता जब ऐसे स्तर पर पहुँच जाती है, उस समय सिद्ध आत्मतत्त्वविषयक चिन्तन व ध्यान निरन्तर निर्बाध चलते रहने से स्पष्टरूप में बुद्धितत्त्व आलोकित होकर आत्मा को तथा सब तत्त्वों को यथार्थरूप से साक्षात् कराने में समर्थ होता है। यह ऐसा ही होता है, जैसे कोई पर्वत शिखर पर बैठा बुद्धिमान व्यक्ति भूमि पर स्थित सब प्राणियों को देखता है, इसी प्रकार शुद्ध निर्मल प्रज्ञा [नितान्त एकाग्र बुद्धि] रूप प्रसाद के ऊपर चढ़कर सर्वथा शोकादि रहित आत्मदर्शी योगी शोकादि मलों एवं त्रिविध दुःखों से दबे हुए संसारी पुरुषों को देखता है।।४७।।

चित्त की एकाग्रता के इस स्तर पर पहुँचने की स्थिति में चित्त-बुद्धितत्त्व प्रज्ञा के एक विशेष नाम का आचार्य सूत्रकार ने निर्देश किया-

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।।४८।।

[**ऋतम्भरा**] 'ऋतम्भर' नामवाली [**तत्र**] उस दशा में [**प्रज्ञा**] बुद्धि (कही जाती है)।

'ऋत' यह एक वैदिक पद है, जो अपने उसी रूप और अर्थ को लेकर लोक में प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ है-ईश्वर

की निर्धारित व्यवस्था। ईश्वर सर्वोच्च चेतन शक्ति है। इस विश्व को सञ्चालित करने के लिए उसन किन्हीं नियमों व व्यवस्थाओं को निर्धारित किया है। उन्हीं से नियन्त्रित होकर समस्त लोक-लोकान्तर सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, नक्षत्र आदि अपनी परिधि में गति करते व सञ्चालित रहते हैं। व्यवस्था की इस यथार्थता को चित्त की एकाग्रता के उस आलोक में योगी पहचान लेता है। उस स्थिति में प्रज्ञा का यह नाम अन्वर्थ होता है, अर्थानुसारी होता है। वह प्रज्ञा सब यथार्थ को धारण करती है। जो जैसा तत्त्व है, उसको उसी रूप में प्रज्ञा द्वारा जाना जा सकता है। तब उसमें भ्रम का अंश नाममात्र भी नहीं भासता। चित्त की एकाग्रता की ऐसे उत्तम स्तर को साधक योगी श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा प्राप्त कर लेता है। साधक को इसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए॥४८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सूक्ष्म-अतीन्द्रिय विषयों को शब्द तथा अनुमान प्रमाणों द्वारा जाना जा सकता है, फिर 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा के लिए इतना कठोर प्रयास करना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥४९॥

[श्रुत-अनुमानप्रज्ञाभ्याम्] शब्दप्रमाणजनित प्रज्ञा तथा अनुमान प्रमाण की प्रज्ञा से **[अन्यविषया]** भिन्न विषयवाली होती है (ऋतम्भरा प्रज्ञा), **[विशेषार्थत्वात्]** विशेष अर्थवाली होने से।

सूत्र का 'श्रुत' पद आगम अर्थात् शब्द प्रमाण का निर्देश करता है। प्रत्येक अर्थतत्त्व साधन के अनुसार अपने दो रूपों में भासित होता है, एक सामान्य, दूसरा-विशेष। किसी पदार्थ का सामान्य रूप वह है, जो उसी प्रकार के अन्य सब पदार्थों में पाया जाता है। इससे भिन्न पदार्थ का विशेष रूप वह है, जो प्रत्येक पदार्थ का केवल अपना निजीरूप है। यह समान प्रकार

के पदार्थों में भी एक-दूसरे के भेद का साधक होता है।

शब्द और अनुमान प्रमाणों से पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह केवल पदार्थ के सामान्यरूप का होता है। तात्पर्य है-शब्द और अनुमान प्रमाण से पदार्थ के सामान्यरूप का ज्ञान होता है, विशेषरूप का नहीं, क्योंकि शब्द के द्वारा किया गया अर्थ का संकेत उसके विशेषरूप को अभिव्यक्त व भासित नहीं कर सकता। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण की गति भी अर्थ के सामान्यरूप तक रहती है, जहाँ अनुमान की प्राप्ति ही नहीं, उसका बोध कैसे करायेगा?

उदाहरण के रूप में, जैसे 'गाय' पद को सुनकर एक प्राणी को जो बोध होता है, वह ऐसा होता है, जो सामान्यरूप से प्रत्येक गाय में अन्वित रहता है। 'गाय' पद से गायमात्र का साधारण सामान्य ज्ञान होता है। यही स्थिति अनुमान प्रमाण से होनेवाली ज्ञान की रहती है। परन्तु जब गाय को प्रत्यक्ष से देखा जाता है, तब उसका वह स्वरूप साक्षात् जाना जाता है, जो उस को अन्य गायों से भिन्न सिद्ध करता है। यह गाय का विशेषरूप है, जो प्रत्येक गाय को एक दूसरे से अलग पहचानने में सहायक होता है। ऐसा स्वरूप शब्द तथा अनुमान प्रमाण से दिखाया जाना सम्भव नहीं होता। यह केवल प्रत्यक्ष का सामर्थ्य है कि वह वस्तु के विशेषरूप का बोध करा देता है।

परन्तु जो पदार्थ सूक्ष्म, व्यवहित एवं दूर देश में स्थित हैं, उनका बाह्य इन्द्रियों द्वारा लौकिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनका लौकिक या बाह्य प्रत्यक्ष न होने से उन पदार्थों का अभाव है। इसलिए सूक्ष्म (बाह्य इन्द्रियों से अग्राह्य), व्यवहित पदार्थों के विशेषरूप का प्रत्यक्ष करने के लिए समाधि-प्रज्ञा [ऋतम्भरा प्रज्ञा] का प्राप्त करना अपेक्षित होता है। सूक्ष्मभूत, कारण तथा प्रकृति पदार्थों के विशेषरूप का बोध केवल समाधिप्रज्ञा द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार आत्मतत्त्व का साक्षात्कार उसी प्रज्ञा का विषय है।

फलतः शब्द और अनुमान प्रमाण का विषय पदार्थ का सामान्यरूप है; प्रत्यक्ष का विषय विशेषरूप। दोनों का विषय भिन्न होने से समाधिप्रज्ञा द्वारा बोध्य अर्थ का ज्ञान शब्द तथा अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता। क्योंकि–अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों द्वारा सम्भव नहीं, अतएव उसके लिए अन्तःकरण का उपयोग किया जाता है। अन्तःकरण की ऐसी स्थिति निर्विचार समाधि के अन्तिम स्तर पर हो पाती है। इसी भाव को प्रस्तुत सूत्र में बताया है॥४९॥

जब निरन्तर अभ्यास आदि के कारण योगी को समाधि प्रज्ञा [ऋतम्भरा प्रज्ञा] प्राप्त हो जाती है, उस समय एकाग्र चित्त व्युत्थान–संस्कारों के उभारने में असमर्थ–सा रहता है। तब केवल अध्यात्मचिन्तन का क्रम निर्बाध चालू रहता हे, यह भाव सूत्रकार ने बताया–

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी॥५०॥

[तज्जः] उससे (समाधि प्रज्ञा से) जनित–उत्पन्न हुआ **[संस्कारः]** संस्कार **[अन्य–संस्कार–प्रतिबन्धी]** अन्य संस्करों का रोकनेवाला होता है।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम पद समाधिप्रज्ञा (ऋतम्भरा प्रज्ञा) का परामर्श करता है, नितान्त सात्विक चित्त की एकाग्रता के स अन्तिम स्तर पर जो अध्यात्मविषयक संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे व्युत्थान दशा में संस्कारों को उभरने से रोक देते हैं। जब व्युत्थान दशा के संस्कार उभरने नहीं पाते, तो उनके सहयोग से आगे होनेवाले अन्य व्युत्थान–कालिक अनुभव भी नहीं होते, इस प्रकार समाधिप्रज्ञा की उस दशा में–व्युत्थान संस्कारों के उभार से होनेवाले वैसे अनुभव और उन अनुभवों से होनेवाले सजातीय संस्कारों का क्रम–अवरुद्ध हो जाता है।

व्युत्थान संस्कारों की अनन्त राशि भी समाधिप्रज्ञा से जनित संस्कार को दबा नहीं पाती, समाधि–संस्कार अत्यन्त

प्रबल होते हैं। इस कारण चित्त की एकाग्रता के क्रम को तोड़कर व्युत्थान-संस्कार चित्त को अपनी ओर नहीं खींच पाते। प्रज्ञाजनित संस्कारों की प्रबलता का कारण यह है कि ये संस्कार क्लेश के नाश का हेतु होते हैं, क्लेश को उत्पन्न करनेवाले नहीं। इसलिए सांसारिक विषयों को भोगने की ओर जाने में चित्त को शिथिल कर देते हैं। भोग का क्रम तो क्लेशों को पुनः उत्पन्न करनेवाला होता है। विवेकख्याति होने से पहले तक ही भोगों की ओर चित्त के प्रेरित होने की सम्भावना रहती है। विवेकख्याति की झलक पा जाने पर चित्त का रुझान भोगों की ओर नहीं रहता।

प्रज्ञाजनित संस्कारों की प्रबलता का यह भी कारण है कि वे संस्कार सर्वथा यथार्थविषयक होते हैं जो जैसा तत्त्व है, उसको ठीक उसी रूप में जाना जाता है, उसी अनुभव के वे संस्कार हैं। व्युत्थान दशा में जो वस्तु का ज्ञान होता है, वह पूर्णरूप में यथार्थ नहीं होता, उसमें सन्देह के अवसर पग-पग पर बराबर बने रहते हैं, जो ऋतम्भराप्रज्ञा-जनित संस्कारों में सम्भव नहीं। यथार्थज्ञान सदा अयथार्थ से प्रबल होता है। फलतः प्रज्ञाजनित संस्कार भोग की भावना को नितान्त शान्त कर देते हैं॥५०॥

सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम स्तर के अनन्तर जो स्थित समाधि की होती है, आचार्य सूत्रकार ने उसे बताया—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥५१॥

[**तस्य**] उस (प्रज्ञाजनित) संस्कार के [**अपि**] भी [**निरोधे**] रोक दिये जाने पर [**सर्व-निरोधात्**] सब चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से [**निर्बीजः**] निर्बीज [**समाधिः**] हो जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम स्तर तक चित्तवृत्ति का अधिकार चालू रहता है, यद्यपि उसमें भोगाधिकार न होकर

अध्यात्म का चिन्तन रहता है। फिर भी वृत्ति का क्रम चालू रहने से किसी आकस्मिक प्रबल प्रलोभन के सामने आ जाने पर वृत्ति का वह क्रम भोगाधिकार की ओर झुक जाय, यह सम्भावना बनी रहती है। वृत्ति का भोगाधिकार की ओर झुकना संसार का बीज है। आत्मा का–भोगप्रधान चित्तवृत्तियों के भंवर–चक्र में–फँसे रहना, अनिश आवर्त्तमान जन्म–मरणरूप संसार में डूबे रहने के कारण है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम स्तर तक संसार का बीज बन रहता है; इसी कारण समाधि के इस स्तर (सम्प्रज्ञात) को 'सबीज' समाधि कहा जाता है।

इसके अनन्तर समाधि का वह स्तर है, जिसमें आत्मा के स्वरूप-साक्षात्कार का स्थायित्व हो जाता है। आत्मा स्वरूप साक्षात्कार की भावना से स्वतः प्रकाशित रहता है। उस आत्म–दर्शन में चित्त का नितान्त भी सहयोग अपेक्षित नहीं रहता तब स्वप्रकाश आत्मा स्व–साक्षात्कार में स्वतः भासित रहता है। चित्तवृत्ति का क्रम इससे पूर्व ही पूर्णरूप से समाप्त हो जाने के कारण अब यहाँ संसार-बीज के विद्यमान रहने की सम्भावना नहीं। अतः इस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने से इस समाधि को 'निर्बीज समाधि' कहा जाता है।

इस दशा में वैराग्य सर्वोच्च कोटि पर पहुँच जाता है। यह परवैराग्य है, जब किसी सांसारिक विषय-प्रलोभन की ओर आकृष्ट होने की भावना के उभरने की सम्भावना नहीं रहती। आत्मसाक्षात्कार का स्वच्छ निर्बाधरूप में निरन्तर चालू रहना 'परवैराग्य' का स्वरूप है। यह स्पष्ट किया गया कि सबीज समाधि के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों को रोक देते हैं। ये संस्कार चित्त को निरन्तर समाधिप्रज्ञा में लगाये रखते हैं, सबीज संस्कार समानजातीय प्रज्ञा को अभिव्यक्त करता है। इस प्रज्ञा के द्वारा आत्मा प्रकृति से स्व-भेद का साक्षात्कार करता है। चित्तवृत्ति के द्वारा होने से यह साक्षात्कार वृत्त्यात्मक है। वृत्ति

आत्म-धर्म न होकर चित्त का धर्म है। आत्मा चित्त के इस सहयोग का भी परित्याग करने के लिए उत्सुक रहता है। वह सर्वात्मना स्वरूप में अवस्थित होना चाहता है। आत्मा की यह प्रबल भावना सबीज-समाधिप्रज्ञा से जनित संस्कारों को रोक देती है। यह स्थिति सूत्र के 'तस्यापि निरोधे' पदों से अभिव्यक्त होती है।

अब वह किसी अन्य के सहयोग से दृश्य नहीं देख रहा, प्रत्युत स्वतः प्रकाशित हो रहा है। सब वृत्तियों के निरोध से अभिव्यक्त स्वप्रकाश आत्मा की वह स्थिति सम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न सबीज संस्कारों को रोक देती है। सूत्र के 'अपि' पद से यह ध्वनित होता है कि सर्ववृत्तिनिरोध की अवस्था में स्वात्मानुभव सबीज संस्कारों को तो रोकता ही है, उसके अतिरिक्त व्युत्थानदशा की समस्त संस्कारराशि को ध्वस्त कर देता है। सबीज समाधिजनित संस्कारों से व्युत्थान के संस्कार केवल उभरने में असमर्थ हो जाते हैं, पर स्वरूप से विद्यमान तो रहते ही हैं। उनका मूलतः उच्छेद तभी होता है, जब आत्मा अवृत्तिकरूप से [चित्तसहयोग के बिना] स्वसाक्षात्कार करता है। इस दशा में चिरकाल संचित संस्कारराशि के साथ चित्त भी अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है। पूर्णयोगी के आत्म-साक्षात्कार की यह स्थिति देहादि के रहते भी कभी टूटती नहीं। प्रारब्ध कर्म-फलोपभोग पूरा हो जाने पर देह गिर जाता है, आत्मा 'कैवल्य' प्राप्त कर लेता है।

प्रथम पाद में 'समाधि' का पूर्णविवरण होने से इसका नाम 'समाधिपाद' है। इसमें योग का लक्षण, लक्षणपदों की व्याख्या योग (समाधि) प्राप्ति के उपाय-अभ्यास और वैराग्य दोनों के स्वरूप, भेद एवं अपेक्षित विवरण, समाधि के सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात भेद, उसके उपायों का विस्तृत वर्णन, प्रसंगानुकूल ईश्वर का स्वरूप, उसका वाचकपद, उसके जप-उपासना का विधान, चित्त के विक्षेप, व उसके सहभावी

दुःख आदि बताकर, विक्षेप आदि के निवारक उपाय–एक तत्त्व का अभ्यास, मैत्री–करुणा आदि प्राणायाम, प्रवृत्ति आदि को प्रस्तुत कर, समापत्ति–विवरण द्वारा सम्प्रज्ञात तथा अन्त में असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप बताकर विषय को पूर्णरूप में सम्पन्न किया है। अब समाधि के सब प्रकार के साधनों का विवरण अगले पाद में प्रस्तुत किया जायगा॥५१॥

॥ इति श्रीपूर्णसिंहतनुजनुषा तोफादेवीगर्भजातेन, 'बलिया' मण्डला–
न्तर्गत 'छाता' वासिश्री–गुरुवर्यकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवा–
लब्धविद्योदयेन, बुलन्दशहर–मण्डलान्तर्गत 'बनैल'
ग्रामवासिना–**उदयवीर–शास्त्रिणा**–समुन्नीते
पातञ्जलयोगदर्शन–विद्योदयभाष्ये
प्रथमः समाधिपादः॥

अथ द्वितीयः साधनपादः

प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप, उसके भेद, अवान्तर भेद, समाधि के अन्तरङ्ग साधन अभ्यास-वैराग्य तथा समाधि के फल आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया। योग के अन्तरङ्ग साधनों का अनुष्ठान वे उत्तम अधिकारी कर पाते हैं, जिनका चित्त पहले से शुद्ध होता है, वैराग्य की भावना रहती है तथा समाधिप्राप्ति के मार्ग पर चलने के लिए रुचि एवं आकर्षण होता है। ऐसे समाहित चित्तवाले व्यक्तियों का अन्तरङ्ग साधनों के अनुष्ठान में सीधे प्रवृत्ति होना सम्भव रहता है। परन्तु जो अभी विक्षिप्तचित्त हैं, ऐसे मध्यम अधिकारियों के लिए आवश्यक है कि वे प्रथम बहिरङ्ग साधनों का अनुष्ठान कर चित्त को शुद्ध बनायें। यह ऐसा ही है, जैसे खेत को जोतकर घास-कूड़ा निकाल कर बीज बोने के अनुकूल बनाया जाता है। बहिरङ्ग साधनों में से अन्यतम साधन क्रियायोग का निर्देश सूत्रकार ने किया--

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥ [५२]

[तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि] तप--शीत, उष्ण, सुख--दुःख आदि द्वन्द्वों का सहना, स्वाध्याय-धार्मिक एवं अध्यात्म सम्बन्धी-ग्रन्थों का अध्ययन, ईश्वर-प्रणिधान-अनन्य भक्ति से ईश्वर-वाचक प्रणव का जप तथा सर्वात्मना प्रभु में समर्पण भावना से कार्य करना, यह सब **[क्रियायोगः]** क्रियायोग नामक बहिरङ्ग साधन है, जो चित्त को शुद्ध-निर्मल करने में सहयोगी होता है।

जो व्यक्ति तपस्वी नहीं है, वह योगमार्ग में सफल नहीं हो सकता। आत्मा अनादिकाल से कर्म करता चला आ रहा है।

उसके कारण विविध प्रकार के क्लेश और वासनाओं से चित्त ओतप्रोत रहता है, विषयों के जंजाल में आत्मा को आकृष्ट करता रहता है, चित्त की अशुद्धि का यही स्वरूप है। क्लेश और वासनाओं की यह सघन राशि तपःप्रभाव से छीदी हो पाती है। हानि-लाभ, सुख-दुःख, गरमी-सरदी, भूख-प्यास आदि विरोधी द्वन्द्वों को—बिना किसी चिन्ता व शोक के—सहन करते रहने से वासना और क्लेश क्षीण होने लगते हैं। परन्तु इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि द्वन्द्वों का सहन करना अपनी उचित मात्रा से अधिक न हो, अन्यथा शरीर में धातु-वैषम्य उत्पन्न होकर साधक को रोगी बना देता है। इससे योगानुष्ठान में अनायास बाधा उपस्थित हो जाती है।

तप का महत्त्व और उसका विवरण विविध प्रकार के भारतीय साहित्य में भरा पड़ा है। उसका सारभूत अंश गीता के चौदहवें अध्याय [१४-१९] में संकलित है। तप का आचरण शरीर वाणी मन तीनों से होना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह तप सात्त्विकरूप हो, राजस-तामस न हो। योगमार्ग की सफलता के लिए सात्त्विक तप ही उपयोगी होता है।

स्वाध्याय—इस पद के दो भाग हैं—'स्व' और 'अध्याय'। 'स्व' पद के चार अर्थ हैं—आत्मा, आत्मीय अथवा आत्म-सम्बन्धी, ज्ञाति (बन्धु-बान्धव) और धन। अध्याय कहते हैं—चिन्तन, मनन करना अथवा अध्ययन। आत्मविषयक चिन्तन व मनन करना, तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन तथा 'प्रणव' आदि का जप करना 'स्वाध्याय' है। दूसरा—आत्मसम्बन्धी विषयों का चिन्तन-मनन करना। आत्मा का स्वरूप क्या है? कहाँ से आता, कहाँ जाता है? इत्यादि विवेचन से आत्मविषयक जानकारी के लिए प्रयत्नशील रहना। तीसरे—ज्ञाति-बन्धुबान्धव आदि की वास्तविकता को समझकर मोहवश उधर आकृष्ट न होते हुए विरक्ति की भावना को जागृत रखना। चौथे—धन-

सम्पत्ति आदि की ओर अधिक आकृष्ट न होना, उसका लोभी न बनना। धन की नश्वरता को समझते हुए निर्वाहोपयोगी मात्रा में आस्था रखना, बाह्य सहयोग पाकर मठ खड़ा करने की प्रवृत्तियों से बचना। यह सब योगमार्ग का भयावह बाधक होता है। इसलिए इन स्थितियों से साधक सदा विचारपूर्वक बचने का प्रयत्न करता रहे। इनमें लिपटकर साधक पहला थोड़ा-बहुत किया कराया भी खो बैठता है। 'स्वाध्याय' पद में यह सब भावना अन्तर्निहित हैं।

पूर्वकालिक योगी जनों की जीवनगाथाओं का पर्यालोचन, अध्ययन, मनन भी इसके अन्तर्गत समझना चाहिए। इससे साधक को अपने अभिलषित मार्ग पर चलने का प्रोत्साहन प्राप्त होता है। उससे साधक का चित्त सदा प्रसन्न बना रहता है और अनुष्ठान में चित्त की एकाग्रता बढ़ने लगती है। अध्यात्म-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों का अध्ययन मनन इसी में आ जाता है।

ईश्वरप्रणिधान—अनन्य भक्तिभाव से ईश्वर का आराधन-चिन्तन करना, शास्त्रीय पद्धति से 'प्रणव' जप के द्वारा प्रभु की उपासना करना। प्रत्येक कार्य परमात्मा में समर्पण भावना से सम्पन्न करना। अपने आपको पूर्णरूप से परमेश्वर में समर्पित कर देना। ऐसी स्थिति में साधक जो कार्य करता है, उसमें स्वार्थ, पक्षपात व लोभ आदि की भावनायें उभरने नहीं पातीं। इससे चित्त की निर्मलता के लिए-अर्थात् चित्त में राग-द्वेष आदि मल उभरने न पायें, ऐसी स्थिति के लिए उपयुक्त सहयोग प्राप्त होता है। फलस्वरूप साधक का मार्ग निर्बाध बना रहता है।

'क्रियायोग' नामक यह बहिरङ्ग साधन शरीर, वाणी व मन से नियमपूर्वक आचरण किये जाने की अपेक्षा रखता है। आगे बताये गये [२९] योग के आठ अङ्गों में यम-नियम का प्रथम स्थान पर निर्देश किया गया है। इनमें यम सामाजिक आचरण की व्यवस्था है और नियम वैयक्तिक। हिंसा आदि

जिनका आचरण यमों में निषिद्ध बताया, उनका सम्बन्ध समाज के किसी अन्य व्यक्ति से जुड़ा रहता है, पर नियम वैयक्तिक आचरण है। इसीलिए मानव धर्मशास्त्र [४।२०४] में यमों के आचरण को महत्त्व दिया गया है, इससे सामाजिक व्यवस्था में विशृंखलता उत्पन्न नहीं होती। शौच, सन्तोष आदि नियमों का सेवन व्यक्ति पर अवलम्बित है, उसके सेवन न करने से केवल व्यक्ति प्रभावित होता है, समाज का कोई अन्य अङ्ग नहीं। इस रूप में यमों का सेवन कठिन तथा नियमों का सेवन कुछ सरल व निरपेक्ष होता है। प्रस्तुत सूत्र में उपदिष्ट-तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान नियमों का पर-भाग है। 'क्रियायोग' नाम से आचार्य ने बहिरङ्ग साधनों में सबसे प्रथम इनका निर्देश इसी भावना से किया प्रतीत होता है कि योगमार्ग के साधक को अपना अनुष्ठान इन्हीं से प्रारम्भ करना चाहिए। इनके पूर्ण आचरण से योग के लिए चित्तभूमि दृढ़ व शुद्ध हो जाती है ॥१॥ [५२]

क्रियायोग के आचरण व अनुष्ठान का आचार्य सूत्रकार ने प्रयोजन बताया—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥ [५३]

[समाधि-भावनार्थः] समाधि की भावना प्रयोजन है **[क्लेशतनूकरणार्थः]** क्लेशों को कम करना प्रयोजन है **[च]** और।

क्रियायोग के निरन्तर अनुष्ठान से समाधि-प्राप्ति के लिए एक भावना जागृत हो जाती है। साधक का विचार व चिन्तन उस अवस्था के लिए दृढ़ व आस्थापूर्ण हो उठता है, जो समाधि का पूर्णरूप है। निरन्तर प्रयास करता हुआ तब वह कालान्तर में उसको प्राप्त कर लेता है। समाधि भावना को दृढ़ करना व जागृत रखना क्रियायोग का पहला प्रयोजन है। अथवा कहना चाहिए, क्रियायोग का पहला फल है–समाधि भावना का

जागृत रखना। साधक का समाधि प्राप्त करने का संकल्प कदाचित् टूट न जाय।

दूसरा प्रयोजन है-क्लेशों का तनूकरण। तनूकरण पद का अर्थ होता है-किसी वस्तु (काष्ठ, प्रस्तर आदि) को छील-छीलकर, तछकर छोटा करना। क्रियायोग के अनुष्ठान से क्लेश धीरे-धीरे क्षीण होते चले जाते हैं। कालान्तर में विवेकख्याति के निरुपद्रव हो जाने पर समस्त क्लेश जड़ से उखाड़ फेंक दिये जाते हैं। क्रियायोग का यह दूसरा फल है। जैसे प्रथम [१।३०] व्याधि आदि अवस्थाओं को चित्त की एकाग्रता के लिए विक्षेप-विघ्न, बाधक व अन्तराय बताया गया, वैसे ही क्लेश सदा चित्त को विक्षिप्त बनाये रखते हैं, इससे एकाग्रता में बराबर बाधा आती रहती है। ऐसी बाधाओं को क्रियायोग का अनुष्ठान दूर कर देता है॥२॥ [५३]

समाधि का विवरण प्रथम पाद में आ चुका है। अब 'क्लेश क्या और कितने हैं?' जिनको तछना है, सूत्रकार ने बताया—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च[१]
क्लेशाः॥३॥ [५४]

[अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश **[पञ्च]** पाँच **[क्लेशाः]** क्लेश हैं।

अविद्या आदि ये सब भाव मानवमात्र को क्लेश पहुँचाते हैं, दुःखी करते हैं, इसी कारण इनको 'क्लेश' कहा जाता है। जब इनका प्रवाह चालू रहता है, तो ये सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों के सहयोग से आत्मा के सुख-दुःख आदि भोगाधिकार को दृढ़ बनाते हैं तथा महत्, अहङ्कार, मन, इन्द्रिय, तन्मात्र, सूक्ष्म-स्थूलभूत आदि के रूप में प्रकृति-परिणाम को निरन्तर चालू रखते हैं।

१. कतिपय संस्करणों में 'पञ्च' पद सूत्रपठित नहीं है।

पदार्थों के कार्यकारणभाव को उजागर करते हैं। यह अविद्या आदि का प्रभाव है, जो इस प्रकार विविधरूप में संसार चल रहा है। यह सब पुरुष के अर्थात् आत्मा के कर्मफलरूप भोग व अपवर्गरूप प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए है, जिसमें कर्म और क्लेश एक-दूसरे के अनुग्रह के अधीन रहकर अपना कार्य करते हुए कर्मफलों को सम्पन्न करते हैं, जो जाति, आयु और भोग के रूप में व्यवस्थित हैं।

अविद्या, मिथ्याज्ञान अथवा विपर्यय को कहते हैं। अस्मिता आदि शेष क्लेशों का अविद्या मूल है, कारण है। इसलिए अन्य सब क्लेश विपर्यय के अन्तर्गत परिगणित होते हैं ॥३॥ [५४]

अस्मिता आदि क्लेश अविद्यामूलक हैं, इसी तथ्य को आचार्य सूत्रकार ने बताया—

**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो-
दाराणाम् ॥४॥ [५५]**

[अविद्या] अविद्या-विपर्यय **[क्षेत्रम्]** क्षेत्र-उत्पत्ति स्थान-आधारभूत कारण है **[उत्तरेषाम्]** अगलों का-अस्मिता आदि का **[प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्]** प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदारों का।

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूप में उपलब्ध होनेवाले अस्मिता आदि चार क्लेशों का आधारभूत उत्पत्ति स्थान है—अविद्या।

प्रसुप्त—क्लेश उस समय कहे जाते हैं, जब वे अपना कार्य नहीं कर रहे होते; संस्काररूप में सोये पड़े रहते हैं।

तनु—उस समय कहलाते हैं, जब क्रियायोग आदि के अनुष्ठान से उन्हें तछकर शिथिल-मन्द बना दिया जाता है।

विच्छिन्न—वे तब हैं, जब सजातीय अथवा विजातीय संस्कारों से दबे हुए रहते हैं।

उदार—उस समय हैं, जब उनके भोग का वर्तमान काल है। अपने पूरे वेग से उभरकर कार्यरत रहते हैं।

१. चित्तभूमि में अवस्थित रहते हुए जो क्लेश अपने सहकारी-सहयोगी के अभाव से कार्यरत नहीं हो पाते, वे 'प्रसुप्त' हैं। जब कोई सहकारी पा जाते हैं, तो जाग उठते हैं, उस समय उनकी संज्ञा 'उदार' है। बाल्यकाल में प्रसुप्त कामवासना [राग] यौवन का सहयोग पाकर 'उदार' बन जाती है। क्लेशों की यह अवस्था आत्मा का स्थूल देह से सम्बन्ध होने पर आती है, इसलिए मरण और अगले जन्म के अन्तराल में क्लेश संस्कार प्रसुप्त रहते हैं। इसी प्रकार 'विदेह' और 'प्रकृतिलय' आत्माओं के क्लेश प्रसुप्त रहते हैं। उस अवधि में चित्त इनके उभारने में प्रवृत्त नहीं होता। अवधि पूरी होने पर वे क्लेश जाग उठते हैं। उस समय उनका प्रारब्धकाल सहकारी हो जाता है।

२. कुछ क्लेश ऐसे हैं, जो चित्तभूमि में विद्यमान हैं और प्रसुप्त भी नहीं हैं, पर उनको क्रियायोग आदि साधनों के द्वारा इतना दुर्बल बना दिया गया है कि वे कार्यरत होने का साहस नहीं कर पाते; न किसी सहकारी को जुटा पाते हैं। यदि कोई प्रबल सहकारी मिल जाय, तो उनके पुनः उभरने की आशंका बनी रहती है। जैसे विश्वामित्र को मेनका दर्शन का सहयोग पाकर राग अपने प्रबल वेग में जाग उठा।

क्रियायोग के समान अन्य साधनों से भी क्लेश शिथिल पड़ जाते हैं। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से अविद्या-मिथ्याज्ञान मन्द पड़ जाता है। भेदज्ञान अर्थात् विवेकख्याति के अभ्यास से 'अस्मिता' क्लेश क्षीण हो जाता है। राग, द्वेष की ओर से विरक्ति अथवा उदासीनता रखने के अभ्यास से राग-द्वेष दम तोड़ने लगते हैं। इसी प्रकार मोह-ममता के त्याग के अभ्यास से अभिनिवेश क्लेश मुँह छिपा जाता है। निस्सन्देह यह एक सामान्य स्थिति है कि साधारण संसारी जन को क्लेश सतत और प्रबलरूप में सताते रहते हैं, पर एक विरक्त एवं मोह आदि पर प्रभावी सन्त जन को ऐसा नहीं सताते। इससे यह

तथ्य स्पष्ट होता है–योगमार्ग के प्रबुद्ध साधन क्लेशों को क्षीण करने में सफल उपाय हैं।

३–४. ये दोनों आपस में दूसरे को दबाने और अपने को उभारने में लगे रहते हैं। राग–क्लेश उभरता है, तो क्रोध दब जाता है तब राग 'उदार' और क्रोध 'विच्छिन्न' है। इससे विपरीत दशा में क्रोध 'उदार' और राग 'विच्छिन्न' हो जाता है। इस प्रकार राग–द्वेष एक–दूसरे के आगे–पीछे उभरते और दबते रहते हैं। जो उभरता है, वह उदार और जो दबता है, वह विच्छिन्न है। जब राग किसी एक विषय में है, तब वह अन्य विषयों में प्रसुप्त, तनु अथवा विच्छिन्न रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक क्लेश के विषय में समझना चाहिए। फलतः सब क्लेश यथावसर इन चारों अवस्थाओं में आते–जाते या अदलते–बदलते रहते हैं।

इन सब क्लेशों का मूल अविद्या, मिथ्याज्ञान अथवा अविवेक है। जब तत्त्वज्ञान अथवा विवेकख्याति का प्रादुर्भाव हो जाता है, तो अविद्या–अविवेक का नाश होकर शेष क्लेश भी निःशेष हो जाते हैं। यह योगी की जीवन्मुक्त अवस्था है। प्रारब्ध कर्मों के भोगने की अनिवार्यता के कारण जीवन तो चल रहा है, पर उस काल के क्रियाकलाप से कोई फलोन्मुख कर्म अस्तित्व में नहीं आता। यह क्लेशों के समूल उच्छिन्न होने का बोधक है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि राग–द्वेष, अविद्या आदि अपनी 'उदार' अवस्था में ही दुःख आदि के जनक होने से क्लेश हैं, प्रसुप्त आदि अवस्था में रहते नहीं, क्योंकि प्रसुप्त आदि अवस्थाओं में रहने पर भी राग–द्वेष आदि यथावसर फलोन्मुख होने के लिए सन्नद्ध रहते हैं, इसलिए उनका क्लेशरूप सदा बना रहता है, चाहे वे किसी अवस्था में हों।।४।। [५५]

सब क्लेशों का मूल होने से अविद्या क्लेशों में मूर्द्धन्य है और सूत्र में प्रथम पठित है। आचार्य सूत्रकार ने प्रथम अविद्या

क्लेश का स्वरूप बताया–

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्या॥५॥ [५६]

[अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु] अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में **[नित्य-शुचि-सुख-आत्मख्यातिः]** नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा का ज्ञान होना **[अविद्या]** अविद्या है।

अनित्य में नित्य का ज्ञान होना, अथवा अनित्य को नित्य समझना अविद्या है। इसी प्रकार अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख तथा अनात्मा-देह आदि को आत्मा समझना अविद्या का स्वरूप है।

जो वस्तु जैसी है, उसको वैसा न समझकर उससे विपरीत समझना अविद्या कहा जाता है। सूत्र में 'ख्याति' पद का अर्थ है--ज्ञान, जानना अथवा समझना। इस पद का सम्बन्ध नित्य, शुचि, सुख पदों के साथ भी जान लेना चाहिए। सूत्र में 'अविद्या' पद लक्ष्य है, शेष लक्षण है। इसके दो भाग हैं। एक सप्तम्यन्त-'अनित्या०...नात्मसु'। दूसरा प्रथमान्त-'नित्य०...त्मख्यातिः'। इन दोनों भागों में जो पद हैं, वे यथाक्रम एक-दूसरे के विरोधी अर्थ को कहते हैं। जैसे-अनित्य-नित्य, अशुचि-शुचि, दुःख-सुख, अनात्मा-आत्मा। ख्याति पद का अब दूसरे भाग के प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध जोड़कर सूत्रार्थ होगा-अनित्य में नित्यज्ञान अविद्या है। इसी प्रकार आगे-अशुचि में शुचिज्ञान; दुःख में सुखज्ञान, अनात्मा में आत्मज्ञान अविद्या है। इससे स्पष्ट होता है-'अविद्या' पद विद्या-ज्ञान के अभाव को नहीं कह रहा, प्रत्युत विपरीत ज्ञान को कह रहा है। तात्पर्य है-वस्तु का यथार्थज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होना अविद्या है, जैसा प्रस्तुत सन्दर्भ की प्रथम पंक्ति में कहा गया है।

यह देह अस्थि, मांस, मज्जा, त्वक् आदि का संग्रह एवं

मल-मूत्र आदि से भरा हुआ है तथा प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति इसे जन्मता-पैदा होता तथा मरता-नष्ट होता देखता है, फिर भी अज्ञानी अविवेकी व्यक्ति इसमें नित्य व पवित्र बुद्धि रखता है; यह अविद्या का स्वरूप है। अर्थ (धन-दौलत, सम्पत्ति) और विषयों के सेवन को जो नितान्त हानिजनक और दुःखरूप है-सुख समझता है तथा देह इन्द्रिय बुद्धि आदि अचेतन जड़ पदार्थों को चेतन-ज्ञानरूप आत्मा समझता है, यह सब अविद्या का रूप है।

अविद्या का क्षेत्र महान है। सीप को चाँदी, रस्सी को साँप, भरी दुपहरी के समय भूमि से उभरती ऊष्मा का सूर्यकिरणों से मिलकर जो लहरिया दिखाई देने लगता है, उसे ठाठें मारता जलप्रवाह समझना आदि सब अविद्या का क्षेत्र है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन में पग-पग पर अविद्या के विविध रूपों में डूबा-उतराया करता है। परन्तु वह उसे यथार्थ समझता है, यही अविद्या है। इसी को भ्रम, मिथ्याज्ञान, विपर्ययज्ञान आदि पदों से व्यवहृत किया जाता है। पर सूत्र में अविद्या के चार पाद अर्थात् उतना ही क्षेत्र बताया है, जो इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि आत्मा के बन्ध का कारण अविद्या के यही स्थान हैं। अन्य समस्त क्लेश, कर्माशय और उनके विपाक-फल आदि का मूल यही चतुष्पदा अविद्या है॥५॥ [५६]

जब आत्मा अविद्या के अभिभूत अविवेकी रहता है, उस दशा में वह अपने चेतनरूप तथा बुद्धि आदि प्राकृत जड़ पदार्थों में भिन्नता का अनुभव न करता हुआ उनको ही अपना रूप समझता है। इसी स्थिति का नाम 'अस्मिता' क्लेश है। वह सूत्रकार ने बताया—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥६॥ [५७]

[दृग्दर्शनशक्त्योः] दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति की **[एकात्मता]** एकरूपता **[इव]** जैसा-सा (भान होना, प्रतीत

होना) [**अस्मिता**] अस्मिता नामक क्लेश है।

दृक् शक्ति द्रष्टा आत्मा है-चेतन तत्त्व। दर्शनशक्ति देखने का साधन है-बुद्धितत्त्व-जड़ प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति का कार्य। इन दोनों की एकरूपता-जैसी प्रतीति होना 'अस्मिता' नामक क्लेश है। पुरुष भोक्ता तथा बुद्धि भोग्य है। ये दोनों अत्यन्त विभक्त हैं। एक-दूसरे के स्वरूप में किसी की अंशमात्र भी संकीर्णता (मिलावट) नहीं होती। आत्मा शुद्ध चेतन अपरिणामी तत्त्व है, इसके विपरीत बुद्धितत्त्व अशुद्ध रागादि मलों का जनक, जड़ तथा परिणामी है। इनके परस्पर सर्वथा भिन्न स्वरूप होने पर भी जिस स्थिति में इनकी एकरूपता-जैसी प्रतीति हो, वह अस्मिता है। इसका कारण अविवेक (दृक्शक्ति तथा दर्शनशक्ति के विवेक-भेद को न जानना) अथवा अविद्या है।

पहले सूत्र में यह बताया-अनात्मा को आत्मा समझना अविद्या है। अनात्मा बुद्धि को जब चेतन आत्मतत्त्व अपना रूप समझता है, यह अविद्या क्लेश की सीमा में आता है। इसके फलस्वरूप वह शान्त, घोर, मूढ़ आदि बुद्धि-धर्मों को अपने में आरोपित करता है, 'मैं शान्त हूँ, घोर हूँ, मूढ़ हूँ' इत्यादि रूप में, यह अस्मिता क्लेश का स्वरूप है। अविद्या कारण है, अस्मिता कार्य, यही इन दोनों में भेद है। इन दोनों की एकरूपता-जैसी अवस्था ही पुरुष का भोग है। बुद्धि आदि के सहयोग में ही आत्मा सांसारिक रूप-रस आदि विषयों का भोग तथा सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का अनुभव किया करता है।

विवेकख्याति होने पर पुरुष को स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तो वह अपने आपको बुद्धि आदि जड़-तत्त्वों से सर्वथा भिन्न अनुभव करता है। उस समय भोग की दशा समाप्त हो जाती है, कैवल्य उभर आता है। इसी तथ्य को कपिल के प्रशिष्य आचार्य पञ्चशिख ने अपने एक सन्दर्भ में स्पष्ट किया है—

''बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्याऽऽदिभिर्विभक्तम-पश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।''

बुद्धि से परे भिन्नरूप में अवस्थित पुरुष को उसके स्वरूप [-आकार, सदा शुद्ध अविकारी आदि], शील-स्वभाव (अपरिणामी आदि), विद्या-चेतन आदि होने के कारण बुद्धि से सर्वथा विभक्त भी अपने आपको भिन्न न देखता हुआ, मोह से-अविवेक से बुद्धि आदि प्राकृत जड़-तत्त्वों में आत्मबुद्धि कर लेता है। बुद्धि आदि को ही आत्मा समझ लेता है। 'ये ही मैं आत्मतत्त्व हूँ' ऐसा समझ बैठता है। यह भाव 'अस्मिता' क्लेश का स्वरूप है। वस्तुतः सभी क्लेश अविवेक-मूलक एवं भ्रमरूप हैं, इसलिए पाँचों क्लेशों को आचार्यों ने अविद्या के भेद कहा है-'पञ्चपर्वा अविद्या' यह पाँच पोरों के रूप में अविद्या ही है। अतः साधक को आवश्यक है कि वह क्रियायोग आदि के द्वारा क्लेशों को शिथिल करने के लिए निरन्तर दीर्घ प्रयास करता रहे॥६॥ [५७]

यह बताया जा चुका है-विवेकख्याति हो जाने पर राग आदि क्लेश नष्ट हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है, व्युत्थानदशा में अविद्याजनित अस्मिता का भाव जब बल पकड़ता है, तब विषयों में रागादि प्रबल हो उठते हैं। अतः अस्मिता क्लेश के अनन्तर आचार्य सूत्रकार ने 'राग' क्लेश का स्वरूप बताया-

सुखानुशयी रागः॥७॥ [५८]

[सुखानुशयी] सुख का अनुशयन-अनुसरण करनेवाला (भाव), **[रागः]** राग नामक क्लेश है।

जब व्यक्ति सांसारिक विषयों में सुख-अनुकूलता का अनुभव कर उनसे परिचित हो जाता है; तब पुनः-पुनः उनका स्मरण होता रहता है। व्यक्ति उनको याद करता हुआ चाहता है-उन विषयों को फिर भोगूँ और सुख को प्राप्त करूँ। पहले भोगे सुख को याद करते हुए वैसे सुख और उसके साधनों में

व्यक्ति को जो एक तृष्णा-उन्हें प्राप्त करने की उत्कट भावना उत्पन्न होती है, उन विषयों की ओर जो एक गहरा रुझान होता है, वह 'राग' नामक क्लेश है। तात्पर्य है-सुख-जनक लुभावने विषयों की ओर तीव्र रुचि व आकर्षण का होना 'राग' है। जब तक एक बार विषयजन्य सुख का अनुभव नहीं होता, तब तक ऐसी भावना के उभरने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए राग, सुख का अनुशयी-अनुसरण करनेवाला, पीछे-पीछे चलनेवाला होता है ॥७॥ [५८]

जब सुख व सुखसाधनों की प्राप्ति में कोई बाधा सामने आती हैं, तो उनके प्रति द्वेष-विरोधी भावना जागृत हो जाती हैं, अतः राग के अनन्तर आचार्य सूत्रकार ने क्रमप्राप्त द्वेष का स्वरूप बताया-

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥ [५९]

[दुःखानुशयी] दुःख का अनुशयन-अनुसरण करनेवाला (भाव), **[द्वेषः]** द्वेष नामक क्लेश है।

जब व्यक्ति विषयों में लिप्त रहता हुआ किन्हीं प्रतिकूलताओं का अनुभव करता है, अथवा वे उसे भोगनी पड़ती हैं, तो उनके प्रति एक विरोधी भावना जागृत हो जाती है-यह स्थिति फिर कभी भोगनी न पड़े। इस प्रकार अनुकूलताओं में बाधारूप से जो प्रतिकूलता सामने आती है, उन्हें न आने देने अथवा नष्ट कर देने की जो भावना जागृत होती है, उसका नाम द्वेष क्लेश है, उसी को मन्यु व क्रोध कहा जाता है। यह किसी प्रकार की प्रतिकूलताओं के प्रतिघात-प्रतिरोध व प्रतीकार की भावना है। यह क्लेश व्यक्ति के चित्त को व्यथित कर ऐसे अनभीप्सित कार्य करा बैठता है, जिसका पश्चात्ताप के सिवाय कोई परिणाम नहीं निकलता। साधक इस भावना से सदा बचने का प्रयास करे ॥८॥[५९]

क्रमप्राप्त अभिनिवेश क्लेश का स्वरूप सूत्रकार ने बताया-

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥ [६०]

[स्वरसवाही] अपने संस्कारों के वशीभूत नैसर्गिकरूप से प्रवाहित होनेवाला (मृत्युभय), **[विदुषः]** विद्वानों के ऊपर **[अपि]** भी (मूर्खों के भी ऊपर) **[तथा]** वैसे-समानरूप से **[आरूढः]** सवार हुआ, **[अभिनिवेशः]** अभिनिवेश नामक क्लेश कहा जाता है।

संसार में आ जाने पर प्रत्येक प्राणी की यह भावना रहती है-अब मैं सदा ऐसा ही बना रहूँ। ऐसा कभी न हो कि मैं न रहूँ। यह भावना प्राणी के मृत्युभय को प्रकट करती है। सर्वसाधारण अपढ़, मूर्ख, पामर व्यक्ति जो वास्तविकता को नहीं जानता, समझता, उसकी ऐसी भावना बने, तो कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु जो विद्वान् हैं, शास्त्र के पारदर्शी हैं, जानते हैं कि जो जन्मता है वह मरता अवश्य है-वे भी मूर्खों के समान मृत्युभय से घबराते हैं। यह भय न केवल मानव में, अपितु कृमि, कीट, पतङ्ग आदि क्षुद्र प्राणियों तक में विद्यमान रहता है। जैसे ही किसी के सन्मुख प्राणसंकट आये, वह उससे बचने का तत्काल उपाय करता है और ऐसे संकट के प्रति सदा सतर्क व सावधान रहता है।

प्राणिमात्र को किसी से भय अथवा किसी वस्तु के प्रति आकर्षण तभी होता है, जब उसने उस स्थिति अथवा वस्तु का प्रथम अनुभव किया हो। परन्तु एक जीवन में प्रादुर्भूत प्राणी ने अभी तक मृत्यु के दुःख का अनुभव नहीं किया होता। अन्य प्राणियों को मरते-जाते देखने पर भी व्यक्ति की उस भावना में कोई अन्तर नहीं आता कि-मैं कभी न मरूँ, सदा ऐसा ही बना रहूँ। आचार्यों के उपदेश भी प्रायः इस दिशा में कोई कारगर नहीं होते। इससे अनुमान होता है कि पहले जन्मों में प्राणी ने मृत्यु के तीव्र दुःख का अनुभव किया है, उसी से जनित संस्कार इस जीवन में निमित्तवश उभरने पर प्राणी को भय से बेचैन बनाये रखते हैं। यह 'अभिनिवेश' नामक मृत्युभय का

क्लेश प्राणिमात्र में समानरूप से पाया जाता है। चाहे कोई कुशल हो, या अकुशल, मृत्यु का अवसर सबके लिए समानरूप से आता है और समानरूप से सबको भयत्रस्त करता है। इन क्लेशों को ध्वस्त करने और इनसे बचने के लिए साधक को सदा निर्दिष्ट उपायों के अनुष्ठान में प्रयत्नशील बना रहना चाहिए॥९॥ [६०]

क्लेशों से कैसे बचा जा सकता है, और प्राप्त-क्लेशों को कैसे क्षीण किया जा सकता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥ [६१]

[ते] वे क्लेश **[प्रतिप्रसवहेयाः]** अपने कारण में लय कर देने से छूट पाते हैं, **[सूक्ष्माः]** सूक्ष्म।

कारणों से किसी कार्य का प्रादुर्भाव होना 'प्रसव' कहा जाता है। उस कार्य का यथावसर कारण में लय होना 'प्रतिप्रसव' है। जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसका सर्वथा नाश कभी नहीं होता। कार्य-कारणभाव के रूप में वस्तु का प्रादुर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। क्लेश जिन कारणों से प्रादुर्भाव में आते हैं, उनको उपयुक्त उपायों द्वारा पुनः अपने कारणों में लय हो जाने की स्थिति तक पहुँचा देना-उनसे छुटकारा हो जाना है।

गत एक सूत्र [२।४] में अविद्यामूलक 'अस्मिता' आदि क्लेशों को चतुष्पाद बताया है। वे चार पाद हैं-प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार। अस्मिता आदि के अविद्यामूलक होने से इन चारों में अविद्या-तत्त्व अन्तर्हित रहता है। इस रूप से सभी क्लेश प्रसुप्त आदि चार अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं। इनमें क्लेशों की 'उदार' अवस्था वह है, जब वे अपने पूरे व्यापार के साथ चालू रहते हैं। क्लेशों की यह 'उदार' नामक वर्त्तमान अवस्था 'स्थूल' है, जब ये प्रत्यक्ष अनुभव में आते हुए रहते हैं। शेष अवस्था 'सूक्ष्म' हैं। स्थूल क्लेशों के प्रतीकार के लिए आचार्य ने 'क्रियायोग' का अनुष्ठान बताया [२।२]। क्रियायोग

से उदार क्लेश तनु हो जाते हैं, क्षीणता की ओर मुड़ जाते हैं। उदाररूप में अङ्कुरित होने की क्षमता उनकी दग्ध हो चुकी होती है। विवेकख्यातिरूप आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर योगी का चित्त-जो प्रारम्भ से संसारमार्ग पर दौड़ता चला आ रहा था-अपना अधिकार छोड़ बैठता है। तब समस्त क्लेश उसी के साथ अस्त हो जाते हैं। क्लेशों का यह दुर्दान्त दौरात्म्य दम तोड़ बैठता है। यह अवस्था प्राप्त करने के लिए योगी को निरन्तर प्रयत्नशील बने रहना चाहिए॥१०॥ [६१]

क्रियायोग से जो क्लेश सूक्ष्म हो गये हैं, यद्यपि वे उदाररूप में नहीं हैं, पर बीजभाव से चित्तभूमि में विद्यमान हैं। कभी अनुकूल निमित्त पाकर उदारवृत्तियों के रूप में उभर सकते हैं। उनको दग्धबीजभाव बनाने के लिए योगी को क्या करना चाहिए? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥११॥ [६२]

[ध्यानहेयाः] ध्यान द्वारा अपाकरण होना चाहिए, **[तद्वृत्तयः]** उन बीजभाव से विद्यमान क्लेशों की वृत्तियों का।

क्लेशों के जो व्यापार स्थूल हैं, उदाररूप में आकर अपने प्रकटरूप से चालू हैं, उनको क्रियायोग द्वारा कुछ क्षीण कर दिया गया है। अब वे छिपकर बैठ गये हैं और इस घात में रहते हैं कि कब दाव मिले कि उदाररूप में फिर उभरने का अवसर आ जाय। ऐसे क्लेश अपने खुले व्यापार के रूप में फिर कभी न उभरने पायें, इसके लिए योगी को ध्यान-समाधि की अवस्था प्राप्त करने तक सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। समाधिजनित विवेकख्यातिरूप सामर्थ्य उन सूक्ष्म बीजभाव से विद्यमान क्लेशों को दग्ध करने में सफल होता है। इस अवस्था को उस स्तर तक पहुँचा देना अपेक्षित होता है, जब तक कि क्लेशों का बीजभाव-पुनः वृत्तियों को अंकुरित करने का सामर्थ्य-पूर्णरूप से दग्ध नहीं हो जाता।

वस्त्र का जैसे मोटा मैल झटकने आदि से झाड़ दिया जाता है, पर वस्त्र के सूक्ष्म मैल को उपयुक्त क्षार (साबुन) आदि का प्रयोग करके प्रयत्नपूर्वक दूर किया जाता है; इसी प्रकार क्लेशों के स्थूल व्यापार योग के निम्न-कोटिक विरोधी हैं, इनका प्रतीकार क्रियायोग आदि के अनुष्ठान से आपेक्षिक अल्पकाल में संभव है, परन्तु ये अन्तर्हित-छिपे बैठे सूक्ष्म क्लेश योग के प्रबल प्रतिपक्ष हैं, महाविरोधी हैं, इनके प्रतीकार के लिए महान प्रयास अपेक्षित होता है। वह पूर्ण समाधि अवस्था का प्राप्त करना है। सूत्र में उसी को 'ध्यान' पद से अभिव्यक्त किया गया है।

इन सब निर्देशों से स्पष्ट हुआ- क्रियायोग से स्थूल क्लेश अल्प होकर आत्म-चिन्तन आदि के द्वारा और अधिक सूक्ष्म हो जाते हैं। तब उनका समूलोच्छेद समाधि द्वारा सम्भव होता है। आत्मसाक्षात्कार की यह पूर्ण सर्वोच्च अवस्था है, जब आत्मा के लिए किये जाने वाले अपने समस्त व्यापारों से चित्त विराम प्राप्त कर लेता है॥११॥ [६२]

इस प्रकार क्लेश और उनके अपाकरण के उपायों का कथन कर अब-कर्माशय क्लेशों के कारण हैं-यह उपपादन करने के लिए सूत्रकार ने बताया-

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥१२॥ [६३]

[**क्लेशमूलः**] क्लेश अविद्या आदि मूल हैं [**कर्माशयः**] कर्मों के आशय-ढेर का, जो [**दृष्ट-अदृष्ट जन्मवेदनीयः**] दृष्ट-वर्त्तमान और अदृष्ट-आगे आने-वाले जीवनों में वेदनीय-भोग्य हैं।

अनादिकाल से आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों को करता और उनके फलों को यथाकाल भोगता हुआ चला आ रहा है। ऐसे फलप्रद कर्मों के करने की योग्यता केवल मानव समाज में अभिप्रेत है, जो पुण्य-पाप अथवा धर्म-अधर्म के रूप में माने

जाते हैं। धर्मशास्त्र एवं जीवन के विधि-विधान आदि सब मानव समाज के निमित्त रहते हैं। इसलिए-कर्माशय के कारण अविद्या आदि क्लेश हैं-यह विवेचन मानव-समाजमात्र में सीमित है।

सूत्र के 'आशय' पद का तात्पर्य है-धर्म और अधर्म। समस्त मानव-समाज जिनमें पूर्ण रूप से शयन करता है, जिन पर आधारित है, वे आशय हैं। मानव-मात्र द्वारा किये गये फलप्रद कर्म या सारे पुण्यरूप हो सकते हैं, या पापरूप, अन्य कोई रूप कर्मों का सम्भव नहीं। वे धर्म-अधर्म के जनक हैं, मानव-समाज की समस्त व्यवस्था इन्हीं पर आधारित हैं। 'आशय' पद का अन्य अर्थ-ढेर भी है। अनादि काल से सञ्चित धर्म-अधर्मरूप कर्मों के ढेर का मूल हैं-क्लेश। फलतः सब प्रकार के कर्मों की जड़ अविद्या आदि क्लेश हैं।

अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पापरूप कर्मों के द्वार हैं-काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि। क्लेश प्रथम काम-क्रोध आदि की भावना को जागृत कर उनके द्वारा व्यक्ति को इष्ट-अनिष्ट कर्मों में प्रवृत्त कर देते हैं।

कामना से प्रेरित व्यक्ति यागादि काम्य कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ स्वर्ग-सुख को प्राप्त करता है। कामना से परदाराभिमर्षण आदि पाप-कर्म अधर्म का जनक है।

क्रोध से प्रेरित होकर व्यक्ति पुण्य-पापरूप कर्म कर बैठता है। गुरुओं व आचार्यों का क्रोध अपने शिष्य व अनुगामियों के प्रति पुण्यजनक होने से धर्म का रूप है। क्रोध से हिंसा आदि पापजनक होने से अधर्म है।

इसी प्रकार लोभ से दूसरे के धन का अपहरण करना तथा किन्हीं कार्यों में अनुचित लाभ उठाना अधर्म है। लोभ से कभी पुण्यकर्म भी हो जाता है, यश आदि कुछ मिलने की आशा से अर्थात् कीर्तिप्राप्ति के लोभ से प्रेरित व्यक्ति अनेक शुभ पुण्यरूप कर्मों को कर जाते हैं।

मोह के वशीभूत होकर व्यक्ति हिंसा आदि नितान्त अधर्म कार्यों को धर्म समझकर कर डालता है। धर्म के नाम पर पशु तथा मनुष्य आदि के बलिदान इसी कोटि में आते हैं। अनेक बार ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति बच्चों को बलि चढ़ा देते हैं। यह घोर अधर्म है। मोहग्रस्त व्यक्तियों के द्वारा कोई धर्म-कार्य किया जाना सम्भव नहीं होता।

ये पाप-पुण्यरूप कर्म चित्तभूमि में ऐसा बीज बो देते हैं, जो उपयुक्त अवसर आने पर दुःख-सुखरूप फलों को उत्पन्न किया करते हैं। इसी कर्माशय को विभिन्न शास्त्रों में 'अदृष्ट', 'धर्म-अधर्म', वासना, संस्कार आदि पदों से व्यवहृत किया गया है। प्रत्येक कर्म क्रियारूप होता है। क्रिया केवल चालू रहने तक अपने रूप में विद्यमान रहती है। अनन्तर अपने कर्त्ता पर उसके प्रभाव को छोड़ जाती है। यही प्रभाव शुभ-अशुभ क्रिया के अनुरूप पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, अदृष्ट, वासना, संस्कार, भावना आदि पदों का वाच्य बन जाता है। अनादिकाल से अनुष्ठित कर्मों के प्रभाव आत्मा में सञ्चित हैं। चित्त की रचना यद्यपि सत्त्वप्रधान है, पर चित्त के त्रिगुणात्मक होने से रजस्, तमस् का आंशिक अस्तित्व वहाँ विद्यमान है। सजातीय तत्त्वों का सान्निध्य पाकर त्रैगुण्य का उद्रेग यथाकाल चित्त में उभरता रहता है। चित्त के सहयोग से तदनुरूप शुभ-अशुभ वासना अथवा संस्कार जागृत होते रहते हैं, तब फलोन्मुख होकर सुख-दुःख आदि भोगरूप में परिणत हो जाते हैं। उन कर्मजनित संस्कार अथवा वासनाओं का यह फलभोग वर्त्तमान तथा आगे आनेवाले जीवन-कालों में व्यवस्थानुसार हुआ करता है।

एक जीवन के कर्माशय जो अपने निमित्तों के कारण अति-प्रबल होते हैं, वे चालू जीवन के समाप्त होने पर अगले जीवन के लिए प्रधानभूत निमित्त बनकर आगे आ जाते हैं। उन्हीं के अनुरूप कतिपय कर्माशय सञ्चित राशि में से चुने जाकर उनके साथ लगा दिये जाते हैं। कोई जीवन कौन से और

कितने कर्माशयरूप निमित्तों से प्रारम्भ होता है, इसका लेखा-जोखा पूर्णरूप से परमात्मा के अधीन है। चालू जीवन के कौन से और कितने कर्माशय अव्यवहित अगले जीवन के निमित्त बनते हैं, और कौन से रह जाते हैं तथा कौन से और कितने सञ्चित राशि में से लिए जाते हैं, यह सब जगन्नियन्ता परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार नियमित गति से चला करता है।

चालू जीवन के जो कर्माशय अव्यवहित अगले जीवन के निमित्त बनने से रह जाते हैं, उनकी गति अनुभवी आचार्यों ने तीन प्रकार की बनाई है।

१. कर्माशय की सञ्चित राशि में धकेल दिये जाते हैं।

२. किन्हीं प्रबल कर्माशयों के सहयोगी बनकर किसी भी अगले जीवन में फलोन्मुख हो जाते हैं।

३. यदि सञ्चित राशि में पड़कर फलोन्मुख होने का अवसर नहीं आता और वह आत्मा विवेकख्यातिरूप पूर्ण समाधि को प्राप्त कर लेता है, तो उस योगाग्नि से वह समस्त सञ्चित कर्माशय राशि दग्ध हो जाती है।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि।' बिना भोग के कोई कर्म क्षीण नहीं होता, चाहे उसके लिए सैकड़ों जन्म लेने पड़ें, इत्यादि कथन केवल प्रारब्ध कर्मों के लिए है, ऐसा आचार्यों ने बताया है।

इस विषय में यह भी एक कल्पना है कि कर्माशय की सञ्चित राशि भी-जो योगाग्नि से अन्त में दग्ध कर दी जाती है-अपना फल प्रकट करती है। उसका फल यही है कि उसने इतने दीर्घकाल तक योग-समाधि को प्राप्त करने में अवरोध बनाये रखा है। समाधि-प्राप्ति के प्रयास और सञ्चित कर्माशयों के बीच द्वन्द्व-युद्ध चलता रहता है। जितने अधिक दीर्घकाल तक कर्माशय समाधि का अवरोध करते रहते हैं, उनके अस्तित्व का यही फल है। समाधि की सफलता पर दग्ध हो जाते हैं। दो के द्वन्द्व-युद्ध में एक का पराजय नैसर्गिक है। पर

पराजित भी अपने बल को प्रकट कर जाता है; वह सोता हुआ नहीं मारा गया। यदि उस युद्ध में कर्माशय विजय प्राप्त कर लें, तो उनके दोनों हाथ में लड्डू हैं। प्रथम तो प्रबल शत्रु को पराजित किया, दूसरे-अपने फलोन्मुख होने का अवसर प्राप्त करने की सम्भावना बढ़ गई॥१२॥ [६३]

शिष्य आशंका करता है-कर्माशय अविद्या आदि क्लेशमूलक हैं, विद्या [विवेकख्याति] के उत्पन्न हो जाने पर अविद्या का नाश हो जाने से भले ही आगे अन्य कर्माशय का सञ्चय न हो; पर अनादि परम्परा से सञ्चित असंख्यात पुरातन कर्माशय विद्यमान रहते हैं, अभी उनके फलोन्मुख होने का काल भी नियत नहीं है। केवल भोग द्वारा उनका क्षीण होना अशक्य है। तब विद्या से अविद्या का नाश हो जाने पर भी संसार का उच्छेद होना विद्वान् के लिए भी संभव न रहेगा। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥१३॥ [६४]

[सति] होने पर **[मूले]** मूल के **[तद् विपाकः]** उस कर्माशय का विपाक (संभव है, अन्यथा नहीं, जो विपाक) **[जात्यायुर्भोगाः]** जाति, आयु और भोग रूप में होता है।

विद्या से जब अविद्या का नाश हो गया, तो अपने कारण अविद्या के अभाव में कर्माशय अपने विपाक में सर्वथा अक्षम हो जाता है। अविद्या कर्माशय का कारण है, कर्माशय का अस्तित्व-उसके कारण के न रहने पर-असंभव है। कर्माशय उसी समय तक फल देने में समर्थ होता है, जब तक उसका कारण अविद्या विद्यमान है। अविद्या के रहते ही कर्माशय फलोन्मुख होते हैं, अन्यथा नहीं। विद्या से अविद्या का नाश हो जाने पर कर्माशय का अस्तित्व ही निरापद नहीं रहता, उनके फलोन्मुख होने का तो प्रश्न ही नहीं। अनादिकाल से सञ्चित असंख्यात कर्माशय भी विद्या के प्रादुर्भाव से अविद्या के

तिरोहित हो जाने पर तत्काल क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं, सहसा दम तोड़ बैठते हैं।

जब कर्माशय का मूल अविद्या विद्यमान है, तभी कर्माशय फलोन्मुख होते हैं, अपने विपाक के लिए सन्नद्ध रहते हैं। कर्माशय का विपाक तीन रूपों में होता है–जाति, आयु और भोग।

कर्माशय के फलोन्मुख होने में अविद्या ऐसा ही सहयोगी भाव है, जैसे धान के बीजभाव में धान का छिलका। छिलके से आवेष्टित धान बीजभाव से बोया जाकर अंकुरित होने में समर्थ होता है। इसी प्रकार अविद्या से आवेष्टित कर्माशय फलोन्मुख होता है। यदि धान का छिलका न रहने से उसका बीजभाव नष्ट हो गया है, तो वह कदापि अंकुरित नहीं हो सकता। कर्माशय भी फलोन्मुख नहीं हो सकता, यदि विद्योत्पाद ने अविद्या का ध्वंस कर कर्माशय का बीजभाव दग्ध कर दिया है। फलतः व्युत्थानकाल में अविद्या की विद्यमानता में ही कर्माशय का विपाक जाति, आयु और भोग इन तीन फलरूपों में प्रकट होता है।

सूत्र में कर्माशय के फलरूप से सर्वप्रथम पठित 'जाति' पद का अर्थ–'जन्म' है। कर्मानुसार जब आत्मा मानव, पशु, पक्षी आदि किसी योनि में जाता हुआ देहधारण–रूप जन्म लेता है। यह भाव सूत्र में 'जाति' पद से अभिव्यक्त किया गया है।

इस जन्म के विषय में यह विचारणीय है–क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है? अथवा एक कर्म अनेक जन्मों का कारण बन जाता है?

इसी में दूसरा विचार है–क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं? अथवा अनेक कर्म मिलकर एक जन्म का प्रारम्भ करते हैं?

इस प्रकार दो वर्गों में विभक्त ये चार विकल्प हैं। पहले वर्ग में एक कर्म को आधार मानकर विकल्प किया–एक कर्म

एक जन्म का आरम्भ करता है, अथवा अनेक जन्मों का।

दूसरे वर्ग में अनेक कर्मों को आधार मानकर विकल्प हैं-क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों का आरम्भ करते हैं, अथवा एक जन्म का?

प्रथम वर्ग का पहला विकल्प युक्त नहीं, क्योंकि यदि एक कर्म एक जन्म का आरम्भ करता है, यह माना जाय, तो अनादिकाल से सञ्चित असंख्यात कर्मों तथा चालू जीवन में सम्पादित कर्मों का इतना अटूट असीम भण्डार हो जायगा कि जन्म आरम्भ करने का उनका कभी क्रम ही न आयेगा। यह किसी महान उद्यान में सहस्रों वृक्षों के एक-एक पत्ते पर बैठी टिड्डियों के उड़ाने की कहानी के समान हो जायगा।

इसी आधार पर दूसरा विकल्प नितान्त अयुक्त है, जब एक कर्म से एक जन्म का आरम्भ मानने पर असंख्यात कर्म जन्मारम्भ करने से अवशिष्ट रह जाते हैं; तब एक कर्म को अनेक जन्मों का आरम्भक मानने पर तो असंख्यात कर्मों से जन्मारम्भ का अवसर आना ही असम्भव हो जायगा। इसलिए एक कर्म एक जन्म का अथवा अनेक जन्मों का आरम्भक हो, यह संभव नहीं। जन्म और कर्माशय के कार्य-कारणभाव से सम्बद्ध इस सिद्धान्त पर विद्वत्समाज कभी आश्वस्त नहीं हो सकता, जो कि अभीष्ट नहीं। अतः प्रथम वर्ग को उपेक्षित कर आइये, दूसरे वर्ग पर विचार करें।

दूसरे वर्ग का पहला विकल्प-अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण हैं-युक्त नहीं; क्योंकि अनेक जन्म एक-साथ नहीं हो सकते, उनका क्रमशः होना ही संभव होगा। तब सहस्र कर्मों से सहस्र जन्म मानने पर और उनके क्रमशः होने पर पहला दोष यह है कि एक कर्म के भाग में एक जन्म का कारण होना आयेगा तो जो दोष सबसे पहले विकल्प में है, वह यहाँ प्रसक्त होगा। दूसरा दोष है-कितने भी अनेक कर्म-जन्मों के क्रमशः कारण होने पर-एक ही जन्म के आरम्भक हो

पायेंगे; तब इसका अन्तर्भाव चौथे विकल्प में हो जाता है-अनेक कर्म मिलकर एक जन्म का आरम्भ करते हैं। यही विकल्प अभीष्ट सिद्धान्त है।

चौथे विकल्प के अभिमत होने पर विचारणीय है-कौन से अनेक कर्म किसी एक जन्म का आरम्भ करते हैं? आचार्यों ने बताया-चालू जीवन में जन्म से लेकर मरणपर्यन्त जो प्रबल पुण्य अथवा अपुण्य कर्म हैं, वे पुरातन सञ्चित कर्माशय से अपने अतिशय सहयोगी पुण्य-अपुण्य कर्मों के साथ मिलकर संघटित होकर अगले जन्म का आरम्भ करने के लिए प्रबल वेग के साथ सबसे आगे आकर खड़े हो जाते हैं। जो दुर्बल गौण कर्म हैं, वे पीछे रह जाते हैं, उनकी तीन प्रकार की गति का निर्देश गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है। इस प्रकार चालू जीवन के प्रधान कर्म पुरातन कर्माशय से अपने प्रबल सहयोगियों को साथ लेकर अगले जन्म का आरम्भ करते हैं। वह जीवन उसी कर्माशय के अनुसार आयु-लाभ करता है। उस आयु में वही कर्माशय भोग का हेतु होता है। फलत: वह कर्माशय जन्मादि का हेतु होने से जन्म, आयु और भोग इन तीन रूपों में फल देनेवाला कहा जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है-कुछ व्यवस्थित कर्माशयसमूह किसी एक जन्म का आरम्भक होता है, यह प्रकृत विषय में साधारण मान्य सिद्धान्त है। अन्य विकल्प दोषपूर्ण होने से त्याज्य हैं।

गत सूत्र में क्लेशमूलक कर्माशय दो प्रकार का बताया- **एक**-दृष्टजन्मवेदनीय जो कर्माशय चालू जीवन में भोग लिया जाता है। **दूसरा**-अदृष्टजन्मवेदनीय, जिस कर्माशय का फल आनेवाले अगले जीवन में मिलता है। यही अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय त्रिविपाक होता है। जो कर्माशय अगले जीवन को प्रारम्भ करते हैं, केवल वे ही 'जाति, आयु, भोग' इन तीन रूपों में फलते हैं। चालू जीवन के कतिपय कर्म दृष्टजन्मवेदनीय होते हैं। वे चालू जीवन में अपना फल देते हैं, अर्थात् उसी

जीवन में भोगे जाते हैं। उनका केवल एक रूप होता है-भोग। कभी-कभी आयु भी फल होता है। जब एक ही फल होता है, तो वह कर्माशय 'एकविपाक' कहा जाता है। जब कभी जिस कर्माशय के आयु और भोग दोनों फल होते हैं, तो वह 'द्विविपाक' है। कोई भी दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय 'त्रिविपाक' नहीं हो सकता, क्योंकि एक चालू जीवन में दूसरा जीवन चालू नहीं हो सकता, इसलिए 'जाति-जन्म' रूप फल केवल अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का संभव है।

अनादिकाल से सञ्चित कर्मवाला घनीभूत-सी होकर चित्त के सहारे आत्मा में पड़ी रहती हैं। ये अनादिकाल से चले आ रहे संस्कार स्मृति के हेतु होते हैं। पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण इन्हीं संस्कारों के उभरने से हो पाता है। ये अनादिकाल से सञ्चित अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय दो भागों में विभक्त रहते हैं। एक-नियतविपाक, दूसरे-अनियतविपाक। उस समय सञ्चित कर्माशयराशि में से जितने कर्माशय को अव्यवहित परजन्म का प्रारम्भ करने के लिए नियत कर दिया गया है, वे कर्माशय नियतविपाक हैं। जाति, आयु और भोग के रूप में उनका फलोन्मुख होना नियत हो गया। जो राशि शेष रह गई, जिसकी फलोन्मुखता अभी नियत नहीं की गई; वे सब कर्माशय 'अनियतविपाक' हैं। इसका तात्पर्य है-उस अनन्त कर्माशय राशि में से केवल एक अव्यवहित परजन्म के आरम्भ के लिए कतिपय नियत किये जाते हैं, उससे और आगे आने वाले व्यवहित जन्मों के लिए नहीं। जब उनका क्रम आयेगा, तब उनके आरम्भ के लिए नियत किये जायेंगे।

जो अनियतविपाक कर्माशय प्रत्येक जीवन का प्रारम्भ होने के अनन्तर शेष रह जाते हैं; आचार्यों ने उनकी तीन प्रकार की गति बताई हैं। **एक** वह है-जब समाधि प्राप्ति हो जाने पर आत्मसाक्षात्कार से जीवन्मुक्त होकर आत्मा मोक्ष में जानेवाला होता है, तब सञ्चित कर्माशय बिना फल दिये योगाग्नि द्वारा

दग्ध हो जाते हैं। **दूसरी**–गति वह है–जब प्रधान कर्माशय के अनुषङ्गी होकर उन्हीं के सहयोग में फलोन्मुख हो जाते हैं। इसी कारण देखा जाता है, कि कभी उच्चकोटि के सुखी व्यक्ति भी दु:ख की मात्रा भोगते हैं, और दु:खिया से दु:खिया व्यक्ति भी कभी आंशिक सुख का भोग करते हैं। उनके प्रधान कर्म तो सुखजनक अथवा दु:खजनक हैं, पर उस भोगाधिकार में आंशिक दु:ख अथवा आंशिक सुख उन अनुषङ्गी कर्मों का फल है। **तीसरी**–गति वह है–जब प्रधान कर्माशय से अभिभूत होकर ये अनियतविपाक कर्माशय एक ओर दबे पड़े रहते हैं, और उस काल की प्रतीक्षा करते हैं, जब किसी जीवनकाल में उन्हें फलोन्मुख होने का अवसर मिलेगा। उनके कोई सहयोगी कर्म अस्तित्व में आयेंगे और उन्हें फलोन्मुख होने के लिए जगा लेंगे।

वस्तुत: कर्मों की गति बड़ी विचित्र है, दुरवगाह है, इसको पूर्णरूप से जानना–समझना मानव की जानकारी से परे हैं। कर्म मानव करता है, पर उसकी व्यवस्था परमात्मा के अधीन है, यह कहकर मानव अपना समाधान कर लेता है अथवा पीछा छुड़ा लेता है। फिर भी मानव–प्रतिभा ने इतना ठीक जाना प्रतीत होता है कि एक जन्म को प्रारम्भ करनेवाले कर्माशय अवश्य ही निर्धारित किये होते हैं। भले ही यह अज्ञात रहे कि वे कैसे व कितने हैं। यह सब व्यवस्था परमात्माधीन है, यही कह–समझकर सन्तोष करना चाहिए॥१३॥ [६४]

शिष्य जिज्ञासा करता है–कर्मों का मूल क्लेश हैं और विपाक का मूल कर्म हैं, यह बताया। क्या विपाक भी किसी का मूल हैं? सूत्रकार ने बताया–

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥१४॥ [६५]

[ते] वे (जन्म, आयु, भोग) **[ह्लादपरितापफलाः]** सुख–दु:खरूप फलवाले होते हैं, **[पुण्य–अपुण्यहेतुत्वात्]**

पुण्य और पापहेतुक होने से।

वे जन्म, आयु और भोगरूप विपाक सुखमय अथवा दुःखमय होते हैं, क्योंकि उनके हेतु पुण्य और पाप हैं। पुण्य हेतुवाले जाति, आयु, भोग, सुखमय तथा पाप हेतुवाले जाति, आयु, भोग, दुःखमय होते हैं। पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख होता है, यह नैसर्गिक है। प्रत्येक साधारण जन भी इस तथ्य को जानता है कि जो प्रतीति उसके प्रतिकूल है, वह दुःख का रूप है। परन्तु योगी के लिए वैषयिक सुखों की उपलब्धि भी दुःखमय है, क्योंकि वह उसके अभीष्ट योगमार्ग में बाधक होने से उसके प्रतिकूल है। योगी को तपस्वी होते हुए विषय-सुखों से अपने-आपको बचाये रखना आवश्यक है ॥१४॥ [६५]

योगी के लिए विषय-सुख दुःखमय क्यों हैं? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥ [६६]

[**परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः**] परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःखों से [**गुणवृत्तिविरोधात्**] सत्त्व आदि गुणों की वृत्तियों के परस्पर विरोध से [**च**] तथा [**दुःखं एव**] दुःख ही है [**सर्वम्**] सब [**विवेकिनः**] विवेकी-योगी के लिए।

चेतन और जड़ साधनों से होनेवाला सुख का अनुभव सदा राग से प्रेरित होता है। इस प्रकार राग जनित संस्कार आत्मा में संगृहीत होते रहते हैं। जब ऐसे अनुभव में बाधा आती है, तो उसके प्रति द्वेष की भावना जागृत हो जाती है। यह द्वेष दुःख का साधन बन जाता है। यह अविद्या अर्थात् यथार्थज्ञान के अभाव के कारण होता है, यह मोह की दशा है। इससे ज्ञात होता है, सुखानुभव काल में भी अप्रकटरूप से दुःख और मोह की स्थिति बनी रहती है और उनके संस्कार आत्मा में एकत्रित

होते रहते हैं। आचार्यों का कहना है कि प्राणियों को दु:ख पहुँचाये बिना कोई भोग संभव नहीं होता। तब अपने विषयभोग के लिए जो प्राणियों को दु:ख पहुँचाया है, उसके संस्कार भी आत्मा में पनपते हैं। फलत: यह सब विषय-सुखों के लिए तड़फड़ाना अविद्यामूलक है, जो यह समझना है कि विषय-भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति से शान्ति प्राप्त हो जायगी, वस्तुत: भोगों के नैरन्तर्य से उनमें और अधिक तृष्णा-लोलुपता बढ़ती जाती है, जो दु:खों का मूल है।

इस प्रकार विषयसुखों के भोगकाल में भी परिणामदु:ख, तापदु:ख और संस्कारदु:ख बने रहते हैं। सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के व्यापार [वृत्ति-प्रवृत्ति] परस्पर विरोधी होते हैं। सत्त्व की प्रधानता से एक काल में सुख का अनुभव होते हुए भी दु:ख और मोह की स्थिति अप्रकट रूप में बनी रहती है, क्योंकि ये गुण परस्पर विरोधीस्वभाव होने पर भी इकट्ठे हुए [मिथुनीभूत] कार्य कर सकते हैं। इसलिए विवेकी पुरुष इस सब-विषयजन्यसुख-को भी दु:ख ही समझता है। इस भावना के कारण वह इनसे बचकर अपने जीवन को अध्यात्म की ओर मोड़ लेता है और वास्तविक शान्तिलाभ के लिए प्रयत्नशील बना रहता है।

परिणामदु:ख—विषय-भोगों का परिणाम अन्त में दु:ख निकलता है। भोगों के निरन्तर चालू रखने से उनमें अधिकाधिक तृष्णा व लोलुपता बढ़ती जाती है। भोगों से इन्द्रियों की तृप्ति हो जाने पर भी शान्तिलाभ होना कभी देखा नहीं गया। भोगों से विषयों में राग और अधिक बढ़ता जाता है, इन्द्रियाँ भी भोगों के लिए-जब तक नितान्त शिथिल न हो जायें-सदा सन्नद्ध बनी रहती हैं। इससे निश्चित है, इन्द्रियविषयों का निरन्तर भोगा जाना वास्तविक सुख का उपाय नहीं है। वस्तुत: सुख की खोज में जो व्यक्ति विषयों में डूबा फँसा रहता है वह ऐसा ही है, जैसे बिच्छू के काटे से बचकर साँप से अपने आपको कटवा

ले। बिच्छू का काटा तो कुछ देर कष्ट पायेगा, पर साँप का काटा तो जीवन से ही हाथ धो बैठेगा। फलतः विषय-भोगों में सुख का खोजी गहरे दुःखसागर में डूबा रहता है। यही इन भोगों में परिणामदुःखता का स्वरूप है।

जो भोग और जितना भोग दैहिक मानसिक, आत्मिक शक्तियों के बढ़ाने व विद्यमान रखने में सहयोगी हो, वह भोग उपादेय समझना चाहिए। शरीर आदि के आरोग्य व पुष्ट रहने पर अध्यात्म प्रवृत्तियों में अधिक समय देने का अवसर प्राप्त हो सकता है। जो भोग इन शक्तियों को क्षीण करनेवाले हैं, उनकी यथासंभव उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर है। क्षीणशक्ति व्यक्ति किसी उपयोगी व अभीष्ट कार्य को भी संपन्न करने में असमर्थ रहता है। परिणामदुःख की वास्तविकता को समझने के कारण यह स्थिति योगी-विवेकी के लिए क्लेशकर होती है। सुखानुभवकाल में वह इस तथ्य को समझता हुआ होता है कि इसका परिणाम केवल दुःख है। इसलिए वह उससे बचकर अध्यात्म प्रवृत्ति के लिए अपना संरक्षण करने में प्रयत्नशील बना रहता है।

तापदुःख--व्यक्ति जिन पदार्थों को अपने लिए सुखप्रद समझता है, उनको प्राप्त करने, सुरक्षित रखने व भोगने में अनेक बाधायें सामने आती रहती हैं। उन बाधाओं के प्रति व्यक्ति में द्वेष की भावना जागृत हो जाती है। यह द्वेष की आग व्यक्ति को उस अवस्था में चैन नहीं लेने देती, बराबर जलाती रहती है, जब वह भले ही विषयभोग का सुख अनुभव कर रहा हो। इसके अतिरिक्त व्यक्ति चाहता है, उसके विषयभोगसुख का सिलसिला कभी समाप्त न हो, यह ऐसा ही सदा बना रहे, जो सर्वथा असंभव है। इसलिए यह भयजनित सन्ताप सदा उसे सताता रहता है कि यह सिलसिला टूट न जाय। प्रतिकूल साधनों के प्रति द्वेष की भावना उग्र हो जाती है, जो संघर्ष व दुःख का मूल है। अनुकूल सुखसाधनों की चाहना करता हुआ, शरीर,

वाणी व मन से उनके संग्रह करने में जुट जाता है। जो उनमे सहयोगी हों, उनके प्रति राग तथा बाधकों के प्रति द्वेष व संघर्ष खड़ा हो जाता है। तब अनुकूलों को अनुगृहीत और प्रतिकूलों को पीड़ित करता है। अनुग्रह और विग्रह के कार्य धर्म और अधर्म के संस्कारों को उत्पन्न कर देते हैं। जो आगे दुःख के क्रम को बनाये रखते हैं। यह सब विषयों के प्रति लोभ एवं मोह के कारण हुआ करता है। सुखानुभव काल में भी इस प्रकार की स्थिति का बना रहना 'तापदुःख' है। किसी कवि ने कहा है–

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

धनसंपत्ति के कमाने में दुःख, कमाई धनसंपत्ति घर में आ जाय, तो उसकी रक्षा करने में कष्ट, चोर–डाकू–राजा आदि का भय सदा सिर पर सवार रहता है। जिनके 'आय' और 'व्यय' दोनों में दुःख ही दुःख है, ऐसे महान् कष्टों के आश्रय अर्थों [धन–संपत्ति के ढेर] को धिक्कार है।

संस्कारदुःख–सुख–दुःख का अनुभव सुख–दुःख संस्कारों को उत्पन्न करता है। ये संस्कार उपयुक्त निमित्त पाकर स्मृति के जनक होते हैं। सुख–दुःख की स्मृति पुनः अनुकूल में राग और प्रतिकूल में द्वेष की भावना को जागृत करती है। उनसे प्रेरित हुआ व्यक्ति पुनः सुख–दुःखजनक कर्मों के करने में प्रवृत्त हो जाता है। फिर वही संस्कार, स्मरण और कर्मानुष्ठान का अनुक्रम चालू हो जाता है। इस प्रकार अनादि काल से प्रवाहित यह दुःख का स्रोत योगी–विवेकी के प्रतिकूल होने से उसे सदा उद्विग्न किया करता है। कारण यह है कि योगी की स्थिति आँख के पटल के समान निर्दोष, निष्कलङ्क, निर्मल रहती है। मकड़ी के जाले का तार शरीर के अन्य भाग में लग जाने पर ज्ञात भी नहीं होता, पर आँख में गिर जाने पर महान कष्ट पहुँचाता है। इसी प्रकार ये सांसारिक क्लेश निर्मलचित्त

योगी को कष्ट प्रतीत होते हैं, अन्य साधारण भोक्ता को नहीं। वह तो एक के बाद एक दुःखों को भोगता-निबटाता हुआ आगे की दुःखराशि के लिए विविध कर्मानुष्ठान रूप साधनों का निरन्तर संचयन किया करता है। अविद्यामूलक अनादि वासनाओं से अभिभूत चित्तवृत्तियों से घिरा हुआ वह व्यक्ति-परित्याज्य भी 'मैं और मेरा' की-कीचड़ में फँसा रहता है। बाह्य, आभ्यन्तर तथा दोनों कारणों से उत्पन्न संतापों की धधकती आग में जलता रहता है। वह इसकी यथार्थता को नहीं पहचान पाता। इस अनादि दुःख प्रवाह से घिरे हुए आत्मा [अपने पाप] को तथा भूत-भौतिक को समझकर योगी सब दुःखों का क्षय करनेवाले सम्यग्दर्शन=तत्त्वज्ञान की शरण में आ जाता है। उसकी प्राप्ति के उपायों में संलग्न हो जाता है। 'संस्कार-दुःखता' का यही विवरण है।

गुणवृत्तिविरोध—सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुण हैं। 'वृत्ति' व्यापार, कार्य अथवा स्वभाव को कहते हैं। प्रत्येक गुण का कार्य, व्यापार अथवा स्वभाव एक-दूसरे के विरुद्ध रहता है। सत्त्व का सुख, रजस् का दुःख, तमस् का मोह अथवा विषाद-क्रियाहीनता, अलस होना। विरुद्ध होने पर भी ये गुण-जो कार्य करते हैं, मिलकर-परस्पर मिथुनीभूत होकर-करते हैं। तीनों में जो गुण एक समय प्रधान रहता है, उसका कार्य प्रकट होता है, अन्य अप्रकट रहते हैं। जैसे सत्त्व की प्रधानता में सुखरूप कार्य प्रकट में प्रतीत रहता है, पर जैसे सत्त्व के साथ रजस्-तमस् रहते हुए भी अप्रकट-से हैं; ऐसे ही सुख-प्रतीति के साथ दुःख और विषाद भी उसके नीचे छिपे बैठे रहते हैं। इसका तात्पर्य है—सुखानुभव काल में भी दुःख और विषाद का अस्तित्व बना रहता है। इसलिए विवेकी व्यक्ति सांसारिक सुख के अनुभव की स्थिति को भी दुःख का रूप समझता है, क्योंकि तब भी सुख की ओट में छिपा हुआ दुःख एवं विषाद अपने उभरने के अवसर को बराबर झाँका करते हैं। गुणों का स्वभाव आचार्यों

ने चंचल बताया है- **'चलं हि गुणवृत्तम्'**। व्यक्ति की चाहना होते हुए भी केवल सुख का व्यापार अथवा सत्त्वगुण की उपस्थिति निरन्तर स्थायी भाव से रह नहीं सकते। गुणों का त्वरित परिणाम चलता रहता है और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख-विषादरूप में परिवर्तन का होना नैसर्गिक है। इस स्थिति को जाँच-समझकर योगी इससे बचने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

इस महान भयावह दुःख-समुदाय की उत्पत्ति का बीज अविद्या है। उसको दूर करने का एकमात्र साधन 'सम्यक्ज्ञान' अथवा तत्त्वज्ञान है, जिसको 'प्रकृति पुरुषविवेकज्ञान' एवं 'जड़-चेतन के भेद का साक्षात्कार ज्ञान, आदि के रूप में व्यवहृत किया जाता है।

यह शास्त्र भी चिकित्साशास्त्र के समान चार अंगों वाला है। चिकित्सा के चार प्रधानभूत अंग माने जाते हैं—रोग, रोग का कारण, आरोग्यलाभ, भैषज्य का प्रयोग। ऐसे ही प्रस्तुत शास्त्र में दुःखबहुल संसार रोग-स्थानीय है। जैसे रोग त्याज्य है, ऐसे ही सांसारिक दुःख आदि हेय-पक्ष में आते हैं। इस दुःखबहुल संसार का कारण है—अविवेक प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान न होना। यह अविवेक पुरुष को प्रकृति के साथ संयुक्त करने में सहयोगी होता है। इसलिए अविवेक एवं तज्जन्य प्रकृति-पुरुष का संयोग इस सांसारिक दुःख का कारण है। इस प्रकार संसार-दुःख हेय तथा अविवेक हेयहेतु। जब अविवेकमूलक प्रकृति-पुरुषसंयोग समाप्त हो जाता है, तब यह मोक्ष का स्वरूप है। इसी को 'हान' कहते हैं, अर्थात् जब आत्मा की संसार-स्थिति छूट चुकी है। इस 'हान' अर्थात् मोक्ष का उपाय है—सम्यग्दर्शन। इसी का नाम 'विवेक' है, प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान। इस प्रकार प्रस्तुत शास्त्र चार अंगों में व्यूढ़ है, व्यवस्थित है, रचा गया है—हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय।

इस विषय में यह सावधानतापूर्वक समझे रहना चाहिए, कि यह चतुरंग अथवा चतुर्व्यूह का प्रसंग केवल देह अथवा

भौतिक रचनाओं तक सीमित रहता है। देह में बैठा इसका अधिष्ठाता चेतन आत्मा न हेय है, न उपादेय, यह अमृत है, सदा एक–रूप रहनेवाला–शाश्वत, न इसका कभी नाश होता न उत्पाद, यह सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है, भूत–भौतिक अथवा प्राकृतिक के समान परिणामी नहीं। इसके इसी स्वरूप का साक्षात्कार करना 'सम्यग्दर्शन' है। इसी को तत्त्वज्ञान, विवेकज्ञान, आत्मज्ञान आदि पदों से कहा जाता है। योगीजन संसार की दु:खबहुलता को समझकर उस ओर से मुख मोड़ इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहा करते हैं। साधारण व्यक्ति संसार की दु:खबहुलता को नहीं देख–समझ पाता और इसी दु:खपङ्क में फँसा रहता है ॥१५॥ [६६]

शिष्य जिज्ञासा करता है, गुरुजी! आपने इस शास्त्र को चार व्यूह–चार अंगों–वाला बताया, वे चार व्यूह कौन–से हैं? आचार्य यथाक्रम उनका स्वरूप प्रस्तुत कर जिज्ञासा का समाधान करता है। पहला व्यूह है–

हेयं दु:खमनागतम् ॥१६॥ [६७]

[**हेयम्**] त्याज्य है [**दु:खम्**] दु:ख [**अनागतम्**] आगे आनेवाला।

जो दु:ख आगत अर्थात् पहले आ चुका है और उसे भोग लिया गया है, वह तो भोगे जाने से समाप्त हो गया। जो दु:ख अब वर्त्तमान में चालू है, उसे बीच में धोखा नहीं दिया जा सकता; उसे भोगकर ही उससे छुटकारा मिल सकता है। इसलिए दयालु आचार्य ने बताया–जो अनागत दु:ख है, अभी तक आया नहीं, आगे आने की संभावना है, उसे दूर रखने के लिए उपाय करो, जिससे वह समीप तक न आ सके। वही दु:ख हेय है, बिना भोगे हुए जिससे छुटकारे का हमें यत्न करना है। योगी उसी को क्लेशकर समझकर उससे छुटकारे के लिए अध्यात्म मार्ग की प्रवृत्ति में प्रयत्नशील हो जाता है। साधारणजन

इस दूरदर्शिता तक नहीं पहुँच पाता। फलतः अनागत दुःख को 'हेय' की सीमा में समझना चाहिए॥१६॥ [६७]

शिष्य जिज्ञासा करता है, इस हेय दुःख का कारण क्या है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥१७॥ [६८]

[**द्रष्टृदृश्ययोः**] द्रष्टा-आत्मा और दृश्य-प्रकृति का परस्पर [**संयोगः**] संयोग-मिल जाना [**हेयहेतुः**] हेय का कारण है।

द्रष्टा चेतन आत्मा है, जिसको सांख्य-योग में 'पुरुष' पद से व्यवहृत किया जाता है। दृश्य समस्त प्रकृतिजन्य पदार्थ हैं। इनमें बाह्य पदार्थ रूप, रस, गन्ध आदि तथा अन्य भोग्य पदार्थ हैं, एवं आन्तर पदार्थ इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि हैं। संसार में पुरुष का सम्बन्ध इन्हीं पदार्थों से रहता है, इन्हीं के आकर्षण के कारण आत्मा इनमें बन्धा रहता है। इन सभी पदार्थों का उपादान कारण क्योंकि प्रकृति है, इसलिए साधारण शास्त्रीय व्यवहार में इस संयोग को 'प्रकृति-पुरुषसंयोग' कहा जाता है। परन्तु सूत्रकार ने सूत्र में 'दृश्य' पद का प्रयोग कर इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि हेय (दुःख) का कारण दृश्य-कार्य जगत् के साथ पुरुष-द्रष्टा का संयोग है। अव्यक्त प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग इस दिशा में किसी कार्य का साधक नहीं होता। इसलिए सूत्र के 'दृश्य' पद का अर्थ प्रकृतिजन्य व्यक्त पदार्थ समझना चाहिए। अव्यक्त प्रकृति का यह दृश्यरूप है। इसी के सम्पर्क में आकर पुरुष दुःख उठाया करता है। इसलिए दृश्य-प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग हेय का अर्थात् दुःख का कारण बताया है।

यद्यपि प्रकृति को इन शास्त्रों में 'स्वतन्त्र' कहा गया है। पर वहाँ 'स्वतन्त्र' का तात्पर्य इतना ही है कि प्रकृति जगत्कार्य की उपादानता के अंश में किसी-का सहारा-सहयोग-नहीं लेती। इसमें वह 'स्व-तन्त्र' है, अपने अधीन है, इस अंश में

उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। तब पुरुष के साथ संयोग के लिए वह क्यों बाधित रहती है? इसका कारण है-उसका जड़स्वरूप होना। जड़ अर्थात् अचेतन होने से वह स्वत: किसी प्रवृत्ति में सामर्थ्य नहीं रखती। प्रवृत्ति के लिए चेतन सहयोग की अपेक्षा रहती है। यह सहयोग प्रकृति की अव्यक्त दशा से लेकर प्रत्येक विकारस्वरूप में अक्षुण्ण बना रहता है। इसी सहयोग के कारण प्रकृति इस समस्त विश्व का प्रसव करती है। यह सहयोगी चेतन सर्वशक्तिमान् परमात्मा है।

प्रकृति जड़ होने से स्वयं इस प्रसूत जगत् का भोग नहीं कर सकती। परमात्मा सत्यसंकल्प, पूर्णकाम है, वह 'अनश्नन्' रहता हुआ स्वप्रकाश है। वह अपने रूप में एकमात्र तत्त्व है। तब प्रकृति का प्रसव क्यों? उत्तर है-जीवात्माओं के लिए। ये आत्मा अनन्त हैं, प्राणों के साथ सम्पर्क होने पर यह आत्मा 'जीवात्मा' कहा जाता है। यही इस प्रसूत जगत् का उपयोग करता है, इसलिए प्रकृति इसका भोग्य है और यह प्रकृति का भोक्ता। इन्हीं आत्माओं के लिए प्रकृति प्रसव करती है। इसी रूप में प्रकृति को 'परार्थ' माना गया है। 'पर' अर्थात् दूसरे के प्रयोजन (अर्थ) के लिए प्रस्तुत रहना। यह देह, इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि आदि अन्त:करण सब मिलकर अपने-अपने स्थान पर इस देह में अधिष्ठित आत्मा (जीवात्मा) के प्रयोजन को सिद्ध किया करते हैं। यह भोग्य, भोक्ता और प्रेरयिता का क्रम अनादिकाल से चालू है तथा अनन्त काल तक इसी प्रकार चलते रहना है। यह चक्रभ्रमण के समान अखिल ब्रह्माण्ड की गति कभी समाप्त होने वाली नहीं है। अन्तराल में जीवात्माओं के लिए समय-समय पर कुछ लम्बे विश्राम अवश्य आ जाते हैं। निरन्तर दु:खों की परम्परा से ऊबकर जब जीवात्मा का झुकाव इनसे बचने की ओर होता है, तभी इन शास्त्रों के उपयोग का अवसर आता है। जीवात्मा तब इस दिशा का प्रयत्न करता हुआ उस चिरकालिक विश्राम स्थली को उपलब्ध कर

लेता है।

इस दिशा में भी दृश्य-प्रकृति जीवात्मा के प्रयोगों में पूर्ण सहयोग प्रदान करती है। आत्म-साक्षात्कार के लिए समस्त तप, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, वैराग्य आदि के प्रयोग इस मानव देह में रहते ही सम्पन्न हो पाते हैं। इसलिए जीवात्म-पुरुष के भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि में प्रारम्भ से अन्तिम बिन्दु तक प्रकृति का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहता है। यही उसकी परार्थता है। इसीलिए शास्त्र में इसे भोग प्रदान करने के समान मोक्ष देनेवाली भी कहा गया है। इसी स्थिति को आचार्यों ने अन्य रूप में अभिव्यक्त किया है-प्रकृति जैसे पुरुष के साथ चिमट कर अपने-आपको बाँधती है, इसी प्रकार पुरुष के प्रयोजन को सिद्धकर अपने-आपको छुड़ा भी लेती है। आचार्यों का तात्पर्य केवल इस प्रकार के व्यावहारिक प्रयोग में है, औपचारिकमात्र। यदि वस्तुतः प्रकृति के ही बन्ध और मोक्ष हों, तो प्रकृति की 'परार्थता' नष्ट हो जाती है और पुरुष उसके प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला मानना होगा। तब प्रकृति भोक्तृ और मुक्ता हुई, पुरुष भोग्य एवं 'परार्थ' हो गया। आचार्यों के भाव को न समझकर कुछ लोगों ने इस विषय में वास्तविकता का शीर्षासन कर दिया है।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय का कारण है, इस बात को समझकर द्रष्टा, दुःख के कारणभूत इस संयोग के प्रतीकार के लिए उपाय की खोज करता है। उपाय ज्ञात हो जाने पर उसके प्रयोग द्वारा दुःख के कारण-संयोग को दूर कर देता है। फलतः दुःख से बचने के अभिलाषी पुरुष के लिए आवश्यक है कि वह इन तीन चीजों की वास्तविकता को समझे-दुःख क्या है? दुःख का कारण क्या है? उस कारण के प्रतीकार के लिए उपाय क्या है? उपाय का अनुष्ठान करने से व्यक्ति दुःख से छुटकारा पा जाता है।

व्यक्ति के पैर में काँटा छिद जाने से दुःख होता है। पैर

का छिदना दु:ख का रूप है, काँटा उसका कारण है। काँटे से बचकर निकल जाना अथवा पैर में जूता पहनना उसे प्रतीकार का उपाय है। उपाय के अनुष्ठान से व्यक्ति दु:ख से बचा रहेगा। द्रष्टा और दृश्य के संयोग का कारण 'अविवेक' है। प्रकृति-पुरुष अथवा जड़-चेतन के भेद का साक्षात्कार ज्ञान न होना। अविवेक का प्रतीकार विवेक है। विवेक की प्राप्ति के लिए यह शास्त्रीय उपायों का उपदेश किया जाता है। विवेक हो जाने पर अविवेक के न रहने से द्रष्टा-दृश्य का संयोग विच्छिन्न हो जायगा, तब उस आत्मा को दु:ख का संस्पर्श भी न रहेगा ॥१७॥[६८]

शिष्य जिज्ञासा करता है गत सूत्र में प्रयुक्त 'दृश्य' पद का तात्पर्य समझ में नहीं आया। आचार्य सूत्रकार ने दृश्य के स्वरूप को अग्रिम सूत्र से प्रस्तुत किया-

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥१८॥[६९]

[प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्] प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका, शील-स्वभाव है, **[भूतेन्द्रियात्मकम्]** भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है **[भोगापवर्गार्थम्]** भोग और अपवर्ग जिसका अर्थ-प्रयोजन है, वह **[दृश्यम्]** दृश्य है।

सूत्र के प्रथम समासयुक्त पद में अन्तिम पद 'शील' का सम्बन्ध पहले तीनों पदों के साथ है-प्रकाशशील, क्रियाशील, स्थितिशील। 'शील' पद का अर्थ है-स्वभाव पहले तीनों पद अपने वस्तुभूत तत्त्व के स्वभाव को बतलाते हुए यथाक्रम सत्त्व, रजस्, तमस् के बोधक हैं। प्रकाश स्वभाववाला सत्त्व, क्रिया स्वभाव वाला रजस् और स्थिति स्वभाववाला तमस्। समस्त दृश्य सत्त्व, रजस्, तमस् का परिणाम है और सत्त्व आदि वस्तु तत्त्व यथाक्रम प्रकाश आदि स्वभाववाले हैं। इसलिए सत्त्व आदि त्रिगुण का परिणाम समस्त दृश्य भी प्रकाश आदि

स्वभाववाला है। प्रत्येक दृश्य जो दिखाई देने--या-अन्य प्रकार-से अनुभव के रूप में प्रकाशित हो रहा है, वह उसके उपादान कारण सत्त्व के प्रभाव से है। प्रत्येक दृश्य क्रियाशील है, यह रजस् का परिणाम व प्रभाव है। प्रत्येक दृश्य को किसी सीमितकाल तक एक ही स्थिति में रहते हुए अपरिवर्तित अनुभव किया जाता है, यह तमस् का परिणाम है। इस प्रकार समस्त त्रिगुणात्मक दृश्य प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाववाला है।

यह दृश्य का स्वभाव बताया, उसका वस्तु-स्वरूप क्या है? यह अगले 'भूतेन्द्रियात्मकम्' पद से बतया गया। वह दृश्य वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से भूत-स्वरूप तथा इन्द्रियस्वरूप है। तात्पर्य है-भूत और इन्द्रियाँ ही वह वस्तु-तत्त्व है, जो 'दृश्य' पद से कहा गया है। 'भूत' पद से पाँचों स्थूलभूत तथा सूक्ष्मभूत एवं उनके कारण 'तन्मात्र' अभिप्रेत हैं। 'इन्द्रिय' पद से बाह्य पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय तथा आन्तर इन्द्रिय मन और अन्त:करण-अहंकार एवं बुद्धि का ग्रहण होता है। इस प्रकार प्रकृति के आद्यकार्य बुद्धि से लगाकर समस्त तेरह करण तथा तन्मात्र, सूक्ष्मभूत और स्थूलभूत तक सभी तत्त्वों का समावेश 'भूत' एवं 'इन्द्रिय' पदों में हो जाता है। इसका तात्पर्य हुआ प्रकृति का समस्त कार्य 'दृश्य' है।

सूत्र के तृतीय पद [भोगापवर्गार्थम्] से 'दृश्य' तत्त्वों का प्रयोजन बताया-भोग और अपवर्ग। अनादि काल से प्रवृत्त देह-धारण और देहवियोग अर्थात् जन्म-मरण के क्रम से प्राप्त वासनाजाल में आवेष्टित जीवात्मा कर्मानुसार शरीरों को धारण करता हुआ संसार में सुख-दु:खों को भोगा करता है। जीवात्मा का अनुकूल भावनाओं के साथ प्रकृति से निरन्तर सम्पर्क बने रहना भोग है। प्रकृति के साथ सम्पर्क को विच्छिन्न करने की तीव्र भावना के जागृत हो जाने पर इन्हीं 'दृश्य' साधनों के सहयोग से विच्छेद की दिशा में उत्कट प्रयास करता हुआ

जीवात्मा अवर्ग को प्राप्त कर लेता है। तब दृश्य के दोनों प्रयोजन सम्पन्न हो जाते हैं।

अविवेक की स्थिति में जब जीवात्मा बाहर के इन दृश्यों में ही संलिप्त रहता है, तब यह 'भोग' का रूप है। जब इन्द्रियों को बाहर की ओर से रोककर अन्दर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है, तब यह अपवर्ग है। जीवात्मा के दो ही दर्शन हैं, बाहर देखे या अन्दर। पहला 'भोग' और दूसरा 'अपवर्ग' है। उपनिषद् के ऋषि ने बताया–

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगा-
त्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥ [कठ., २।१।१]

परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर की ओर खुला हुआ बनाया है, इसलिए इन्द्रियाँ बाहर की ओर देखती हैं, अन्दर की ओर नहीं। कोई धैर्यशील पुरुष अमर होने की इच्छा रखता हुआ इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़कर आत्मा का दर्शन कर लेता है।

यद्यपि तीनों गुण परस्पर मिथुनीभूत होकर एक-दूसरे के अङ्ग-अङ्गी बन कर कार्यों का सम्पादन करते हैं, पर किसी एक अङ्गी गुण का अङ्ग बना हुआ अन्य गुण अपने विशेष सामर्थ्य स्वभाव को खो नहीं देता। इनके अपने-अपने स्वभावसामर्थ्य के जागृत बने रहने के कारण यथावसर शान्त, घोर, मूढ़ परिणामों का क्रम बराबर चला करता है। जिस गुण का कार्य प्रकट में ज्ञात रहता है, वह उस समय 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' कहा जाता है, शेष गुण 'अङ्ग' अथवा गौण (अप्रधान) रहते हैं। पर उनका स्वभाव-सामर्थ्य बराबर बना रहता है।

पुरुष के लिए बुद्धि ऐसा ही तत्त्व है, जैसे किसी राजा के लिए उसका प्रधानमन्त्री। शेष समस्त करण अपने-अपने विषयों को यथास्थान यथावसर बाहर से बटोरकर क्रमानुसार बुद्धि को अर्पित कर देते हैं, बुद्धि उन विषयों को पुरुष के लिए अर्पित

कर देती है। तात्पर्य है–इन्द्रिय–प्रणाली से प्रत्येक विषय बुद्धि के माध्यम द्वारा पुरुष तक पहुँचता है, पुरुष उसका अनुकूल अथवा प्रतिकूलरूप में अनुभव करता है। यही सुख–दु:ख का अनुभव अथवा भोग है। इस प्रकार 'दृश्य' का एक प्रयोजन पूरा होता है।

यह स्पष्ट रूप में समझे रहना चाहिए कि बुद्धि आदि समस्त दृश्य, पुरुष के भोगादि के लिए साधनमात्र हैं। कतिपय व्याख्याकारों ने ऐसा भाव प्रकट किया है कि भोग बुद्धि को होता है, पुरुष में केवल यह अध्यारोपित किया जाता है। वस्तुत: भोक्ता चेतन तत्त्व ही हो सकता है, जड़बुद्धि को भोग का होना मानना, दार्शनिक कसौटी पर खरा नहीं है। इस विषय का दिग्दर्शन गत सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है ॥१८॥ [६९]

शिष्य जिज्ञासा करता है, गतसूत्र से समस्त दृश्य समान कोटि में बताये गये, पर इनके कार्य भिन्न दिखाई देते हैं। क्या इनके स्वरूपों में कुछ भेद समझना चाहिए? इस जिज्ञासा पर आचार्य ने दृश्य गुणों के स्वरूप के अवधारण के विषय में बताया–

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥ [७०]

[विशेष–ऽविशेष–लिङ्गमात्र–अलिङ्गानि] विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग, ये **[गुणपर्वाणि]** गुणों के पर्व–विभाग अथवा अवस्था हैं।

सत्त्व–रजस्–तमस् ये तीनों गुण अपने मूलरूप तथा विकारों के रूप में चार भागों में विभक्त अथवा चार अवस्थाओं में व्यवस्थित रहते हैं–विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र, अलिङ्ग।

विशेष–सत्त्व आदि गुण परिणत होते–होते जब ऐसी अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ उन परिणत विकारों व कार्यों में गन्ध आदि विशेष गुण–धर्मों की अभिव्यक्ति हो जाती है, तत्त्वों की वह अवस्था 'विशेष' है। इसमें भूत और समस्त इन्द्रियों का

समावेश है। 'भूत' से तात्पर्य है-सूक्ष्मभूत, जिनमें सर्वप्रथम गन्ध आदि विशेष गुण-धर्मों की अभिव्यक्ति हो जाती है। ये सूक्ष्मभूत 'परमाणु' पद से व्यवहृत होते हैं-पृथिवी परमाणु, अप्-परमाणु आदि। सूक्ष्मभूत और स्थूलभूत की तात्त्विक रचना में कोई अन्तर नहीं होता, केवल सूक्ष्मता व स्थूलता का अन्तर रहता है। अथवा यह कहना चाहिए जो बाह्य इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आ जाय, वह स्थूल, जो अनुभव में न आये, वह सूक्ष्म है। इसलिए 'भूत' पद में सूक्ष्म-स्थूल दोनों प्रकार के भूतों का समावेश हो जाता है।

ग्यारह इन्द्रियाँ घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और मन हैं। इनमें पहली पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा उनसे आगे की पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। अन्तिम 'मन' आन्तर इन्द्रिय है। पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ मिलकर सोलह तत्त्व, सम्पूर्णदृश्य का 'विशेष' नामक एक भाग है।

अविशेष—इन विशेष के उपादान कारण तत्त्व 'दृश्य' का 'अविशेष' संज्ञक विभाग है। सूक्ष्मभूतों के उपादान कारण 'तन्मात्र' तत्त्व हैं। इनमें गन्ध आदि विशेष गुण-धर्मों की अभिव्यक्ति नहीं होती तथा पृथिवी परमाणु आदि के ये उपादानकारण है, कार्य की अपेक्षा कारण सूक्ष्म होता है, इसलिए ये तत्त्व 'अविशेष' भाग में आते हैं। इन्द्रियों का उपादान कारण 'अहंकार' है। अहंकार की रचना में जिन तत्त्वों का उपयोग होता है, उनकी कुछ न्यूनाधिकता से स्वयं अहंकार तीन रूपों में प्रस्तुत होकर आगे कार्य के रूप में परिणत होता है। अहंकार के वे रूप हैं वैकारिक, तैजस (या राजस), तामस। पहले से मन, दूसरे से इन्द्रियाँ परिणत होते हैं। इस प्रकार अहंकार 'अविशेष' के कार्य ग्यारह इन्द्रियाँ 'विशेष' हैं। और तन्मात्र 'अविशेषों' के कार्य पाँच भूत 'विशेष' हैं। फलतः सोलह विशेषों के छह अविशेष हैं। भूतों के 'तन्मात्र' अविशेष

तथा इन्द्रियों का अहंकार[१]। तन्मात्र के साथ पाँच संख्या का निर्देश उनके पाँच प्रकार के भूत-तत्त्व कार्यों के आधार पर किया जाता है। तन्मात्र जिन कार्यों के रूप में परिणत होते हैं, उनके प्रकार केवल पाँच हैं, इसलिए कारण-तत्त्वों के साथ पाँच संख्या को जोड़ दिया जाता है। वस्तुतः स्वरूप से 'तन्मात्र' कारण-तत्त्वों की कोई सीमित संख्या नहीं हैं।

लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व है। यह मूल प्रकृति का आद्य कार्य तथा अहंकार आदि से सूक्ष्म, उत्कृष्ट एवं उनका उपादान कारण है।

अलिङ्ग—प्रकृति की वह अवस्था है, जब मूलतत्त्व सत्त्व, रजस्, तमस् साम्य अवस्था में विद्यमान होते हैं। लिङ्ग अर्थात् किसी प्रकार के चिह्न सब सत्त्व-रजस्-तमस् की विषमता में उभरते हैं। इसीलिए सत्त्व आदि त्रिगुण की साम्य अवस्था का नाम 'अलिङ्ग' है। इस रूप में वह प्रकृति का पर्याय पद बन गया है। इसी अवस्था को प्रधान, अव्यक्त, माया, प्रसवधर्मिणी आदि पदों से शास्त्रकारों ने व्यवहृत किया है।

यह जगत् की प्रलय अवस्था का प्रकृति-स्वरूप है। यह नित्य माना जाता है, क्योंकि समस्त विश्व इसका कार्य है, पर यह किसी का कार्य नहीं। दूसरा यह भी कारण इसकी नित्यता

---

१ मन और इन्द्रियों के परिणाम (उत्पादन) का विस्तृत विवरण हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' [पृष्ठ २५७-३००] में देखना चाहिए। यहाँ के विवेचन में 'तन्मात्र' नामक तत्त्वों को 'महत्' का परिणाम बताया है। परन्तु सांख्य में तन्मात्र को 'तामस अहंकार' का कार्य कहा गया है। इस विषय के सामञ्जस्य के लिए यही समझना चाहिए कि महत्तत्त्व 'तामस अहंकार' के रूप में परिणत होकर 'तन्मात्र' तत्त्वों को उत्पन्न करता है। अन्यथा अतिसत्त्वप्रधान 'महत्' से सीधा तमःप्रधान 'तन्मात्र' कार्य का होना संगत प्रतीत नहीं होता। परिणाम-प्रक्रिया में इसका सामञ्जस्य तभी संभव है, जब महत्तत्त्व उस अवस्था तक परिणत हो चुका हो, जहाँ तमोगुण का प्राधान्य हो जाता है। वह स्तर तामस-अहंकार का है। प्रतीत होता है-'अविशेष' विभाग की संगति के लिए वैसा मान लिया गया है।

में कहा जाता है-यह अवस्था पुरुष के लिए न भोग का प्रयोजक है, न अपवर्ग का। पुरुष के किसी प्रयोजन को यह सिद्ध नहीं करती। यह इसका वास्तविक स्वरूप है। पुरुष-प्रयोजन की सम्पन्नता के लिए इसकी समस्त प्रवृत्तियाँ विषम अवस्था में होती हैं। अतः वह अवस्था नैमित्तिक है, इसलिए अनित्य है। सर्गकालिक विषम अवस्था में परिणत हुए समस्त त्रिगुण प्रतिसर्गकाल में अपनी वास्तविक अवस्था में जाने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। वह उनका नित्य सार्वकालिक स्वरूप है। दृश्य की अन्य तीनों अवस्था-लिङ्गमात्र अविशेष और विशेष कार्यरूप हैं, अनित्य हैं। यही दृश्य पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने में उपयोगी होते हैं। प्रकृति को इसीलिए प्रवाह से नित्य, अनादि-अनन्त माना जाता है, इसका यह सर्ग-प्रतिसर्ग का प्रवाह कभी विच्छिन्न नहीं होता। इसमें सत्त्व-रजस्-तमस् का वास्तविकस्वरूप सदा अविच्छिन्न बना रहता है।

प्रकृति की साम्य अवस्था में विषमता होकर जब सर्ग होने लगता है, तो दृश्य अथवा व्यक्त जगत् के रूप में सर्वप्रथम 'महत्तत्त्व' प्रादुर्भाव में आता है। यह लिङ्गमात्र है। इसके अनन्तर 'अविशेष' प्रादुर्भाव में आते हैं, अनन्तर 'विशेष' कोटि के तत्त्व प्रादुर्भूत होते हैं। परन्तु सूत्र द्वारा प्रस्तुत विवेचन में इस क्रम को उलट दिया गया है। अर्थात् प्रतिसर्ग-क्रम से निर्देश किया है, विशेष को पहले कहकर अलिङ्ग को अन्त में कहा है। इसका कारण यह है कि प्राणी सर्वप्रथम जिन तत्त्वों के सम्पर्क में आता है, वे 'विशेष' वर्ग के तत्त्व हैं। इस लोकव्यवहार को प्रधानता व महत्त्व देकर प्रथम उसका स्वरूप बताया, अनन्तर उनके कारणों का। इस प्रकार तत्त्वों के जानने-पहचानने में सुगमता रहती है। पहले स्थूल पदार्थ देखा जाता है। इसके कारणरूप की खोज में उससे सूक्ष्म, फिर और आगे सूक्ष्मतर, अन्त में सूक्ष्मतम मूलतत्त्व तक सरलता से बोध हो जाता है। यही समस्त 'दृश्य' है, जिसका निर्देश सत्रहवें सूत्र में

है ॥१९॥ [७०]

शिष्य जिज्ञासा करता है, सत्रहवें सूत्र में निर्दिष्ट 'दृश्य' का विवरण तो ज्ञात हुआ, पर उसी के साथ निर्दिष्ट 'द्रष्टा का स्वरूप क्या है? यह नहीं जाना। आचार्य ने अग्रिम सूत्र से द्रष्टा का स्वरूप बताया—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥ [७१]

[द्रष्टा] देखनेवाला चेतनतत्त्व **[दृशिमात्रः]** केवल देखने की शक्तिरूप है **[शुद्धः-अपि]** शुद्ध-निर्मल निर्विकार होता हुआ भी **[प्रत्ययानुपश्यः]** प्रत्ययों-वृत्तियों के अनुसार देखनेवाला होता है।

आत्मतत्त्व शुद्ध चेतनस्वरूप है, केवल चेतनस्वरूप। चेतन तत्त्व ही द्रष्टा देखनेवाला हो सकता है, अन्य नहीं। कहना चाहिए-आत्मतत्त्व चित्ति-शक्तिमात्र है, केवल चैतन्य रूप। उसे चेतन बनाने के लिए अन्य किसी सहयोगी विशेषण की अपेक्षा नहीं होती। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान उसे सीधा बुद्धि-साधन द्वारा होता है। अन्य सभी इन्द्रियाँ इनमें अपना-अपना पूरा व्यापार निभाते हैं। बाह्य इन्द्रिय अपने विषय से सम्बद्ध होता है, वह विषय इन्द्रिय में प्रतिबिम्बित होकर यथाक्रम मन, अहंकार के द्वारा बुद्धि में पहुँचता है। यह प्रक्रिया करणों का व्यापार या वृत्ति कही जाती है। बुद्धि का पुरुष के साथ सीधा सम्पर्क रहता है, बुद्धि तक प्रतिबिम्बित विषयच्छाया का पुरुष को ज्ञान होता है-यह घट-पट आदि अमुक विषय है। ज्ञान होना चेतन का धर्म है वह सदा चेतन है, सदा ज्ञानरूप है, वह उसका नित्य-स्वरूप है। बाह्य विषय का ज्ञान वृत्तिरूप ज्ञान है, करणों की वृत्ति [व्यापार] द्वारा वह ज्ञान होता है, इसी कारण वह साधनजन्य है, अनित्य है। समस्त अनुभूतियाँ केवल चेतन तत्त्व को हो सकती हैं, क्योंकि वह अनुभूतिस्वरूप है। बुद्धि केवल साधन है, अनुभूति कभी बुद्धि को नहीं हो सकती। बुद्धि का

धर्म केवल 'वृत्ति' है। जब वृत्ति द्वारा ज्ञान होता है, वह पुरुष चेतन को ही होता है।

विभिन्न बाह्य विषयों का ज्ञान पुरुष में किसीप्रकार के विकार को उत्पन्न नहीं करता। सुख और दु:ख भी अनुकूल-प्रतिकूल अनुभूति पुरुष का स्वरूप है, तब इन विभिन्न अनुभूतियों से उसमें विकार की कल्पना कैसी? अनुभूति किसी भी विषय से प्रभावित हो, वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती। यदि वह विकारी स्वरूप को छोड़ दे, तो सुख-दु:ख का अनुभव होना असंभव होगा। यह जो कहा जाता है कि आत्मा में विकार आ जाने के भय से सुख-दु:ख आदि की प्रतीति-ज्ञान-अनुभूति बुद्धि को होनी माननी चाहिए। उसका अध्यारोप पुरुष में हो जाता है, यह विचार शास्त्रीय परम्परा एवं शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों के विपरीत होने से त्याज्य है। प्रकृति का 'परार्थ' होना शास्त्र का मूल सिद्धान्त माना गया है। परन्तु उक्त मान्यता में-जहाँ बुद्धि को सुख-दु:ख की वास्तविक अनुभूति होना कहा गया-बुद्धि के जड़ होने से उसमें अनुभूति-सामर्थ्य की उपज के लिए चेतन पुरुष के सान्निध्य का उपयोग किया जाता है। इसका तात्पर्य हुआ-बुद्धि, पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिए न रही, प्रत्युत पुरुष को बुद्धि के प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयोग में लाया गया। यह वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर दिया गया है।

इन्हीं सब परिस्थितियों की गम्भीरता को देखते हुए सूत्रकार ने कहा- **'शुद्धः प्रत्ययानुपश्यः'**। चेतन आत्मा सुख-दु:ख आदि की अनुभूति से कभी विकृत नहीं होता, यह स्वरूपत: शुद्ध है, सदा शुद्ध है, निर्मल-निर्विकार-अपरिणामी। फिर भी उसकी जानकारी सदा ज्ञान होने के पीछे हो पाती है। कहीं पर आत्मतत्त्व की स्थिति का बोध तभी हो पाता है, जब वहाँ ज्ञान हो। प्रत्यय-प्रतीति-ज्ञान अथवा अनुभूति होने पर ही किसी को पता लगता है कि यहाँ आत्मतत्त्व अवस्थित है। इसके अतिरिक्त

चेतन आत्मा उसी बाह्यविषय को जान पाता है, जो बुद्धि द्वारा प्रस्तुत किया गया हो। तात्पर्य है–बुद्धि के प्रत्ययों (वृत्तियों) के अनुसार देखनेवाला होता है। शुद्ध होता हुआ भी वह साधनभूत बुद्धि के सहयोग से ज्ञान कर पाता है।

चेतन आत्मतत्त्व बुद्धि के समानरूप नहीं है। बुद्धि जड़ है, परिणामिनी है, दृश्य है, अनित्य है, केवल साधन। आत्मतत्त्व चेतन है, अपरिणामी है, द्रष्टा है, नित्य है, साधक भोक्ता है। इसलिए इनकी समानरूपता का प्रश्न नहीं उठता। विरूपता स्पष्टत: अवश्य है। परन्तु विरूप होने पर भी आत्मतत्त्व बाह्यविषयक ज्ञान के लिए साधनरूप में बुद्धि का सहयोग प्राप्त करता है, अत: इनके अनिवार्य अतिशय सान्निध्य को नकारा नहीं जा सकता। यही सान्निध्य आत्मा के भोग और अपवर्ग का सम्पन्न करने में पूर्ण सहायक होता है॥२०॥ [७१]

दृश्य और द्रष्टा के स्वरूप का निरूपण कर इनके स्वस्वामिभाव सम्बन्ध को स्पष्ट करने की भावना से सूत्रकार ने बनाया–दृश्य का अस्तित्व द्रष्टा के लिए है–

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा॥२१॥ [७२]

[तदर्थ:] उसके लिए **[एव]** ही **[दृश्यस्य]** दृश्य का **[आत्मा]** स्वरूप अस्तित्व है।

सूत्र में 'तत्' सर्वनाम पद द्रष्टा पुरुष के लिए प्रयुक्त है। दृश्य का स्वरूप अर्थात् अस्तित्व द्रष्टा पुरुष के लिए है। सूत्र का 'एव' पद इस अर्थ का अवधारण करता है। दृश्य केवल द्रष्टा पुरुष के लिए है, उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं। यद्यपि अठारहवें सूत्र में 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' कहकर इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया गया है, पर सूत्रकार ने इस पर बल देने और नितान्त अवधारण की भावना से यह सूत्र कहा कि दृश्य केवल द्रष्टा के लिए है, वह दृश्य के लिए कभी नहीं होता। इसके अनुसार उन आचार्यों के विचार सर्वथा चिन्त्य हैं, जो सुख-दु:ख

आदि भोग को वस्तुतः बुद्धि का मानते हैं॥२१॥ [७२]

शिष्य जिज्ञासा करता है, दृश्य के द्वारा पुरुष के भोग और अपवर्ग सिद्ध कर देने पर क्या यह निष्प्रयोजन हुआ दृश्य तब नष्ट हो जाता है? सूत्रकार ने बताया--

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारण-त्वात्॥२२॥ [७३]

[कृतार्थं-प्रति] जिस आत्मा का प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उसके लिए **[नष्टम्-अपि]** नष्ट हुआ-जैसा भी दृश्य **[अनष्टम्]** नष्ट नहीं होता **[तदन्य-साधारणत्वात्]** कृतार्थ पुरुष से अन्य पुरुषों के लिए साधारणस्थिति बने रहने के कारण।

जो आत्मा कृतार्थ हो गया जन्म-जन्मान्तरों में विविध भोगों को प्राप्त कर पूर्णप्रयास के साथ साधना करके जिसने योग-विधानों का अनुष्ठान कर आत्मसाक्षात्कार कर लिया एवं देहपात के अनन्तर अपवर्ग पा लिया है, उसके भोग और अपवर्ग दोनों सिद्ध हो गये। उसके लिए दृश्य का अब कोई उपयोग नहीं रहा, अतः उसके लिए दृश्य नष्ट जैसा हो गया। यद्यपि प्रकृति अथवा दृश्य का सर्वथा नाश कभी नहीं होता, पर अपवर्ग-प्राप्त आत्माओं के लिए उसका कोई उपयोग न रहने के कारण उनके लिए वह नष्ट के समान समझ लिया जाता है। सूत्र के प्रथम भाग से इसी भाव को अभिव्यक्त किया गया है।

व्यवस्थानुसार समस्त आत्मा एकसाथ अपवर्ग प्राप्त नहीं कर पाते। अन्य आत्मा जो अविवेक की अवस्था में विद्यमान रहते हैं, उनके लिए प्रकृति एवं दृश्य का विद्यमान रहना आवश्यक है। उनके भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए दृश्य बना रहता है। क्योंकि ऐसे आत्मा पूर्ण संख्या में सदा बने रहते हैं, इसलिए दृश्यरूप में संसार भी सदा सतत चालू रहता है। सर्ग के अनन्तर प्रलय और प्रलय के अनन्तर सर्ग एवं सर्ग

से प्रलय और प्रलय से सर्ग निरन्तर क्रमपूर्वक चलते रहते हैं। यह क्रम अनादि-अनन्त है। इसके सर्वथा नष्ट हो जाने की कभी सम्भावना नहीं।

इस प्रकार आत्मा और प्रकृति दोनों के नित्य होने से इनका संयोग भी नित्य है, अनादि है। ऐसे संयोग को प्रवाह से नित्य अथवा अनादि समझना चाहिए। प्रलय काल में जब महत् आदि दृश्य अपने कारण-तत्त्वों में लीन हो जाता है, अर्थात् कारणरूप में अवस्थित रहता है, कार्यरूप में नहीं उस अवस्था में आत्माओं का संयोग महत् आदि के साथ नहीं रहता। पर आगे सर्ग होने पर जब पुनः महत् आदि दृश्य कार्यरूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं, तब पुनः इनके साथ आत्माओं का संयोग अपने कर्मानुसार हो जाता है। इस प्रकार यह संयोग अनित्य होता हुआ भी प्रवाह से अनादि एवं नित्य कहा जाता है। क्योंकि यह प्रवाह सर्वात्मना कभी समाप्त नहीं हो पाता।

आचार्यों ने इस विषय में समझाया है-धर्मियों-सत्त्व रजस् तमस्-के अनादि होने से आत्माओं के साथ उनका संयोग जब अनादि है, तो उनके [धर्मियों के] महत् आदि जो केवल धर्म [कार्य] हैं, उनका भी आत्माओं के साथ संयोग अनादि समझना चाहिए। महत् आदि दृश्यरूप धर्मों के-बीचबीच में-अदृश्य होते रहने के कारण इस संयोग की अनादिता प्रवाहरूप से मानी जा सकती है॥२२॥ [७३]

शिष्य जिज्ञासा करता है-सत्रहवें सूत्र में द्रष्टा और दृश्य के संयोग को हेय (दुःख) का कारण बताया। द्रष्टा और दृश्य के स्वरूप का विवरण तो गतसूत्रों से ज्ञात हो गया, परन्तु संयोग का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। आचार्य सूत्रकार ने अवसरप्राप्त संयोग का स्वरूप बताया—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥२३॥[७४]

[स्वस्वामिशक्त्योः] स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के

[स्वरूपोपलब्धिहेतुः] स्वरूपों की उपलब्धि का जो हेतु है, वह **[संयोगः]** संयोग यहाँ अभिप्रेत है।

सूत्र के 'स्व' पद से 'दृश्य' का ग्रहण होता है। यह प्रथम कहा जा चुका है-दृश्य के प्रयोजन-फल हैं-भोग और अपवर्ग। यह दृश्य पुरुष के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करता है। दृश्य जड़ है, स्वभावतः अन्धा है, स्वयं कुछ देख या कर नहीं सकता। पुरुष चेतन है, वह देख या कुछ कर सकता है। यह 'स्व' क्योंकि पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए उपयोग में आता है, इसलिए इस 'स्व'-धन, सम्पत्ति का स्वामी पुरुष है। इनका संयोग होने पर भोग और अपवर्ग सम्पन्न हो पाते हैं। संयोग होने पर पुरुष इस 'दृश्य' को देखता है, अब यह अदृश्य से दृश्य हो गया है। पुरुष के द्वारा 'स्व' शक्ति के रूप की उपलब्धि 'भोग' है तथा स्वामिशक्ति आत्म-स्वरूप की उपलब्धि 'अपवर्ग' है। क्योंकि यह तभी सम्पन्न हो पाते हैं, जब 'स्व' और 'स्वामी' का परस्पर संयोग होता है, इसलिए यह संयोग भोग-अपवर्गरूप उपलब्धि का हेतु है। 'स्व' और 'स्वामी' की इस स्थिति को स्वस्वामिभावसम्बन्ध, दृश्यद्रष्टभावसम्बन्ध अथवा भोग्यभोक्तृभाव-सम्बन्ध कहा जाता है।

स्व और स्वामी का यह संयोग स्वामी अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार होने पर समाप्त हो जाता है। इसलिए आत्मदर्शन वियोग का कारण होने से इस संयोग का प्रतिद्वन्द्वी-विरोधी माना गया है। जब तक अदर्शन है-आत्मसाक्षात्कार नहीं हो पाया है; तब तक भोग-अपवर्ग की उपलब्धि का कारण संयोग है। आत्मदर्शन हो जाने पर बन्ध के कारण-अदर्शन का नाश हो जाता है। इसलिए आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण माना जाता है।

भाष्यकार ने आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण न मानकर, अदर्शन के अभाव से बन्ध का अभाव कहकर उसी को मोक्ष कहा है। पर विचारना यह है कि अदर्शन का अभाव तो आत्मदर्शन से ही हो पाता है, फिर दर्शन को मोक्ष के प्रति

कारणता से हटाया क्यों जाता है? वस्तुतः आत्मदर्शन, बन्ध के कारण अदर्शन को ठुकराता हुआ बन्ध के अभाव को प्रस्तुत करता है, जो मोक्ष का स्वरूप है। तात्पर्य है आत्मदर्शन से अदर्शन दूर हो जाता है। क्योंकि अदर्शन बन्ध का कारण है, इसलिए अदर्शन के अभाव में बन्ध का अभाव हो जाता है। यह क्रम स्पष्ट करता है-बन्ध के अभाव में आत्मदर्शन मुख्य कारण है। बन्ध का अभाव ही मोक्ष है, तब आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण मानने में क्या झिझक है?

सूत्रकार ने यहाँ 'स्व' प्रकृति और 'स्वामी'-पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु इनका पारस्परिक संयोग बताया है। इस संयोग का हेतु सूत्रकार ने अगले सूत्र से 'अविद्या' बताया है।[१] देखना यह है-इन प्रकृति-पुरुष के स्वरूपों की उपलब्धि क्या इनके संयोग के बिना होनी सम्भव है? इस अनादि-अनन्त विश्व-जीवन की परम्परा में ऐसा अवसर अत्यन्त विरल आता है, जब यह संयोग इनके स्वरूपों की उपलब्धि को प्रस्तुत करता है। यह संयोग किस प्रकार इनके स्वरूपों की उपलब्धि (साक्षात्कार) का प्रयोजक है, यह भाव ईशावास्य-उपनिषत् [९-१४] अथवा यजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों [४०।९-१४] द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

आत्मा जब तक मानवशरीर को प्राप्त नहीं करता, तब तक स्वरूप की उपलब्धि (आत्म-दर्शन) का होना सम्भव नहीं। मानव-देह प्राप्त होने पर भी न मालूम-कब किसको वह अवसर प्राप्त होता है।[२] इसी मानव-देह को वेद व उपनिषत् में 'सम्भूति' पद से कह गया है। इस रूप में प्रकृति-पुरुषसंयोग इनके स्वरूप की उपलब्धि का हेतु होता है (सम्भूत्या अमृतमश्नुते)। फिर भी अनेक आचार्यों ने आत्म-दर्शन को

१. इसका स्पष्ट विवरण अगले सूत्र की व्याख्या में पढ़िये।
२. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ गीता ७।३॥

मोक्ष का कारण मानने में जो संकोच अभिव्यक्त किया है, उसका कारण कदाचित् यह हो कि दर्शन-कारण से जनित मोक्षकार्य की अनित्यता सम्भावित होगी, जबकि मोक्ष का स्वरूप ब्रह्मानन्दप्राप्ति है। यदि अदर्शन के अभाव से बन्ध के अभाव-अर्थात् बन्ध-ध्वंस-को मोक्ष माना जाता है, तो उक्त दोष की सम्भावना वहाँ नहीं रहती।

इसको स्पष्ट करने के लिए मोक्ष के स्वरूप को समझना अपेक्षित होगा। सांख्य-योग दृष्टि से आत्मा का 'कैवल्य' स्वरूप मोक्ष है। आत्मा के कैवल्य का तात्पर्य है-आत्मा के साथ प्रकृति-सम्पर्क का न रहना। प्रकृति-सम्पर्क में भी आत्मा के शुद्ध चेतन स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, इसी कारण इन शास्त्रों में आत्मा को 'नित्य-मुक्त' माना है। उस दशा में वह अपने स्वरूप को भूला हुआ-सा, एवं प्राकृतविषयों से प्रभावित रहता है। इस दशा से छूट जाना मोक्ष है। आत्मदर्शन आत्मा के नित्य-मुक्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। यहाँ विचारना यह है कि आत्मा प्रकृति-सम्पर्क दशा में प्रकृति विषयों से प्रभावित होता है, या नहीं? प्रभावित होने का तात्पर्य यही है कि प्राकृत अनुकूल-प्रतिकूल विषयों की वास्तविक अनुभूति आत्मा को होती है, या नहीं?

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि उक्त प्रकार की अनुभूति से आत्मा में विकार आ जाना चाहिए। पर वह विकार क्या है? कैसा है? इसका स्पष्टीकरण नहीं हो पाया। अनुभूति आत्मा का स्वरूप है, जहाँ चैतन्य है, वहीं अनुभूति का होना सम्भव है। सुखादि की अनुभूति आत्मा को होती है, इस तथ्य को लक्ष्यकर बौद्ध दार्शनिकों ने-प्रखर तर्कों के बल पर सुखी, दुःखी आत्मा को विकारी सिद्ध करने में सफलता प्राप्ति से-वैदिक दार्शनिकों को विक्षुब्ध कर दिया। उससे प्रताड़ित होकर यह मार्ग निकाला गया कि सुख-दुःख आत्मा को न होकर बुद्धि को होते हैं। जड़ बुद्धि क्योंकि अनुभव नहीं कर

सकती, इसलिए यह स्वीकारा गया कि चेतन (आत्मा) के सान्निध्य से बुद्धि चेतन-जैसी हो उठती है और उसी को होनेवाली सुखादि की अनुभूति आत्मा में अध्यारोपित मानी जाती है। आत्मा उससे अपने आपको सुखी-दुःखी समझता है, यही उसका भोग है। पर सुझाव ने वस्तुभूत अर्थ का शीर्षासन कर दिया है।

सांख्य-योग में प्रकृति को 'परार्थ' माना गया है। 'पर' अर्थात् आत्मा के 'अर्थ'-प्रयोजन को सिद्ध करनेवाली प्रकृति है। वह प्रयोजन है-भोग और अपवर्ग। ये दोनों जब मुख्यरूप से बुद्धि को होते माने जायें और आत्मा को औपचारिक रूप से, तो प्रकृति को परार्थ होने के बजाय पुरुष ही परार्थ हो गया प्रतीत होता है। क्योंकि जड़ बुद्धि को भोग-अपवर्ग होने के लिए पुरुष उसको चेतन-जैसा बनाता है। तब पुरुष का अस्तित्व प्रकृति (प्राकृत-बुद्धि) के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला हो गया। यह वस्तुस्थिति का एक प्रकार से शीर्षासन कर दिया गया।

यदि कहा जाय, बुद्धि को जो प्रतीति होती है, वह केवल 'वृत्तिरूप ज्ञान है, आत्मा को होनेवाली प्रतीति 'अनुभूति' है। वृत्तिरूप ज्ञान और अनुभूति में अन्तर समझना चाहिए। यह बाह्य विषय की छाया का आत्मा तक पहुँचाने की एक प्रक्रिया है।

यहाँ विचारना चाहिए, बुद्धि को जो वृत्तिरूप ज्ञान होता है, क्या आत्मा को होनेवाली अनुभूति उससे कुछ भिन्न है? प्रत्यक्ष अनुभव यही है कि प्रतीति रूप से उनमें कोई भेद नहीं है। प्रत्युत जो विषयाकार बुद्धि-वृत्ति है, वही तो पुरुष में भासित होती है, वहाँ प्रतीति में भेद का अंशमात्र भी नहीं है। फिर बुद्धि-वृत्ति ज्ञान और पौरुष अनुभूति-बोध में भेद मानने की क्या तुक है? स्पष्ट है-इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं। तब उसी प्रतीति का अनुभव करता हुआ आत्मा सुखी-दुःखी होने में विकारी होने से कैसे बच जाता है? तब अनुकूल-प्रतिकूल

प्रतीतियों के सीधे आत्मा को होने में क्या आपत्ति है?

'वृत्ति' पद का अर्थ व्यापार है, कारणों का व्यापार। पुरुष को होनेवाली किसी भी बाह्यविषयक अनुभूति के साधन बाह्य आन्तर करण हैं, जिनका सिलसिला बाह्य इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक है। ये करण बाह्यविषय की छाया को अपनी पीठ पर लादकर आत्मा तक पहुँचाते हैं। यही इन कारणों का व्यापार है। यह निश्चितरूप में समझे रहना चाहिए, बाह्यविषय को प्रतीति से आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आता। यह खालिस धोखा है कि सुख-दु:ख आदि विषयानुभूति में आत्मा विकृत हो जाना चाहिए। यह केवल शाब्दिक चर्चा का क्षेत्र है, इसमें तत्त्व कुछ नहीं। यदि ऐसी स्थिति में वस्तुत: आत्मा विकृत हो जाता हो, तो बुद्धि में भी सुख-दु:ख की प्रतीति मानकर इस स्थिति से आत्मा को बचाया नहीं जा सकता। क्योंकि ये सब साधन और उपक्रम उसी की अर्थानुभूति के लिए हैं।

यह विवेचन इस परिणाम पर पहुँचाता है कि आत्म-दर्शन को मोक्ष का कारण मानकर न तो मोक्ष के स्वरूप में कोई अन्तर आता है और न आत्मा को सीधे सुख-दु:ख आदि का अनुभव होना मानने पर आत्मा के किसी प्रकार के विकार की सम्भावना का भय है। तब चाहे आत्म-दर्शन से मोक्ष होना कहा जाय, अथवा आत्मदर्शन-विवेकख्याति से अविवेक अदर्शन का अभाव होकर बन्ध का अभाव होना मोक्ष कहा जाय; इसमें कोई अन्तर नहीं है। यह केवल शब्दों की हेरा फेरी है, अर्थतत्त्व के उपपादन में कोई अन्तर नहीं आता। यह अपने-आपको बहलाना मात्र है कि इस पद्धति के द्वारा आत्मा को विकारी होने से और मोक्ष को अनित्य होने से बचा लिया गया है। आत्मा स्व-सामर्थ्य द्वारा ही विकार से बचा है, इसके लिए उसे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं। मोक्ष का स्वरूप जो कुछ है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता, वहाँ पहुँचकर स्वत: स्पष्ट

हो जाएगा।

जब यह माना जाता है कि अदर्शन के अभाव से बन्ध का अभाव होना मोक्ष है, उस समय निसर्गत: यह जिज्ञासा होती है, कि अदर्शन का स्वरूप क्या है? भाष्यकार ने इस विषय में आठ विकल्प प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं-

१. सत्त्व-रजस्-तमस् तीनों गुणों का अपने कार्यों में प्रवृत्त रहना। जिस आत्मा के लिए गुणों का सिलसिला चालू रहता है, उसके लिए यही अदर्शन का स्वरूप है।

२. आत्मा के लिए साक्षात्काररूप में अथवा प्रकृति-पुरुषविवेकज्ञान के रूप में चित्त का परिणत न होना अदर्शन है। पुरुष के लिए प्रकृति उस समय तक प्रवृत्त रहती है, जब तक भोग व प्रकृति-पुरुषभेदज्ञान दोनों सम्पन्न न हो जायें। यह अदर्शन की स्थिति है। दोनों प्रकार का दर्शन हो जाने पर प्रकृति अपने कार्य से उस पुरुष के लिए निवृत्त हो जाती है।

३. सांख्य-योग के सत्कार्यवादी होने से भविष्यत् में होनेवाले भोग और अपवर्ग का अपने कारण गुणों में अवस्थित रहना अदर्शन है। अभी गुण पुरुष के लिए उस प्रयोजन (भोग-अपवर्ग) को पूरा करने में लगे हैं, अभी वह पूरा हो नहीं पाया। यही स्थिति अदर्शन है।

४. चित्त के साथ अविवेक बैठा हुआ है। अविवेक-वासनाओं से अभिभूत चित्त का उसी रूप में परिणत होते रहना 'अदर्शन' है। उपयुक्त साधनों के सहयोग से जैसे ही चित्त प्रकृति-पुरुष भेदज्ञानात्मक विवेकरूप में परिणत होगा, अदर्शन का अभाव हो जाएगा, उससे बन्ध का अभाव होकर मोक्ष। इस प्रकार अविवेक वासनाओं के रूप में चित्त का परिणाम होता रहना ही 'अदर्शन' कहा जाता है।

५. गुणों की साम्य अवस्था के समाप्त होने पर गुणों का कार्योन्मुख होकर उसी दिशा में चालू रहना 'अदर्शन' है। आचार्यों ने बताया है-प्रधान (प्रकृति) साम्य और वैषम्य दोनों

अवस्थाओं में पौर्वापर्य से निरन्तर चालू रहा करता है। प्रधान का प्रधानत्व इसी में सुरक्षित है। प्रधान की यह स्थिति 'अदर्शन' का स्वरूप है।

६. प्रकृति अपने स्वरूप को पुरुष-निमित्त प्रकट करने के लिए प्रवृत्त हुआ करती है। अपने स्वरूप का दर्शन कराने की शक्ति उसमें स्वाभाविक है। यह दर्शनशक्ति ही अदर्शन का स्वरूप है। जब तक प्रकृति के दर्शन कराने के कार्य में यह शक्ति प्रवृत्त रहती है, यह 'अदर्शन' बना रहता है। इसलिए किन्हीं आचार्यों ने प्रकृति की दर्शनशक्ति को ही 'अदर्शन' माना है।

७. यद्यपि पुरुष चेतन होने से सब प्रकार की जानकारी (बोध) के लिए समर्थ होता है, परन्तु प्रकृति की प्रवृत्ति के पहले किसी प्रकार का बोध कर नहीं पाता। प्रकृति की प्रवृत्ति के अनन्तर देह, इन्द्रिय आदि से सम्बद्ध होकर आत्मा भोगादिज्ञान कर पाता है। इस प्रकार प्रधान की प्रवृत्ति से पहले अदर्शन (आत्मबोध न होना) पुरुषनिष्ठ रहता है तथा प्रकृति की प्रवृत्ति के अनन्तर प्रकृतिनिष्ठ। इस रूप में कतिपय आचार्यों के विचार से यह 'अदर्शन' उभयनिष्ठ (प्रकृति और पुरुष दोनों में यथावसर रहनेवाला) धर्म माना गया है।

८. कतिपय विचारकों का कहना है कि शब्दादि विषयों का दर्शन (ज्ञान होना) ही अदर्शन है। जब तक शब्द आदि विषयों का ज्ञान चलता रहता है, तब तक पुरुष के साथ प्रकृति का सम्पर्क अबाधित है। ऐसा सम्पर्क प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार होने से पहले तक बना रहता है, यही अदर्शन का स्वरूप है। भेद-साक्षात्कार वास्तविक 'दर्शन' है, जिसके उदय होने पर यह 'अदर्शन' तिरोहित हो जाता है।

शास्त्र में अदर्शन-विषयक इन विकल्पों को विभिन्न विचारकों ने उभारा है। स्व-शक्ति और स्वामि-शक्ति की उपलब्धि का हेतु संयोग (प्रकृति-पुरुष का संपर्क) जिस

कारण से उभार में आता है, उसका स्पष्ट निर्देश सूत्रकार ने अगले सूत्र (२४) में किया है। संयोग का कारण अविद्या अर्थात् अविवेक है। इस तथ्य को उक्त चौथे विकल्प में स्पष्ट किया है। अन्य समस्त विकल्पों में भी अस्पष्ट अथवा परम्परा से अविवेक के रूप में अदर्शन की स्थिति बराबर झाँकती हुई दिखाई दे रही है। इधर–उधर का घेरा वाग्विजृम्भणमात्र (केवल वाणी की कसरत) है। प्रस्तुत विषय में सांख्य-योग का यही सिद्धान्त है, जो चौथे विकल्प में कथित है॥२३॥ [७४]

शिष्य जिज्ञासा करता है, स्व और स्वामी अर्थात् प्रकृति एवं प्रकृतिजन्य जड़ बुद्धि के साथ प्रत्यक् चेतन-आत्मतत्त्व का संयोग किस कारण से हो जाता है? एक जड़ और दूसरा शुद्ध चेतन। आचार्य ने बताया—

तस्य हेतुरविद्या॥२४॥ [७५]

[**तस्य**] उसका [**हेतुः**] कारण [**अविद्या**] अविद्या है।

जड़–चेतन के उस संयोग अथवा सम्बन्ध का कारण अविद्या है। अविद्या का स्वरूप इसी पाद के पाँचवें सूत्र में बता दिया है। आत्मा और बुद्धि का यह संयोग ऐसा नहीं है, जैसा दो हाथों का अथवा किन्हीं भी दो वस्तुओं का परस्पर संयोग। यह एक असाधारण संयोग है, चेतन आत्मतत्त्व जड़ बुद्धि से सर्वथा भिन्न होते हुए भी वह इस भेद को देख नहीं पाता। यह 'न देखना' अर्थात् भेद का 'अदर्शन' ही वह संयोग या सम्बन्ध है। इसलिए अन्य वस्तुसंयोगों के समान न होने के कारण यह एक असाधारण संयोग है। इस संयोग अथवा अदर्शन का हेतु अविद्या है। अविद्या, विपर्ययज्ञान–मिथ्याज्ञान को कहते हैं। अनित्य में नित्य का ज्ञान, नित्य में अनित्य का ज्ञान, शुचि में अशुचि एवं अशुचि में शुचि का ज्ञान होना विपर्ययज्ञान व अविद्या है। यह स्थिति जब तक बनी रहती है, आत्मतत्त्व व बुद्धि का संयोग विद्यमान रहता है।

विचारणीय है, नित्य में अनित्य का ज्ञान होना आदि जो अविद्या का स्वरूप कहा गया, वह बुद्धि-पुरुष का संयोग होने पर हो पाता है और संयोग का हेतु उस विपर्ययज्ञान-अविद्या को बताया जा रहा है। यह तो अन्योन्याश्रय जैसा हो गया। बुद्धि-पुरुष संयोग के होने पर नित्य में अनित्यज्ञान होना आदि अविद्या होती है, और अविद्या के होने पर संयोग होता है। वस्तुत: यहाँ अन्योन्याश्रय की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विपर्ययज्ञान की वासना अनादि काल से चालू है। सञ्चित वासना आगे विपर्ययज्ञान को उत्पन्न करती है। पुरुष उन वासनाओं से प्रेरित भोगों में संलग्न रहता है। वे भोग कार्य आगे वासनाओं के जनक होते हैं। पिछली सञ्चित वासनाओं को उनके पहले भोगकार्यों में जन्म दिया, इस प्रकार यह अनादिक्रम चालू है। यह पुरुषख्याति पर्यन्त चलता रहता है। पुरुषख्याति का तात्पर्य है-प्रकृति-पुरुष के भेद का दर्शन, अथवा विवेकज्ञान।

यद्यपि आत्मतत्त्व और बुद्धि के भेद का साक्षात्कार उक्त संयोग के होने पर ही हो पाता है, इसलिए वह संयोग इस भेददर्शन में कारण रहता है तथापि इस साक्षात् भेददर्शन के अन्य निमित्त भी रहते हैं-प्रणव की विधिपूर्वक उपासना, यम-नियम आदि का निष्ठापूर्वक पालन एवं परम वैराग्य का जागृत रहना आदि। इन सब निमित्तों के सहयोग द्वारा भेद-दर्शन से 'अदर्शन' ध्वस्त हो जाता है। तब आत्म-बुद्धिसंयोग का अस्तित्व भी नहीं रहता। अदर्शन ही संयोग की आधारभित्ति है। दर्शन से अदर्शन के लुप्त हो जाने पर वह भित्ति अनायास धराशायी हो जाती है। चित्तवृत्ति के उद्भव की क्रमिक परम्परा सर्वथा दम तोड़ बैठती है। उसका पुन: क्रम नितान्त भी चालू नहीं रहता। इसी स्थिति को मोक्ष कहा जाता है॥२४॥ [७५]

प्रस्तुत शास्त्र को चतुर्व्यूह बताया गया है-हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय। गत प्रकरण में हेय और हेयहेतु का उपपादन

किया गया, अब क्रम प्राप्त हान का स्वरूप सूत्रकार ने बताया–

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्॥२५॥ [७६]

[तद्-अभावात्] उसके–अविद्या, अविवेक अथवा अदर्शन के–अभाव से **[संयोगाभावः]** संयोग का अभाव=न रहना **[हानम्]** हान है, **[तत्]** वह **[दृशेः]** चैतन्य स्वरूप आत्मा का **[कैवल्यम्]** कैवल्य–मोक्ष है।

प्रणव उपासना, परमवैराग्य आदि साधनों से चेतन आत्मा ने अपने चैतन्य स्वरूप का साक्षात् दर्शन–ज्ञान कर लिया है। अभी तक जो वह इस दृश्य के साथ लिप्त हो रहा था और अपने आपको वह उससे अलग नहीं समझ रहा था, वह मेल–संयोग अब इस 'दर्शन' (आत्मसाक्षात्कार) से टूट गया है। यह संयोग ही आत्मा का बन्धन था, वह बन्धन अब समाप्त हो चुका है। इसी का नाम 'हान' है। 'हान' का शाब्दिक अर्थ है–छूटना। आत्मा का बन्धन से छूटना। चेतन आत्मा जो अभी तक जड़ की जकड़–पकड़ में फँसा रहता है, वह अब उससे नितान्त अलिप्त हो गया है। वह दृशि–द्रष्टा, चितिशक्ति अब केवल स्वरूप में स्थित है, जिसका विवरण प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भिक तीसरे सूत्र में बता दिया गया है।[1]

दृश्य के साथ चितिशक्ति के उस अविवेकमूलक मेल ने उसे ऐसा भुला दिया था कि दृश्य से सर्वथा अलग होते हुए भी वह अपने आपको उससे अलग नहीं समझ पाता था। अब वह भूल जड़ से उखड़ चुकी है, तो वह दोनों का मेल भी नहीं रहा, क्योंकि वह तो इसी भूल (अविवेक) का फल था। अब चितिशक्ति के साथ दृश्य का कोई लेप–सम्पर्क नहीं रहा, त्रिगुण के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रहने से वह अपने केवल चेतनशुद्धस्वरूप में अवस्थित है। गुणों के साथ सम्पर्क

१. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

ही त्रिविध दु:ख का कारण था, उसके न रहने से दु:खों का अत्यन्त उपरम हो गया है। यही 'हान' का स्वरूप है-सब प्रकार के दु:खों से नितान्त छूट जाना। आचार्य पञ्चशिख ने अपने एक सन्दर्भ द्वारा इसी अर्थ का प्रतिपादन किया है-

''तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दु:ख-प्रतीकार:।''

अविवेक से उत्पन्न प्रकृति-पुरुषसंयोग दु:ख का कारण है। विवेक हो जाने पर जब दु:ख का हेतु यह संयोग छूट जाता है, तब सांसारिक त्रिविध दु:ख का आत्यन्तिक प्रतीकार हो जाता है। इसी अवस्था को आत्मा का मोक्ष कहा जाता है॥२५॥ [७६]

हान का निरूपण कर आचार्य ने उसकी प्राप्ति का उपाय बताया-

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय:॥२६॥ [७७]

[विवेकख्याति:] भेद का ज्ञान (प्रकृति पुरुष के **[अ-विप्लवा]** विप्लव-विघ्न, बाधा, अस्थिरता आदि दोषों से रहित, **[हानोपाय:]** हान का उपाय है।

संसार की वैषयिक हलचल से रहित विवेकख्याति उस 'हान' अवस्था की प्राप्ति का उपाय है।

आत्मा जब यह जान लेता है कि ये हेतु, इन्द्रिय आदि सब भौतिक व प्राकृतिक रचना है, जड़ एवं परिणामी पदार्थ हैं। आत्मतत्त्व चेतन व अपरिणामी है, देह, बुद्धि आदि से वह सर्वथा भिन्न है। ऐसा ज्ञान सद्गुरुओं के उपदेश, शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन तथा अनुमान प्रमाण से भी हो जाता है। यह केवल शाब्दिक ज्ञान होता है, साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं। ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान का उन्मूलन नहीं कर पाता, उस दशा में वह बराबर बना रहता है और पुष्पित फलित होकर दु:खों के अम्बार लगाया करता है। इसलिए ऐसा भेदज्ञान, दु:ख का उन्मूलन करनेवाली विवेकख्याति की कोटि में नहीं आता। इसलिए

बुद्धि-पुरुष के भेद का साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान विवेकख्याति है, जिसके होने पर बुद्धि-पुरुष के संयोगरूप मिथ्याज्ञान का उन्मूलन हो जाता है। यह प्रत्यक्ष समाधि-सिद्धि होने पर सात्त्विक बुद्धि के सहयोग द्वारा हो पाता है।

यह ध्यान रखना चाहिए, सम्प्रज्ञात समाधि की दशा प्राप्त हो जाने पर भी मिथ्याज्ञान का पूर्ण उन्मूलन नहीं होता, समाधि दशा न रहने पर उसके अंकुर उभरते रहते हैं। इसीलिए सूत्रकार ने विवेकख्याति का 'अ-विप्लवा' विशेषण दिया है। 'विप्लव' पद का शाब्दिक अर्थ-हलचल-होता है। सम्प्रज्ञात समाधि के अतिरिक्त काल में चित्तवृत्तियाँ विषयों के सान्निध्य से ऐसे विवेकी पुरुष को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। दुःखों का क्रम पुनः चालू हो जाने से दुःखों से छुटकारा नहीं हो पाता। इसलिए वही विवेकख्याति हान का उपाय है, जिसमें विप्लव के उभरने की कोई सम्भावना न रही हो। यह अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध होने पर प्राप्त होती है। उस दशा में व्युत्थान का अवसर आने पर भी चित्त का सात्त्विक प्रवाह निरन्तर चलता रहता है, उसमें अध्यात्मरहित अन्य वृत्तियों का प्रवेश नहीं हो पाता। यही विवेकख्याति हान का उपाय है। इससे मिथ्याज्ञान के अंकुरित होने की क्षमता पूर्णरूप से दग्ध हो जाती है। यही मोक्ष का मार्ग है, यही हान का वास्तविक उपाय है॥२६॥ [७७]

जिस योगी ने विवेकख्याति को प्राप्त कर लिया है, उसकी प्रज्ञा किस प्रकार की हो जाती है; यह आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा॥२७॥ [७८]

[तस्य] उस विवेकख्याति प्राप्त हुए योगी की **[सप्तधा]** सात प्रकार की **[प्रान्तभूमिः]** प्रकृष्टरूप से अन्तिम अवस्थावाली अर्थात् सर्वोत्कृष्ट **[प्रज्ञा]** प्रज्ञा-बुद्धि हो जाती है।

उस दशा में विवेकी योगी का चित्त अशुद्धि, आवरण, मल आदि से नितान्त रहित होकर शुद्ध सात्त्विक निर्मल हो जाता है। तब उसमें आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का उदय नहीं हो पाता। उस समय विवेकी योगी की बुद्धि में निम्ननिर्दिष्ट सात प्रकार के भावों का उदय हुआ करता है।

१. जितना गुणों का परिणाम 'दृश्य' व्यक्त जगत् है, वह सब परिणाम, ताप एवं संस्कार जनित दुःखों से तथा गुणवृत्तिविरोध से दुःखरूप है, इसलिए वह सब 'हेय' है, यह मैंने जान लिया है, अब कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहा (द्रष्टव्य, सूत्र-२।१५, १८-२०)। इस प्रज्ञा में सर्वोत्कृष्ट यही है कि अब कुछ जानना शेष नहीं रहा, यह यथार्थ भावना उदित हो चुकी है। इस दशा में ज्ञेय की शून्यता हो जाने के कारण यह प्रज्ञा की **'ज्ञेयशून्य अवस्था'** कही जाती है।

२. जो दूर करना था, वह दूर कर दिया है, दुःख को दूर करना अभीष्ट होता है, वह 'हेय' है। पर वह जिस हेतु-द्रष्टा और दृश्य के संयोग से होता है, उस 'हेय-हेतु' को दूर किये बिना 'हेय' का दूर होना संभव नहीं। अतः इस प्रान्तभूमि प्रज्ञा में यह स्थिति उदित होती है-जो दूर करना था-हेयहेतु, वह दूर कर दिया है, अब कुछ दूर करना शेष नहीं रहा। (द्रष्टव्य, सूत्र-२।१६, १७)। इस अवस्था में 'हेय' एवं 'हेयहेतु' का अभाव हो जाने से यह प्रज्ञा की **'हेयशून्य अवस्था'** कही जाती है। इसकी सर्वोत्कृष्टता पहली अवस्था के समान समझें। आगे भी इसी के अनुसार जानना चाहिए।

३. जो साक्षात् करना था, वह साक्षात् कर लिया है, वह आत्मा के कैवल्य की स्थिति है, उसके 'हान' पद से कहा गया है (सूत्र, २।२५)। उसका साक्षात्कार कर लेने पर अब कुछ अन्य साक्षात् करने योग्य शेष नहीं रहा। जो प्राप्त था, प्राप्त करने योग्य था, उसे प्राप्त कर लिया है, इस भावना का

उदय होने के कारण प्रज्ञा की यह **'प्राप्यप्राप्त अवस्था'** कही जाती है।

४. जो अन्तिम लक्ष्य था, उसे पूरा कर लिया है। हान का उपाय निर्दोष निर्बाध विवेकख्याति के अन्तिम लक्ष्य को पूरा कर लिया है, अब कोई अन्य लक्ष्य पूरा करने योग्य शेष नहीं रहा (सूत्र, २।२६)। इस भावना में अन्य किसी लक्ष्य के पूरा करने की इच्छा का नितान्त अभाव होने से प्रान्तभूमि प्रज्ञा की यह **'चिकीर्षाशून्य अवस्था'** कही जाती है।

इन चारों अवस्थाओं में किसी भी प्रकार के कार्य से अथवा क्रिया से छुटकारा पा जाने की भावना अभिव्यक्त होती है, इसलिए प्रान्तभूमि प्रज्ञा की इन चार अवस्थाओं को **'क्रिया-विमुक्ति'** अथवा **'कार्य-विमुक्ति'** नाम दिया जाता है।

५. चित्त ने अपना अधिकार-भोग अपवर्ग के निष्पन्न करने में सहयोग देना-पूरा कर लिया है, अब उसका कोई अधिकार शेष नहीं रहा। अपने अधिकार की स्थिति से छुटकारा पाने की भावना इस प्रज्ञा में उदित होती है, इसलिए इसे **'चित्तविमुक्ति प्रज्ञा'** कहा जाता है।

६. सर्ग प्रक्रिया के अनुसार न मालूम परिणाम के कितने स्तरों में से गुजरते हुए त्रिगुण चित्त के रूप में परिणत हुए अब प्रतिसर्ग काल में वे गुण उसी प्रतिलोम क्रम से अपने कारणों में लीनं होने के लिए ऐसे तीव्रता से उन्मुख हो रहे हैं, जैसे किसी पर्वत शिखर से लुढ़ककर पाषाणखण्ड मध्य में आश्रय न पाकर नीचे से नीचे सरकते चले जाते हैं। क्योंकि चित्त का अब कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। चित्त के प्रयोजक गुणों के अपने कारणों में लीन होने की उन्मुखता से प्रज्ञा की इस अवस्था को **'गुणलीनता'** नाम दिया जाता है।

७. यह प्रान्तभूमि प्रज्ञा की सातवीं अवस्था है, जिसमें गुणों के सम्बन्ध से नितान्त रहित पुरुष स्वरूपमात्र ज्योति, अमल, असंग, केवली है। केवल स्व-रूप में स्थित होने के

कारण इसको **'आत्मस्थिति'** नाम दिया जाता है।

इन सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को अनुभव करता हुआ विवेकी योगी कुशल, विदेह एवं जीवनमुक्त कहा जाता है। चित्त के अपने कारणों में लीन होने पर आत्मा देह त्यागकर पूर्ण मुक्त हो जाता है॥२७॥ [७८]

गत प्रसंग में शास्त्र के चतुर्व्यूह हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय का निरूपण किया गया है। अन्तिम व्यूह का स्वरूप है-विवेकख्याति। इस स्थिति को प्राप्त करने के साधनों का आचार्य सूत्रकार उपदेश करता है-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः॥२८॥ [७९]

[**योगाङ्गानुष्ठानात्**] योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से [**अशुद्धिक्षये**] अशुद्धि-मलों-दोषों का क्षय हो जाने पर [**ज्ञानदीप्तिः**] ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, [**आ-विवेकख्यातेः**] विवेकख्याति पर्यन्त।

योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण के मलों का नाश हो जाने पर ज्ञान-आत्मसाक्षात्कार का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।

अगले प्रकरणों में योग के आठ अङ्गों का विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया गया है। उनका अनुष्ठान करने से चित्त के अविद्या आदि क्लेशरूप मलों का नाश हो जाता है। जैसे-जैसे योग के अङ्गों पर योगी का आचरण बढ़ता जाता है; वैसे-वैसे चित्त के दोष क्षीण होते रहते हैं। इस प्रकार अनुष्ठान के उच्च स्तर की ओर बढ़ते जाने से उसी अनुपात में दोष धीरे-धीरे उखड़ते जाते हैं। दोषक्षय के अनुसार आत्मज्ञान की चमक भी उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित व स्पष्ट होती जाती है। अन्त में ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि अपने सर्वोच्च प्रकर्ष को प्राप्त कर लेती है। वह प्रकर्ष है-विवेकख्याति। प्रकृति-पुरुष

के भेद का साक्षात्कार ज्ञान। प्रकृति जड़ तत्त्व है, आत्म-तत्त्व चेतन अपरिणामी है, यह साक्षात् बोध आत्मा को हो जाता है।

यहाँ योग के अङ्गों का अनुष्ठान अशुद्धि-दोषों को दूर करने का कारण है, अर्थात् चित्त से दोषों का वियोग कर देता है। तात्पर्य हुआ-योगाङ्गानुष्ठान दोषों के वियोग का कारण है। पर वही अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है। आचार्यों ने कारण नौ प्रकार के बताये हैं-

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥

कारण निम्नलिखित रूप में नौ प्रकार का बताया जाता है-उत्पत्तिकारण, स्थितिकारण, अभिव्यक्तिकारण, विकारकारण, प्रत्ययकारण, प्राप्तिकारण, वियोगकारण, अन्यत्वकारण, धृतिकारण।

१. उत्पत्तिकारण-जैसे बीज वृक्ष का कारण है। मिट्टी घड़े का, इन्द्रिय आदि करण ज्ञान का कारण है।

२.स्थितिकारण-जैसे आहार शरीर की स्थिति का कारण है। पंख, आकाश में उड़ते पक्षी की स्थिति के कारण हैं। परस्पर आकर्षण लोकों की स्थिति का कारण है। पुरुषार्थ, बुद्धि [महत्तत्त्व-अन्तःकरण] की स्थिति का कारण है, क्योंकि जब तक पुरुष के भोग और अपवर्ग-अर्थ सिद्ध नहीं होते, तब तक बुद्धि आदि करण बने रहते हैं, अतः पुरुषार्थ-बुद्धि आदि करणों की स्थिति में कारण है।

३. अभिव्यक्तिकारण-जैसे प्रकाश रूप का तथा रूपवाले द्रव्यों की अभिव्यक्ति का कारण होता है। घर के अन्दर अन्धकार में पदार्थ रखे हैं, दिखाई नहीं देते, प्रकाश आ जाने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं, दीखने लगते हैं।

४. विकारकारण-जैसे अग्नि से पककर दाल या चावल गल जाता है, यहाँ अग्नि उनमें विकार का कारण है। खटाई से दूध में विकार होकर दही बन जाता है। यहाँ खटाई विकार-कारण है।

५. **प्रत्ययकारण**—जैसे एक लम्बी रेखा के रूप में ऊपर उठते हुए धुएँ को देखकर वहाँ आग के होने की प्रतीति हो जाती है। यहाँ धुआँ आग का प्रत्ययकारण है। ऐसे ही नदी का गन्दा पानी, तीव्र प्रवाह, बाढ़ ऊपर हुई वर्षा की प्रतीति का कारण होता है।

६. **प्राप्तिकारण**—जैसे धर्म सुखप्राप्ति का कारण है। अध्ययन विद्याप्राप्ति का कारण है। योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है।

७. **वियोगकारण**—जैसे कुल्हाड़ा लकड़ी के खण्डों के वियोग का कारण है। ऐसे ही योग के अंगों का अनुष्ठान चित्त से दोषों के वियोग का कारण है।

८. **अन्यत्वकारण**—वस्तु के एकरूप को अन्यरूप में परिवर्तित कर देना। जैसे सुनार कुण्डल को बदलकर कड़ा बना देता है। सुनार कड़े का अन्यत्वकारण है। सांख्य-योग में इसका एक और उदाहरण दिया जाता है, जैसे रूपवती यौवनपूर्ण स्त्री का देखना एक ही है, समान है, पर वह देखना पति के सुख का, सपत्नियों के दुःख का, अन्य पुरुष के मोह का तथा तत्त्वज्ञानी के औदासीन्य का कारण होता है। यहाँ एक ही देखना सुख, दुःख, मोह, उदासीनतारूप अन्य-अन्य का कारण हो जाता है।

९. **धृतिकारण**—शरीर इन्द्रियों के धारण करने [धृति-धारना] का कारण है तथा इन्द्रियाँ शरीर के धारने का। महाभूत शरीर के तथा परस्पर एक दूसरे के धारण में कारण होते हैं। मानव, पशु, पक्षी, ओषधि, वनस्पति आदि सभी पदार्थ जो अपने अस्तित्व में अन्य के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं, वे सब परस्पर में आधृत हैं। एक-दूसरे के धारण में सहयोग होने से ये सब आपस में धृति के कारण हैं।

योगाङ्गानुष्ठान में केवल दो कारणों का उपयोग होता है, प्राप्तिकारण और वियोगकारण। उदाहरण प्रसंग में सांख्य ६, ७

पर निर्देश कर दिया गया है॥२८॥ [७९]

प्रसंगप्राप्त योग के अङ्गों का आचार्य सूत्रकार अवधारण करता है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि॥२९॥ [८०]

[यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये **[अष्टौ]** आठ **[अङ्गानि]** अङ्ग हैं, योग के।

यम से लेकर समाधि तक ये आठ अङ्ग योग के माने जाते हैं। अगले प्रसंग में क्रमानुसार यम, नियम आदि के स्वरूप और इनके अनुष्ठान के विषय में निरूपण किया जायगा।

प्रारम्भिक सूत्रों में आचार्य ने चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य को मुख्य साधन बताया है। यम, नियम आदि का पालन भी श्रद्धा, वीर्य के बिना नहीं हो पाता। फिर उनको योग के अङ्गों में सूत्रकार ने यहाँ क्यों नहीं गिनाया?

वस्तुतः इन्हीं आठ अङ्गों में सभी अन्य भाव व साधनों का अन्तर्भाव हो जाता है। उन्हें अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं है। अभ्यास का ईश्वरप्रणिधान में, वैराग्य का अपरिग्रह एवं अस्तेय आदि में, वीर्य का ब्रह्मचर्य में अन्तर्भाव समझना चाहिए। श्रद्धा ऐसा भाव है, जिसके जागृत हुए बिना इस ओर व्यक्ति की प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती। इसलिए यह भाव प्रत्येक यम, नियम आदि के पालन में अन्तर्हित रहता है॥२९॥ [८०]

अब यथाक्रम आठ योगाङ्गों के स्वरूप आदि बताने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने सर्वप्रथम पठित यम का निर्देशक सूत्र कहा—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥ [८१]

[अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच **[यमाः]** 'यम' हैं।

इन पाँचों भावों के लिए योगशास्त्र में 'यम' नाम पारिभाषिक है। समस्त भारतीय साहित्य में, विशेषरूप से धर्मशास्त्र आदि में जहाँ योगविषयक अथवा व्यक्ति के उच्च चरित्र-निर्माण के विषय में प्रसंग आते हैं, वहाँ 'यम' पद का प्रयोग इन्हीं पाँच भावों को प्रस्तुत करता है। इस नामकरण का आधार संभवतः यह रहा हो कि इन भावनाओं पर व्यक्ति का पूर्ण आचरण व्यक्ति को योगमार्ग की दिशा में एक प्रकार से बाँध जैसा देता है। ऐसा व्यक्ति योगमार्ग पर आकर इधर-उधर झाँकने की फिर अपेक्षा नहीं रखता। अहिंसा आदि के विषय में यह भावना स्वयं 'यम' पद के धात्वर्थ के आधार पर अभिव्यक्त होती है। 'यम' पद 'यम उपरमे' धातु से 'घञ् प्रत्यय कर सिद्ध होता है। उपरम का अर्थ निवृत्ति है। बाह्य विषयों की ओर से अपने-आपको निवृत्त करना अर्थात् हटाये रखना। तात्पर्य है-अपने-आपको संयत करना, नियन्त्रित करना, अर्थात् आत्म-नियन्त्रण में पूर्ण निष्ठ होना। योगारूढ़ होने के लिए जिस सीढ़ी (श्रेणी) का सहारा लेता है, उसका यह पहला डण्डा है, बुनियादी सहारा, दृढ़भूत आधार। इसका पूर्णरूप से पालन करने पर योग के उच्चस्तर पर चढ़ने के लिए सीढ़ी मजबूत रहती है। यदि इसमें ढील रही, तो आगे के डण्डों पर पैर पहुँच ही न पायेगा, चढ़ना दूर रहा। इसी कारण इन अङ्गों को दो भागों में बाँट दिया है, बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग।

अंगों को मिलाकर अंगी बनता है, पर चालू प्रसंग में आठ अंग जिस अङ्गी (योग) के कहे गये हैं, वह स्वयं यहाँ अन्तिम (समाधि) अंग के रूप में गिन लिया गया है; समाधि ही तो योग है। यह ऐसा ही है, जैसे पाँच प्रकार के प्राणों में स्वयं प्राण

प्रथम प्रकार के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है। योग के आठ अङ्गों में अन्तिम तीन अन्तरंग और पहले पाँच बहिरंग माने जाते हैं। वस्तुतः आत्मा में योग–बीज बोने के लिए यम–नियम का पालन क्षेत्र का परिष्कार करना है। व्यक्ति जिन भावनाओं को बाह्य समाज के साथ अनिवार्यरूप से संपर्क में आकर पूरा कर पाता है, उनको 'यम' में संकलित किया गया है। जब बाह्य समाज के संपर्क के बिना केवल अपने व्यक्तित्व में किन्हीं कार्यों व भावनाओं को निभाया जाता है, उनका संकलन नियमों में किया गया है। अभी केवल यह खेत तैयार हो रहा है।

यम–नियमों का पूर्ण आस्था के साथ पालन करने पर जब तक 'आसन' सिद्ध नहीं होता, तब तक योग–क्रियाओं व साधनाओं का सुविधापूर्वक अनुष्ठान नहीं हो पाता। अभी यौगिक क्रियाओं का अपने वास्तविकरूप में प्रारम्भ नहीं हुआ। इसलिए तीसरा 'आसन' भी बाह्य अंग है। अभी यह साधना अधिकतर शरीर तक सीमित है, क्रियाओं के यथार्थ अनुष्ठान के लिए 'प्राण' का भी परिष्कार आवश्यक है, उसके लिए 'प्राणायाम' चौथा बाह्य अंग बताया गया। अब देह और प्राण दोनों परिष्कृत हैं। बीजवपन के लिए खेत तैयार है। 'प्रत्याहार' पाँचवाँ अंग दोनों ओर का सन्धिस्थान अथवा सन्धि–स्तर है। इसमें बाह्य इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों से संपर्क छोड़ बैठते हैं और चित्त का अनुकरण–जैसा कर रहे होते हैं। इसके आगे चित्त का उपयोग यथाशक्ति उन क्रियाओं के अनुष्ठान में होता है, जो क्रिया (चिन्तन, ईश्वराराधन आदि) समाधिप्राप्ति के लिए अनुष्ठान का प्रारम्भिक स्तर है। यह 'धारणा' और उसी का बढ़ा हुआ स्तर 'ध्यान' है। ये समाधि के आन्तर अङ्ग हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है, जो व्यक्ति यम, नियम का पूर्णरूप में पालन नहीं करते, उनका योगमार्ग पर चलने का प्रयास निष्फल होता है। वस्तुतः वह योगमार्ग नहीं, वह केवल आत्मवञ्चना व जगवञ्चना समझनी चाहिए। यमों में अहिंसा

आदि का स्वरूप आचार्यों ने इस प्रकार बताया है-

अहिंसा–मन, वाणी तथा कर्म से किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना। न केवल कष्ट न पहुँचाना, अपितु उसकी भावना भी चित्त में न आनी चाहिए। किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना का चित्त में उभरना हिंसा में परिगणित होता है। चित्त में इनका उभार कभी किसी प्रकार न होना चाहिए।

सत्य आदि शेष यम और सब नियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसा उन सबका मूल है, इन सबके बीच मुख्य अंग है। अपने अंशदान से अहिंसा को पूर्णरूप में सिद्ध करने के लिए ही इनका प्रतिपादन है। अहिंसा का शुद्ध-स्वच्छरूप सर्वांश में निखर सके, इसी प्रयोजन के लिए सत्य आदि यम के अंग तथा नियमों का उपादान किया गया है। यम-नियमों में अहिंसा के प्राधान्य को प्रकट करने के लिए आचार्यों ने पञ्चशिख के एक सन्दर्भ को उद्धृत किया है-

''स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते, तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।''

निश्चित ही वह, यह ब्रह्मप्राप्ति के पथ का पथिक व्यक्ति जैसे-जैसे बहुत से व्रत-नियमों को आचरण में लाने के लिए उत्सुक व प्रयत्नशील बना रहता है, वैसे-वैसे यह प्रमाद से किये गये हिंसा के कारणों से दूर हटता हुआ, उस शुद्ध स्वच्छ-निर्दोष अहिंसा को प्राप्त कर लेता है। आत्मा में अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर योगी का संसार में कोई विरोधी नहीं रहता। उस दशा में योगी सबको अनुकूलता में निर्बाध अपने पथ पर बढ़ता हुआ सफलता प्राप्त कर लेता है।

अहिंसा के अनन्तर सत्य आदि का साधारण विवरण इस प्रकार समझना चाहिए-

सत्य–मन, वाणी, कर्म से सत्य का आचरण करना। मन और वाणी समान हों, जो मन से विचारा, अनुमान किया या

जैसा सुना है, दूसरे के सामने अपने भाव प्रकट करने के लिए वाणी से ठीक वही बात कहना। उसमें छल, प्रपञ्च या धोखा देने की नितान्त भी भावना न होनी चाहिए। ऐसा भी न हो कि कही हुई बात का कोई अर्थ ही न निकले, सार्थक और सत्य कहा-जाना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कथन प्राणियों के भले के लिए हो, उससे किसी को हानि पहुँचने की संभावना न हो। यदि इस भावना से कहा हुआ सत्य, फिर भी किसी को हानि पहुँचानेवाला हो जाता है, तो वह सत्य नहीं समझना चाहिए, वह तो एक प्रकार से पाप ही होगा। पुण्यरूप सत्य वही है, जो किसी के लिए हानिकर न हो। जो तथाकथित सत्य अन्य को हानि पहुँचानेवाला है, उस पुण्याभास से-पुण्य का खोल लपेटे हुए कथन से-स्वयं उसका प्रवक्ता घोर कष्ट को प्राप्त होता है। ऐसे कथन आधुनिक न्यायालयों की छाया में प्रायः होते रहते हैं। इसलिए पूर्ण सत्य उसी को समझना चाहिए, जो ठीक परीक्षा करके कहा हुआ सब प्राणियों का हित करनेवाला हो।

अस्तेय—स्तेय चोरी को कहते हैं। उसका सर्वात्मना त्याग करना 'अस्तेय' है। जिस द्रव्य पर किसी दूसरे का अधिकार है, उसको अवैधानिकरूप से कभी ग्रहण न करे, न ग्रहण करने की इच्छा करे। अन्य के द्रव्य के प्रति लालसा भी नहीं होनी चाहिए। लालसा उभरने पर आगे अन्य दोष विकार उत्पन्न होकर स्तेय के रूप को धारण कर जाते हैं। इस सबका पूर्ण त्याग अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य—कामवासनाओं से सर्वात्मना बचते हुए प्रयत्नपूर्वक वीर्य की रक्षा करना। जितेन्द्रिय रहना, इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति को न उभरने देना, ब्रह्मचर्य है। यह पथ बड़ा दुर्गम होता है। पर पूर्ण संयमी इसको पार करने में सफल हो जाता है। जब तक देह है, तब तक कामनाओं का सर्वात्मना त्याग संभव नहीं। आहार आदि की कामना स्वाभाविक है, अपरित्याज्य

भी। मनु ने बताया-

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नैव कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

[२।२,४]

कामनाओं में आसक्त होना अच्छा नहीं, पर कामना-हीन होना भी संभव नहीं। वेदज्ञान की प्राप्ति और वैदिक कर्मानुष्ठान कामनामूलक हैं। बिना कामना के कोई कार्य संसार में देखा नहीं जाता। जो कुछ किया जाता है, वह कामना से प्रेरित होता है। फलतः शास्त्रीय कामना को परित्याज्य न समझना चाहिए। योग में प्रवृत्ति भी कामनामूलक है। इसलिए शास्त्र-विधान की उपेक्षा करके भौतिक विषयों में केवल इन्द्रियाराम के लिए कामना को परित्याज्य माना गया है। पूर्णरूप में वीर्यरक्षा के साथ अन्य इन्द्रियों को भी विषयों में निर्बाध प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य की सीमा में आता है।

अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है। अशन, पान, आच्छादन आदि आवश्यक कार्य हैं। इनमें भी विशेषता रहती है। जीवन-निर्वाह व देह-धारण साधारण भोजन आदि से चल जाता है और असाधारण भोजन, पान आदि से भी। यद्यपि भोजन आदि आवश्यक हैं, पर असाधारण भोजन आदि के लिए प्रयास करना 'परिग्रह' में आ जाता है, इसी प्रकार वस्त्र तथा गृह आदि के विषय में समझना चाहिए। खादी अथवा अन्य साधारण वस्त्र से शरीर ढांपा जा सकता है और कौशेय (रेशमी) बहुमूल्य वस्त्र से भी। यदि संन्यासी अथवा योगमार्ग का यात्री इसकी कामना करता है, या इसके लिए प्रयास करता है, तो वह परिग्रह में आ जाता है। वर्षा, शीत, ताप आदि से बचाव के लिए साधारण ओट से काम चल जाता है। संन्यासी व योगी के लिए भवनों का

निर्माण आवश्यक नहीं है। वह 'परिग्रह' हो जायगा। योगी के लिए अत्यन्त आवश्यक 'अपरिग्रह' इसीलिए है कि यदि वह इन्हीं के संग्रह में लगा रहा, तो उसका इन्हीं कार्यों में पूरा हो जायगा, योग-साधना के लिए फिर अवसर कहाँ?

अपरिग्रह का आंशिक प्रयोग सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से प्रत्येक सद्गृहस्थ व्यक्ति को भी करना चाहिए। इसके अभाव में उपभोग्य सामग्री का किन्हीं विशिष्ट स्थानों, परिवारों आदि में जमाव हो जाना संभव रहता है, जो साधारण जनता के लिए खुले व्यवहार में वस्तु की कमी को पैदा कर देता है, जिससे समाज में विशृंखलता फैलती है। इसलिए अपरिग्रह का आचरण जीवन की प्रत्येक दशा में अपरिहार्य है॥३०॥ [८१]

अहिंसा आदि यमों के महत्त्व के विषय में सूत्रकार ने बताया-

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥३१॥ [८२]

[जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्नाः] जाति, देश, काल और समय (संकेत, नियम, शपथ, पूर्वनिर्धारित व प्रतिज्ञात विचार) की सीमा से रहित **[सार्वभौमाः]** सब अवस्थाओं में अनुष्ठित किये जानेवाले (ये यम), **[महाव्रतम्]** महाव्रत माने गये हैं।

अहिंसा आदि यमों का पालन व्यक्ति को सदा सर्वथा यावज्जीवन करना चाहिए, परन्तु व्यक्ति अपने समाज, वातावरण तथा अन्य अनिवार्य बाधाओं से अभिभूत होकर पूर्णरूप से इनका पालन नहीं कर पाता; उसके जीवन में ये भावना जागृत रहे, इस विचार से सीमित रूप में भी इनका पालन करना व्यक्ति के लिए कुछ न कुछ श्रेयस्कर होता है। इसलिए आचार्यों के आदेशानुसार व्यक्ति अहिंसा आदि के पालन को जाति, देश, काल और शपथ व प्रतिज्ञा तथा सुनिर्धारित नियम

आदि से इन्हें सीमित कर लेता है, बाँध लेता है, अमुकरूप में हिंसा आदि करूँगा, अन्यथा नहीं।

अहिंसा में जातिबन्धन—जैसे मछेरा केवल मछली मारने में हिंसा को सीमित कर लेता है, मछली के सिवाय अन्य प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा। एक जाति के प्राणी में हिंसा सीमित है, अन्य जातियों में अहिंसा सीमित है। इसी प्रकार जो यह सीमा बना लेता है कि वह अपनी जाति में अथवा ब्राह्मण आदि किसी विशेष जाति में द्रोह, ईर्ष्या आदि रूप में हिंसा नहीं करेगा, यहाँ उस जाति में अहिंसा सीमित है, अन्यत्र जातियों (जातिविशेषों) में हिंसा सीमित रहती है।

अहिंसा में देश-सीमा—तीर्थस्थान में हिंसा नहीं करूँगा। वहाँ तीर्थस्थान देश-विशेष में अहिंसा सीमित है; अन्यत्र देश में हिंसा।

अहिंसा में काल-सीमा—अमावस्या, पूर्णमासी, एकादशी, चतुर्दशी अथवा किसी भी विशिष्ट पावन दिवस में हिंसा नहीं करूँगा। यहाँ ऐसे विशिष्टकाल में अहिंसा सीमित है, अन्यत्र काल में हिंसा।

अहिंसा में समय-सीमा—जब व्यक्ति ऐसी शपथ लेता है, या प्रतिज्ञापूर्वक अपना नियम बना लेता है—अमुक प्रयोजन के लिए हिंसा करूँगा; अन्यत्र नहीं करूँगा। यहाँ विशेष प्रयोजनविषयक प्रतिज्ञा व शपथ से हिंसा सीमित है, अन्यत्र अहिंसा। जैसे क्षत्रियों द्वारा केवल युद्ध के समय हिंसा करना, अन्यत्र न करना। परन्तु ऐसी प्रतिज्ञा व शपथ में कभी ढील न होनी चाहिए। अन्यथा सीमित अहिंसा में श्रेयस्करता की भावना व्यक्ति से नष्ट हो गई है, यह लक्षित हो जाता है।

इसी प्रकार 'सत्य' आदि शेष यमों के विषय में जाति आदि की सीमा को समझना चाहिए।

सत्य में समय-सीमा—यदि किसी मानव के अथवा गाय आदि पशु के प्राणों की रक्षा होती हो, तो सत्य न कहकर

असत्य-कथन से उसके प्राणों की रक्षा करूँगा। ऐसी स्थिति के अतिरिक्त कभी अन्यत्र असत्य नहीं बोलूँगा। यहाँ सत्य और असत्य विभिन्न जातिविशेषों में सीमित हैं।

सत्य में देश-सीमा—तीर्थस्थान, शिक्षाकेन्द्र, चिकित्सालय में सत्य बोलूँगा। कचहरी में सत्य नहीं बोलूँगा, कहते हैं-वहाँ असत्य बोले बिना कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। वहाँ सत्य बोलने की प्रतिज्ञा करके भी असत्य बोला जाता है। इन देश-विशेषों में 'सत्य' और 'असत्य' सीमित हैं।

सत्य में काल तथा समय-सीमा—अहिंसा में काल-सीमा तथा समय-सीमा के समान समझना चाहिए।

अस्तेय में जाति-सीमा—ब्राह्मण की चोरी नहीं करूँगा, अथवा निर्धन का द्रव्य नहीं चुराऊँगा। यह अस्तेय जाति-विशेष एवं वर्गविशेष से सीमित है।

अस्तेय में देश-सीमा—'सत्य में देश-सीमा' के समान समझ लेना चाहिए।

अस्तेय में काल-सीमा—क्षुधा से प्राणों पर आ बनने के सिवाय, और घोर दुर्भिक्ष आदि के अवसर के सिवाय अन्य काल में चोरी नहीं करूँगा। यहाँ 'अस्तेय' उक्तकाल से अन्यत्र कालों में सीमित है। उक्त कालों में स्तेय।

अस्तेय में समय-सीमा—'अहिंसा में समय-सीमा' के समान समझना चाहिए। वहाँ जैसे किसी विशेष प्रतिज्ञात प्रयोजन के लिए हिंसा कर लेना होता है, किसी विशेष अतिथि के आगमन पर, अथवा विशेष पर्व आदि के अवसर पर। ऐसे प्रयोजनों के अवसर को छोड़कर अन्यत्र 'अहिंसा' सीमित है। ऐसे ही किसी विशेष प्रतिज्ञात प्रयोजन की सिद्धि के लिए 'स्तेय' कर लेने पर अन्यत्र 'अस्तेय' सीमित रहता है।

ब्रह्मचर्य के विषय में जाति आदि की सीमाओं को लक्ष्य कर यह समझना चाहिए कि जो व्यक्ति नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके लिए नितान्त भी कोई छूट नहीं है।

उसके अवकीर्णी (वीर्यपतन) होने पर उसका पतित होना निश्चित है। उस अवसर पर उसके लिए क्या कर्त्तव्य है, यह धर्मशास्त्र बतलाता है[१]। प्रस्तुत सूत्र में इस विषय की छूट केवल गृहस्थ के लिए है। साधारणरूप से अहिंसा आदि के विषय में छूट भी गृहस्थ आदि सामान्यजन के लिए ही समझनी चाहिए। पर उनमें ऐसे अवसर कदाचित् उस व्यक्ति के सामने आ सकते हैं, जो गृहस्थ न रहकर अध्यात्म अथवा योग-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहा है। उसके लिए अहिंसा आदि में नगण्य-सी छूट संभव है, पर ब्रह्मचर्य के विषय में ऐसा नहीं। गृहस्थ भी केवल ऋतुगामी रहता हुआ आंशिकरूप में ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसी भावना से उसके विषय में यह छूट है। इसकी जाति आदि सीमा को अहिंसा के समान समझ लेना चाहिए।

'अपरिग्रह' की भी यही स्थिति है। संन्यासी, यती अथवा योगपथ का पथिक अपरिग्रह का पालन न करने पर पूर्णरूप से पथभ्रष्ट हो जाता है, यह निश्चित है। प्रस्तुत सूत्र निर्दिष्ट थोड़ी-बहुत छूट गृहस्थ के लिए ही समझनी चाहिए। इसमें जाति आदि की सीमा द्रव्यों व वस्तुओं के आधार पर होगी। अमुक जाति के द्रव्य का परिग्रह, अमुक अपेक्षित देश एवं किसी विशेषकाल में परिग्रह के सिवाय अन्य परिस्थितियों में परिग्रह न होगा। इस रूप में 'परिग्रह' और 'अपरिग्रह' जाति आदि से सीमित रहते हैं।

जब इन सीमाओं को लाँघकर पूर्णरूप से सर्वदा सर्वथा अहिंसा आदि का सब विषयों में पालन किया जाता है, तब ये 'महाव्रत' हैं। व्यक्ति को उन्नतस्तर पर पहुँचानेवाले व्रत-नियम। अन्य अवस्थाओं में जो छूट के अवसर हैं ये आंशिक व्रत हैं। इनका उतना पालन भी श्रेयस्कर होता है॥३१॥ [८२]

---

१. इस विषय की उपयुक्त जानकारी के लिए द्रष्टव्य है- ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य, ३।४।४०-४३॥

प्रथम योगाङ्ग 'यम' के निरूपण के अनन्तर क्रमप्राप्त द्वितीय अङ्ग 'नियम का आचार्य सूत्रकार ने निर्देश किया–

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥ [८३]

[शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, ये पाँच **[नियमाः]** नियम हैं।

शौच–पद का अर्थ शुद्धि अथवा पवित्रता है। इसके दो भेद हैं–बाह्य और आभ्यन्तर अथवा शारीरिक और मानसिक, जल आदि से शरीर, वस्त्र एवं अपने निवासस्थान आदि को शुद्ध-स्वच्छ रखना तथा शुद्ध आहार आदि का सेवन करना बाह्य शौच अथवा शुद्धि है। मन अर्थात् चित्त के मलों ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्सर्य, राग आदि का प्रक्षालन करना, इन मलों को चित्त में न उभरने देना, उभरने पर तत्काल उनको दूर करने, भुलाने का प्रयास करना आभ्यन्तर शौच है। योगी इसका पूरा ध्यान रखे।

सन्तोष–जीवन निर्वाह के लिए जो अपेक्षित साधन अपने पास हैं, उन्हीं में सन्तुष्ट रहना, उन्हीं से अपना कार्य चलाना। योगमार्ग का पथिक लोभ आदि से प्रेरित होकर आवश्यकता से अधिक वस्तु-संग्रह में कदापि प्रवृत्त न हो। इससे योगी अपने मार्ग को भूलकर दुनियादारी में फिर भटक जाता है।

तपः–तप भी दो प्रकार का समझना चाहिए। एक–दैहिक दूसरा–चैत्तिक। भूख-प्यास, सरदी-गरमी, जाना-ठहरना, कम बोलना-न बोलना आदि द्वन्द्वों का सहन करना, प्रसन्नतापूर्वक सहन करना पहला तप है। स्मरण तथा प्रतिरोध-भावना आदि से जो उद्वेग चित्त में उभरते हैं, उनको साहसपूर्वक दृढ़ता से सहन करना। उनके उभरने पर दुःखी न होना, उसे तपस्या समझकर सहन कर जाना, ऐसा करने से उद्वेग उभरने कम हो

जाते हैं। इस प्रकार की तपोभावना से धीरे-धीरे उनका उभरना बन्द हो जाता है।

स्वाध्याय—योगाभ्यास से अवसर मिलने पर अध्यात्म-सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन करना। दिन-रात लगातार चौबीस घण्टे प्रणवजप आदि योग-अभ्यास नहीं होपाता। योगाभ्यासी ऐसे अतिरिक्त समय को इधर-उधर व्यर्थ कार्यों में न गँवायें, उस समय में अध्यात्म-ग्रन्थों का अध्ययन करे। इससे योगाभ्यास के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है।

ईश्वरप्रणिधान—परमगुरु परमात्मा में अपने को और अपने कार्यों को अर्पण कर देना। इस प्रकार के अनुष्ठान व ऐसी भावना से भगवान् के प्रति भक्ति का उद्रेक जागृत होता है तथा बाह्य व्यवहार से चित्त हटा रहता है।

सोते, जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते, पीते प्रत्येक अवस्था में स्वस्थ योगी प्रभुस्मरण से वितर्कजाल को विच्छिन्न करता हुआ, संसार में जन्म लेने के अविद्या आदि कारणों का विनाश देखता हुआ, जीवन्मुक्त होकर देहत्याग के अनन्तर अमृतपद-मोक्ष का भागी हो जाता है। इसी भावना से सूत्रकार ने प्रणव-जप और उसके अर्थभावन का फल बतलाते हुए कहा है—इससे आत्मतत्त्व का साक्षात्कार तथा योगाभ्यास के अवसरों पर आनेवाले विघ्न-बाधा आदि का अभाव हो जाता है [१।२९]। ईश्वरप्रणिधान में यही बात है। परमात्मा में अपने आपको सर्वात्मना अर्पण कर प्रणवजप आदि का निरन्तर अनुष्ठान करता रहे॥३२॥ [८३]

यम-नियमों के पालन में विघ्न-बाधा आदि की सम्भावना हो सकती है, कहावत है—'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अच्छे कल्याणकारी कार्यों में प्रायः विघ्न आ जाया करते हैं। योगी के लिए ऐसी स्थिति आ जाने पर सूत्रकार ने बताया—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥३३॥ [८४]

[वितर्कबाधने] वितर्कों से बाधा उपस्थित होने पर **[प्रतिपक्षभावनम्]** प्रतिपक्ष का चिन्तन करे।

सूत्रकार ने अग्रिम [३४] सूत्र में स्वयं हिंसा आदि वितर्कों के प्रतिपक्षभावन का विवरण दिया है। वे सब यम-नियमों के विरुद्ध भावना व क्रिया हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, ब्रह्मचर्य का अभाव और परिग्रह-अपने लिए अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह में लग जाना, इसी प्रकार अशौच, असन्तोष, तप का न करना, स्वाध्याय का अभाव, ईश्वर से विमुख हो जाना आदि वितर्क हैं। मनुष्य दुर्बलताओं का पुतला है, कभी भी ऐसे वितर्क-भाव मस्तिष्क में उभर सकते हैं। योगाभ्यासी का किसी से कोई अपकार हो गया, ऐसी दशा में अनायास हिंसा आदि वितर्क उभर आते हैं, उनसे अभिभूत होकर अभ्यासी बदला लेने की सोचने लगता है। मैं इस अपकारी को मार डालूँगा। इसको हानि पहुँचाने या नीचा दिखाने के लिए झूठ भी बोलना पड़े, तो बोलूँगा। अवसर लगा, तो इसकी सम्पत्ति की चोरी करूँगा, इसकी भार्या, भगिनी, दुहिता आदि का धर्म भँग करूँगा। इसके धन-ऐश्वर्य-सम्पत्ति आदि का मैं स्वामी बन बैठूँगा। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि सब ढकोसला है, यह सब करते हुए मेरा इतना अपकार हो गया है, इन सबको छोड़-छाड़कर अब इसे देखूँगा, कहाँ जाता है; पूरा बदला लिए बिना नहीं मानूँगा।

इस प्रकार का उन्मार्ग पर ले जानेवाला प्रचण्ड वितर्कज्वर अभ्यासी को संतप्त कर जब बाधा पहुँचाने लगे, तब वह इस परिस्थिति के प्रतिपक्ष का चिन्तन करे-अरे! मैं फिर यह किस ओर बहने लगा हूँ, संसार की घोर दुःखाग्नि में संतप्त हो-होकर जब कहीं अन्यत्र आश्रय न था, अन्त में इस योग धर्म की शरण में आया हूँ। इस मार्ग पर पग धरते ही सब प्राणियों को अभय प्रदान करने का प्रण लिया है। अपने प्रण को-वचन को निभाना पुरुष का कर्त्तव्य है। वे हीन हीजड़े ही समझने चाहिएँ,

जो अपने वचन को तोड़ देते हैं। मुझे सावधान होना चाहिए। जिन हिंसा, झूठ, चोरी आदि वितर्कों को-दुर्भावनाओं को सर्वथा छोड़ देने का व्रत ले चुका हूँ, तो क्या फिर उनको ग्रहण करना, थूककर चाटने के समान नहीं है? यह तो कुत्तों का स्वभाव है, जो उलटी कर उसे चाट जाते हैं। धिक्कार है मुझे, जो पुरुष होकर कुत्तों का-सा व्यवहार करूँ। जिस गढ़े में से निकलकर इस स्वच्छ खुले मार्ग पर आया हूँ, फिर उस गढ़े में नहीं गिरूँगा। इन वितर्कों के परिणाम-दुःख और अज्ञान के कीचड़ में अब नहीं फँसूँगा। भले ही मेरा कोई अपकार कर जाय। ऐसा चिन्तन करने से अभ्यासी सँभलकर उन्मार्ग पर जाने से बच जाता है। वह अपकृत होने पर भी किसी अन्य को हानि पहुँचाना नहीं चाहता ॥३३॥ [८४]

प्रतिपक्षभावन किस प्रकार किया जाय? यह स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने वितर्कों का स्वरूप, उनके प्रकार, कारण, धर्म और फल को बताया—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥ [८५]

[**वितर्काः**] वितर्क हैं [**हिंसादयः**] हिंसा आदि (यम नियमों के विरोधी भाव), [**कृत-कारित-अनुमोदिताः**] स्वयं किये, अन्य से कराये हुए और अनुमोदन किये हुए, [**लोभक्रोध मोहपूर्वकाः**] लोभ-क्रोध और मोह जिनके कारण हैं, [**मृदु-मध्य-अधिमात्राः**] मृदु, मध्य और तीव्र, [**दुःखाज्ञानानन्तफलाः**] अनन्त दुःख और अज्ञान जिनका फल है, [**इति**] इस प्रकार [**प्रतिपक्षभावनम्**] प्रतिपक्ष का चिन्तन करे।

सूत्र की अवतरणिका के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में वितर्कों का स्वरूप, प्रकार, कारण, धर्म और फल ये पाँच बातें कही हैं। हिंसा आदि वितर्कों का स्वरूप है। कृत, कारित, अनुमोदित

ये प्रकार हैं। लोभ, क्रोध, मोह ये कारण हैं। मृदु, मध्य, अधिमात्र ये धर्म हैं। अनन्त दु:ख और अज्ञान (मोह) ये वितर्कों के फल हैं।

हिंसा—हिंसा आदि वितर्कों के सूत्रनिर्दिष्ट प्रकार आदि भेद को स्पष्ट करने के लिए प्रथम हिंसा वितर्क को लेते हैं। हिंसा के तीन प्रकार हैं—

१. कृत—जो स्वयं अपने हाथ से की गई हो।

२. कारित—जो किसी अन्य के द्वारा करवाई गई हो।

३. अनुमोदित—अन्य के द्वारा की गई हिंसा का अनुमोदन किया हो, हिंसक को समर्थन देना कि तुमने बहुत अच्छा किया।

हिंसा के कारण—इन तीनों प्रकारों में प्रत्येक प्रकार का कारण लोभ, क्रोध और मोह यथाक्रम होते हैं—

१. लोभ से कृत।

२. लोभ से कारित।

३. लोभ से अनुमोदित।

४. क्रोध से कृत।

५. क्रोध से कारित।

६. क्रोध से अनुमोदित।

७. मोह से कृत।

८. मोह से कारित।

९. मोह से अनुमोदित। ये हिंसा के नौ भेद हुए।

हिंसा के धर्म-भेद—मृदु, मध्य, अधिमात्र ये हिंसा के धर्म-भेद हैं। हिंसा में ये मृदुता आदि धर्म, लोभ-क्रोध आदि कारणों के मृदु, मध्य, तीव्र होने से होते हैं। पूर्वोक्त नौ विभागों में प्रत्येक के मृदु, मध्य, तीव्र होने से ९ × ३ = २७ भेद हिंसा के हो जाते हैं। मृदु, मध्य और अधिमात्र के रूप में पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं, [२७ × ३ = ८१]; इस प्रकार हिंसा के ८१ भेद हो जाते हैं।

इसी प्रकार इन भेदों के कहीं अलग-अलग रहने से और कहीं मिल जाने से तथा मिल जाने में भी विभिन्नरूप में अलग-अलग मेल से हिंसा के अनेक भेद हो जाते हैं।

अन्य वितर्कों असत्य, चोरी आदि में भी इसी प्रकार का विस्तार समझ लेना चाहिए। इसका तात्पर्य योगमार्गी को यह समझना है कि वितर्कों का जाल इतना अधिक जटिल एवं विस्तृत है कि इस ओर झुकने पर व्यक्ति का इस गहन गंभीर जंजाल सागर में कहीं पता नहीं लगता, अज्ञान और दुःख के अपार भार में इतना दब जाता है कि उससे उभरने का फिर कोई अवसर असम्भव-सा हो जाता है। इसलिए वितर्कों का गुबार उठते ही जब तक कि वह आँधी का रूप धारण नहीं कर लेता-योगमार्गी को सावधान होकर प्रतिपक्ष का गम्भीरता से चिन्तन करना चाहिए।

हिंसा आदि महापाप कर्म हैं, पाप का फल कभी अच्छा नहीं होता। इससे दुःख और अज्ञान बढ़ने के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता। इन वितर्कों में फँसकर अज्ञान एवं दुःख का कभी अन्त नहीं हो सकता। इन व्याधाओं से मुझे सर्वथा दूर रहना चाहिए। मेरा कल्याण इसी में है। यम-नियम आदि का पूर्णरूप से पालन करना मेरा परम कर्त्तव्य है। यही श्रेयस्कर मार्ग है। ऐसी प्रतिपक्षभावना से योगाभ्यासी वितर्कजाल में फँसने से सँभल जाता है, एवं उन्मार्ग पर जाने से बचा रहता है॥३४॥ [८५]

जब योगाभ्यासी को वितर्क अभिभूत नहीं कर पाते, प्रतिपक्ष के चिन्तन से विषयों के सान्निध्य में भी जब वितर्कजनित कोई विकार चित्त में नहीं उभरता तथा योगाभ्यासी निष्ठा के साथ यम-नियमों का पालन करता है; उसके फलस्वरूप विशेष सिद्धि के चिह्न योगी में दिखाई देने लगते हैं अहिंसा आदि के प्रतिष्ठित होने पर कौन से चिह्न योगी में उभर आते हैं, क्रमपूर्वक सूत्रकार ने बताया--

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥ [८६]

[अहिंसाप्रतिष्ठायाम्] अहिंसा में पूर्ण निष्ठा की स्थिति के परिपक्व हो जाने पर **[तत्सन्निधौ]** उस योगी के सामीप्य में **[वैरत्यागः]** शाश्वत विरोधी प्राणियों का वैर छूट जाता है; साधारण विरोध का तो कहना ही क्या!

जो योगी अहिंसा व्रत में प्रतिष्ठित हो गया है। मन, वचन, कर्म के द्वारा हिंसा की भावना चित्त में नितान्त भी नहीं उभरती, तब योगी को ऐसी सिद्धि प्राप्त हो जाती है कि उसके समीप आकर अहिंसानिष्ठ चित्त के प्रभाव से नित्यविरोधी प्राणी भी आपस के वैराग्य को छोड़ देते हैं। ऐसे योगियों के समीप साँप-नेवला इकट्ठे खेलते रहते हैं। सिंह और गाय एक साथ खाते-पीते व रहते हैं। ऐसे ऋषि-मुनि आश्रमों के अनेक वर्णन साहित्य में उपलब्ध होते हैं॥३५॥ [८६]

अहिंसा के अनन्तर सत्य की प्रतिष्ठा में फल बताया—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥३६॥ [८७]

[सत्यप्रतिष्ठायाम्] सत्य की प्रतिष्ठा में **[क्रियाफलाश्रय-त्वम्]** क्रिया के फल का आश्रय होना (वाणी में सिद्ध हो जाता है)।

जब निष्ठापूर्वक प्रत्येक स्थिति में योगी मन, वचन, कर्म से सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। असत्य की कोई भावना कभी किसी तरह नहीं उभर पाती, उस समय केवल सत्य उच्चारण करनेवाली योगी की वाणी अमोघ हो जाती है। उसका कहा कभी व्यर्थ या निष्फल नहीं होता। वह जो कुछ कह देता है, उसका वह कहना रूप क्रिया फल का आश्रय हो जाता है, वह कथन पूर्णरूप से सफल हो जाता है। तात्पर्य है, ऐसा सत्यप्रतिष्ठ योगी उसी बात को कहता है, जो यथार्थ में हो सकती है। उसकी वाणी से अन्यथा वचन कभी नहीं निकलता। पापी अधार्मिक मनुष्य को ऐसा योगी कह दे-तू धार्मिक हो जा, तो

वह धार्मिक हो जाता है। अधर्म के मार्ग को सर्वथा सर्वदा के लिए छोड़ देता है। ऐसे आशीर्वाद-वचनों से योगी अनेक व्यक्तियों के जीवनों को सन्मार्ग पर ला देते हैं॥३६॥ [८७]

क्रमप्राप्त अस्तेय का चिह्न सूत्रकार ने बताया—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥३७॥ [८८]

[अस्तेयप्रतिष्ठायाम्] अस्तेय-चोरी के परित्याग में दृढ़ स्थिति हो जाने पर **[सर्वरत्नोपस्थानम्]** समस्त रत्नों की उपस्थिति हो जाती है; सब उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं।

चोरी-परित्याग की भावना के सर्वात्मना परिपक्व हो जाने पर वस्तु के संग्रह एवं लोभ की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाता है। तब सब प्रकार की सम्पदाओं के अपने पास रहने या दूसरी जगह रहने में कोई भेद नहीं रहता। ऐसी दशा में यह ठीक कहा गया है, कि सब रत्न अपने ही पास उपस्थित हैं॥३७॥ [८८]

क्रमप्राप्त ब्रह्मचर्य का फल बताया—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥३८॥ [८९]

[ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्] ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर **[वीर्यलाभः]** वीर्य का-दैहिक आत्मिक शक्ति का अतुल लाभ होता है।

जीवन के सब प्रकार के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन सर्वोत्तम साधन है। ब्रह्मचर्य का सीधा अर्थ है-कामवासनाओं को चित्त में न उभरने देना। यह अनुष्ठान अत्यन्त कठिन होता है। जिसने इस घाटी को पार कर लिया, समझो, वह अज्ञानान्धकार के गड्ढे से बाहर निकल गया; दुःखों के जंजाल को उसने काट दिया, प्राप्तव्य को पा लिया। काम के उद्दाम वेग, उसके परिणाम और उसके नाश कर देने के विषय में भगवद्गीता के तृतीय अध्याय

के अन्तिम आठ श्लोक ध्यानपूर्वक द्रष्टव्य हैं।

अर्जुन पूछता है- वह कौन-सी चीज है, जिससे बलपूर्वक प्रेरित होकर, न चाहता हुआ भी व्यक्ति पाप कर बैठता है? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया-

यह 'काम' है। रजोगुण का प्रबल वेग होने पर यही काम 'क्रोध' बन जाता है। कामान्ध व्यक्ति की कामवासना पूरी होने में बाधा आ जाने पर रजोगुण की प्रबलता से वही काम क्रोध के रूप में परिणत हो जाता है। वह सब सद्गुणों को खा जानेवाला महापापी है। इसको सबसे बड़ा वैरी समझो। इसने सब प्राणियों को दबोचा हुआ है। ज्ञानपथ के पथिक ज्ञानी व्यक्ति के नित्यवैरी, कभी तृप्त न होनेवाले इस उद्दीप्त कामानल ने ज्ञान के प्रकाश को ढका हुआ है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके आश्रय हैं। इन्हीं के सहारे ज्ञान-प्रकाश को न उभरने देकर मानव आत्मा को मोहग्रस्त बनाये रखता है। इसलिए पहले इन्द्रियों को वश में करो, फिर ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करने वाले इस महापापी प्रबल शत्रु को मार डालो। कठिनता से वश में आनेवाले इस घोर शत्रु का मार डालना, ज्ञान के मार्ग को निर्बाध निष्कण्टक बनाने के लिए सर्वोत्तम उपाय है।

यह काम का समूल उन्मूलन निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य से सम्भव है। योगाभ्यासी के सामने इस उद्दाम तरंगोंवाले कामसागर को पार करने के लिए एकमात्र ब्रह्मचर्य ही सुदृढ़ नौका है। ब्रह्मचर्य के पालन से मानव में वह शक्ति आ जाती है, जिसकी प्रबलता से काम निष्काम हो जाता है ॥३८॥ [८९]

आचार्य सूत्रकार ने अपरिग्रह का फल बताया-

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः ॥३९॥ [९०]

[अपरिग्रहस्थैर्ये] अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर **[जन्मकथन्ता संबोधः]** जन्मविषयक-कैसे होने का यथार्थ बोध-ज्ञान हो जाता है।

आवश्यकता से अधिक धन-सम्पत्ति का इकट्ठा करना 'परिग्रह' कहाता है। जब धन-सम्पदा इकट्ठी होती है, तो स्वभावत: उसका भोग भी किया जाता है। फिर विषयों में इन्द्रियाँ चञ्चल हो उठती हैं।[१] यह स्थिति योगाभ्यासी के मार्ग में अत्यन्त बाधक है। इसी भावना से किसी कवि ने कहा है-

अर्थानामर्जने दु:खमर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दु:खं व्यये दु:खं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

धन-सम्पदा के अर्जन करने (कमाने) में दु:ख; कमाई हुई सम्पत्ति की रक्षा करने में दु:ख; आय में दु:ख, व्यय में दु:ख। पग-पग पर कष्ट देनेवाले ऐसे अर्थों को धिक्कार है। अनावश्यक अर्थसञ्चय की प्रवृत्ति का न होना 'अपरिग्रह' है। यह केवल अर्थविषयक नहीं, अपितु देहादिविषयक भी अपरिग्रह होना चाहिए। देह का सजाना-सँवारना देहाविषयक परिग्रह है। देह के वास्तविक स्वास्थ्य के लिए जो दिनचर्या अपेक्षित होती है, उसकी तो व्यक्ति उपेक्षा कर देता है, और ऊपर से अपने आपको मिथ्या रूप में चिकना-चुपड़ा दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति आन्तर शक्ति को क्षीण कर देती है। अत: इस विषय में अपरिग्रह का पालन आवश्यक है। देह के स्वच्छ, स्वस्थ, नीरोग रखने पर दैहिक शक्ति के अतिरिक्त यह स्थिति आन्तर शक्ति की वृद्धि में भी वाञ्छनीय सहयोग देती है।

इस प्रकार अपरिग्रह के दृढ़तापूर्वक स्थिर हो जाने पर योगाभ्यासी अपने पूर्व जन्म, चालू जन्म तथा आगे होने वाले जन्म के कारणों को यथायथ जान लेता है। मैं पूर्वजन्म में क्या था? किन कारणों से था? चालू जन्म कैसा हुआ? किन कारणों से हुआ? आगे हम क्या होंगे? किन कारणों से होंगे? इस प्रकार अपरिग्रह की सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी पहले आगे और मध्य

---

१. अन्यत्र कहा है-'भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागा: कौशलानि चेन्द्रियाणाम्। भोगों में प्रवृत्ति से हिंसा की भावना भी भड़कती है। जैसे कहा-'नानुपहत्य भूतानि उपभोग: सम्भवति।' अत: योगी इनका त्याग करे।

के अपने जन्मों के विषय में जिज्ञासा होने पर यथार्थ रूप से उन स्थितियों को जान लेता है।

अहिंसा आदि चार यमों के निष्ठापूर्वक आचरण से अन्तिम स्तर की प्राप्ति पर जिन फलों के लाभ का निर्देश सूत्रकार ने किया है, उनका परस्पर सामञ्जस्य प्रयोज्यप्रयोजकभाव के रूप में स्पष्ट ज्ञात होता है, परन्तु इस पञ्चम अपरिग्रह की स्थिरता में जिस फल का निर्देश किया गया है, उसका अपरिग्रह के साथ प्रयोज्य-प्रयोजकभाव स्पष्टतः दिखाई नहीं देता। अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह न करने का जन्मकथा से क्या सम्बन्ध है? यह जिज्ञासा स्वभावतः उभरती है।

विचारने पर ज्ञात होता है, व्यक्ति जीवन की सुख-सुविधा के लिए 'परिग्रह' करने का प्रयास करता है। जब वह सोचता है जीवन क्या है? उसका ध्यान जन्म की ओर जाता है। यह नवीन देह आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध रूप जन्म चालू जीवन के साथ ही जुड़ा हो, ऐसा नहीं है, ऐसे जन्म पहले भी होते रहे, आगे भी होने की सम्भावना है। यह जन्म क्या है? कैसा है? किन कारणों से होता है? यह सब चिन्तन परिग्रह की भावना को शिथिल कर अपरिग्रह की ओर अभ्यासी को प्रवृत्त कर देता है। इस प्रकार अपरिग्रह के स्थिर व प्रतिष्ठित होने पर जन्म-सम्बन्धी परिस्थितियों का सम्बोध-साक्षात्कार हो जाता है, यह सामञ्जस्यपूर्ण है।

अहिंसा आदि यमों के प्रतिष्ठित होने पर योगी को प्राप्त होने वाली सिद्धियों का यह निरूपण किया गया॥३९॥ [९०]

शिष्य जिज्ञासा करता है, यमों के समान क्या नियमों के पालन करने से भी कोई सिद्धियाँ या विशेषतायें योगी में उभरती हैं? सूत्रकार आचार्य ने बताया—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥४०॥ [९१]

[शौचात्] शौच (का पालन करने) से **[स्वाङ्गजुगुप्सा]**

अपने अङ्गों से उपेक्षा तथा **[परैः]** अन्य अयोगी व्यक्तियों के साथ **[असंसर्गः]** नामिलवर्त्तन, असहयोग (संसर्ग का अभाव) होता है।

योगाभ्यासी नित्यक्रियाओं तथा अन्य विशिष्ट यौगिक क्रियाओं (नेती, धोती आदि) द्वारा शोधन करते रहने पर भी जब शरीर और अङ्गों की रचना के विषय में चिन्तन करता है, तो वह शरीर को अशुद्ध ही पाता है, तब शरीर के प्रति उसमें अनासक्ति व उपेक्षा की भावना जागृत हो जाती है। देह से लगाव नहीं रहता। ऐसी दशा में वह अन्य व्यक्तियों के साथ भी संसर्ग नहीं रखना चाहता। वह ऐसी अशुद्धियों से दूर रहना उपयोगी समझता है। शुद्ध व सबसे अलग रहता हुआ वह केवली बनने के योग्य हो जाता है। संसर्गजनित अनेक प्रकार के दोष, उपद्रव व बाधाओं से दूर रहता हुआ निरन्तर योगाभ्यास में संलग्न रहने की सुविधा प्राप्त कर लेता है॥४०॥ [९१]

शौच का अनुष्ठान करने से आन्तरशुद्धि भी हो जाती है, सूत्रकार ने बताया—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥४१॥ [९२]

[सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-ऐकाग्रय-इन्द्रियजय-आत्म-दर्शन-योग्यत्वानि] सत्त्व अन्तःकरण चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना, फिर आत्मदर्शन की योग्यता, प्राप्त होती है **[च]** तथा।

कायिक शुद्धि की पूर्णता से चित्त की शुद्धि में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होता है, जब अन्यों के साथ असंसर्ग से दैहिक शुद्धि का लाभ कर योगाभ्यासी चित्त शुद्धि की ओर अग्रसर होता है। अन्यों के साथ संसर्ग के अभाव में राग, द्वेष, क्रोध, असूया आदि चित्त-मलों को उभरने का अवसर समाप्त हो जाता है। अभ्यास से इस दिशा में दृढ़ता आ जाने पर राग आदि

मल चित्त से धुल जाते हैं, उभर नहीं पाते, तब चित्त–अन्तःकरण स्वच्छ निर्मल हो जाता है। इससे प्रणवादि जप एवं ध्यान में एकाग्रता आ जाती है। इस कारण विषयों में इधर–उधर विचरण करने के लिए उत्सुक इन्द्रियाँ भी शिथिल हो जाती हैं। यह इन्द्रिय–विजय अभ्यासी को इस योग्य बना देता है, अर्थात् योगी तब ऐसे स्तर पर अपने आपको पहुँचा हुआ पाता है; जहाँ आत्मदर्शन की सुविधा सुलभ हो जाती है। इन्द्रियाँ व्यक्ति को विषयों की ओर आकृष्ट होने में सहारा देती हैं। जब वे वश में हो गईं; चित्त निर्मल हो गया; तब आत्मसाक्षात्कार अधिक दूर नहीं रहता ॥४१॥ [९२]

सन्तोष नियम के अनुष्ठान व स्थैर्य से क्या लाभ होता है? सूत्रकार ने बताया–

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥४२॥ [९३]

[सन्तोषात्] सन्तोष से **[अनुत्तम–सुखलाभः]** सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।

सूत्र के 'अनुत्तम' पद का अर्थ है–जिससे उत्तम और कोई न हो, अर्थात् सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ सुख। सन्तोष की सिद्धि हो जाने पर व्यक्ति ऐसे सुख का अनुभव करता है।

समस्त दुःख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णामूलक होते हैं। अपनी अपेक्षित एवं मर्यादित उपलब्धि में पूर्णरूप से सन्तुष्ट रहनेवाले व्यक्ति के चित्त–क्षेत्र में तृष्णा–बीज अङ्कुरित नहीं हो पाते। ऐसे एक प्रसंग में ययाति ने अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु को कहा था–

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्य्यति जीर्य्यताम्।
तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्य्यते॥

दुर्मति व्यक्तियों के द्वारा जो छोड़ी नहीं जा सकती; व्यक्ति के बूढ़ा हो जाने पर भी जिस पर बुढ़ापा नहीं आता; प्रत्युत अग्नि में घी डाल देने पर अग्नि के समान और बढ़ती

ही जाती है; ऐसी उस तृष्णा को छोड़ता हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति अनुपम सुख से भर जाता है।

वस्तुतः संसार में कामनाओं की तृप्ति से जो सुख प्राप्त होता है और जो स्वर्ग आदि का दिव्य सुख सुना जाता है; वह सब तृष्णाक्षय से प्राप्त होने वाले सुख का अंशमात्र भी नहीं होता। सन्तोष-नियम की स्थिरता व दृढ़ता होने पर तृष्णा के भँवर में न फँसकर योगाभ्यासी आत्मज्ञान के लिए निर्बाध प्रयत्नशील बना रहता है॥४२॥ [९३]

क्रमप्राप्त तप नियम की स्थिरता से प्राप्त होने वाला फल आचार्य सूत्रकार ने बताया—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥४३॥ [९४]

[कायेन्द्रियसिद्धिः] शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है **[अशुद्धिक्षयात्]** अशुद्धि का क्षय होने से **[तपसः]** तप के अनुष्ठान द्वारा।

तप का अनुष्ठान करने से शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय हो जाता है। तब शरीर और इन्द्रियाँ योगाभ्यास के लिए अनुकूल हो जाते हैं। इसी अनुकूलता को सूत्र के प्रथम पद से कहा गया है। इसका मूल तप है। तप के द्वारा शरीर और इन्द्रियाँ इस प्रकार सध जाते हैं कि उनके द्वारा योगाभ्यास में किसी प्रकार की बाधा के उपस्थित होने की आशंका नहीं रहती।

यदि शरीर और इन्द्रियाँ में कोई ऐसा रोग है, जिससे योग में शरीरादि की अनुकूलता न रहे, तो उसकी चिकित्सा चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति से करानी चाहिए। यद्यपि अनेक रोग विशिष्ट यौगिक क्रियाओं के अनुष्ठान से दूर किये जा सकते हैं और किये जाते हैं; पर वह चिकित्साशास्त्र का विषय है, योग का नहीं। योगानुष्ठान के लिए स्वस्थ, नीरोग, स्वच्छ शरीर का होना आवश्यक है। इसको अधिकाधिक समय तक वैसा ही नीरोग

बनाये रखने में संयत आहार विहार के साथ विधिपूर्वक निरन्तर यथासमय प्राणायाम तथा मृदु व्यायाम महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं। तपोऽनुष्ठान से शरीर हलका स्फूर्त्तिमान, निरालस बना रहता है तथा योगाभ्यास में अधिक समय तक आसीन रहने के लिए अनुकूल रहता है। तप की अधिक दृढ़ता व स्थिरता बढ़ने पर शरीर में अणिमा आदि सिद्धियों के प्रादुर्भाव के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। यह दशा योगी को आत्मसाक्षात्कार के अन्तिम लक्ष्य की ओर प्रबलता के साथ प्रोत्साहित करती है।

यही दशा इन्द्रियों के विषय में समझनी चाहिए। स्वस्थ नीरोग इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय इसी रूप में है कि वे अब अपेक्षित विषयों की ओर आकृष्ट नहीं रहतीं। स्वयम्भू ने इनको बाहर की ओर बाह्य विषयों का ग्रहण करने के लिए बना, पर अमृत का अभिलाषी धीर-वीर योगी पुरुष अब इनको उन क्षणिक छली विषयों की ओर से संयत कर अन्तरात्मा की ओर देखने लगा है। जब योगी की यह स्थिति और अधिक उन्नत दिशा की ओर बढ़ती है, तब इन्द्रियाँ की दर्शनशक्ति संकुचित न रहकर, विस्तार की ओर बढ़ने लगती है। इन्द्रियों में दिव्यशक्ति उभर आती है। व्यवहित एवं दूर का दृश्य भी दिखाई दे जाता है। इन्द्रियाँ अपने विषयग्रहण में तीव्र हो उठती हैं। उनके लिए व्यवधान या दूर आदि की कोई बाधा नहीं रहती।

जिस तप के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होकर शरीर और इन्द्रियों में दिव्यसिद्धियों के उभरने की सम्भावना रहती है, वह तप है क्या? इसी पाद के बत्तीसवें सूत्र की व्याख्या में तप का जो विवरण दिया गया है, उसके अतिरिक्त भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के चौदह से उन्नीसवें श्लोक तक छह श्लोक द्रष्टव्य हैं। वहाँ शरीर और इन्द्रियों के तप का संकेतरूप में उत्तम निर्देशन किया गया है कायिक, वाचिक और मानसरूप में तप का विवरण वहाँ इस प्रकार है—

कायिक—देवता, ब्राह्मण वेदज्ञाता, गुरु एवं माता-पिता आदि मान्य वृद्धजन तथा विद्वानों की पूजा करना, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का एकनिष्ठा से पालन करना यह सब शरीर अथवा कायिक तप कहा जाता है।

वाचिक—अन्य के अथवा अपने अन्तःकरण में बेचैनी (उद्वेग) पैदा न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकारी सम्भाषण को तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन तथा अपने कर्त्तव्य-कर्मों के निरन्तर अनुष्ठान को वाचिक तप में गणना किया जाता है। 'स्वाध्यायाभ्यासन' पद से स्व आत्मसम्बन्धी साहित्य का अध्ययन जहाँ अपेक्षित है, वहाँ अध्ययन के अनुसार आचरण भी इसके अन्तर्गत आता है। ऐसा न हो कि अध्ययन तो वैसे ग्रन्थों का करे, पर आचरण उससे विपरीत करे, तो वह अध्ययन व्यर्थ होता है, वह 'तप' की श्रेणी में नहीं आयेगा। अध्ययन के अनुरूप आचरण होने पर ही वह अध्ययन 'तप' की कोटि में आता है।

मानसिक—मन को प्रसन्न रखना, कैसी भी स्थिति आने पर अन्तःकरण में क्षोभ या विषाद को न आने देना, सौम्य शान्त सरलभाव से सद्व्यवहार करना, अधिक न बोलना, मुनियों के समान मन को संयत रखते हुए कार्य करना, अन्तःकरण को दुर्व्यापार में न जाने देना तथा सब उचित उपयुक्त कार्य शुद्ध भावना से करना, यह सब 'मानस तप' कहा जाता है।

योगाभ्यासी अथवा साधारण जन भी जब ऐसे तप का अनुष्ठान परमश्रद्धा के साथ करता हुआ उसके फल की अभिलाषा नहीं रखता, तब वह तप सात्त्विक होता है। ऐसा तप शरीर, वाणी और मन की दिव्य शक्तियों को उद्दीप्त करता है ॥४३॥ [९४]

क्रमप्राप्त स्वाध्याय का फल सूत्रकार ने बताया—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥४४॥ [९५]

[स्वाध्यायात्] स्वाध्याय से **[इष्टदेवतासम्प्रयोगः]** अभिलषित देवता–दिव्य आत्माओं का सम्प्रयोग–सम्बन्ध, मेल–साक्षात्कार होता है।

श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय के अनुष्ठान से अनेक बार स्वाध्यायी के मस्तिष्क में आकस्मिकरूप से अभिलषित अर्थ प्रतिभात हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई दिव्य आत्मा आकर इस अर्थ को बता गया है। ऐसे स्वाध्यायशील योगी के मस्तिष्क अथवा भावनाओं में देव, ऋषि एवं सिद्ध आत्मा दर्शन देते जाने जाते हैं। योगी इनसे अचानक सन्मार्ग एवं सम्प्रवृत्तियों की दिशा को जानने समझने में सफल होता है। इसी स्थिति को सूत्र के उक्त पदों से अभिव्यक्त किया गया है॥४४॥ [९५]

क्रमप्राप्त ईश्वरप्रणिधान का फल आचार्य सूत्रकार ने बताया–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥४५॥ [९६]

[समाधिसिद्धिः] समाधि की सिद्धि हो जाती है **[ईश्वर–प्रणिधानात्]** ईश्वरप्रणिधान से।

अपने आपको और अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों को सर्वात्मना ईश्वर के लिए अर्पण कर देना 'ईश्वरप्रणिधान' पद का तात्पर्य है। ऐसा करने से योगी आपे को महत्त्व न देकर प्रभु की उपासना में संलग्न रहता तथा अपने आपको प्रभु में अन्तर्हित समझता हुआ अतिशय सन्तोष को प्राप्त करता है। अर्पण की भावना से परिनिष्ठित रहते हुए योगी अतिशय निःशंक एवं सब प्रकार की बाधाओं से अपने आपको सर्वथा सुरक्षित अनुभव करता है। उसका चित्त पूर्णरूप से समाहित सदा प्रसाद युक्त बना रहता है। यह स्थिति परमलक्ष्य आत्म–साक्षात्काररूप समाधि को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त अनुकूल रहती है। जो कुछ अपना अभिलषित सत्य है, चाहे वे देशान्तर, देहान्तर व कालान्तर में होने वाला हो, योगी उसे जान लेता है।

जो पदार्थ जैसा है, उसको उसी यथार्थरूप में जान लेने की क्षमता से युक्त-योगी की प्रज्ञा तब उद्दीप्त हो उठती है। यह ईश्वरप्रणिधान में परिनिष्ठा का फल है ॥४५॥ [९६]

यहाँ तक यम, नियम, और उनके अनुष्ठान से प्राप्त होनेवाली सिद्धियों अथवा उनके फलों का निरूपण किया गया। अब योग के तीसरे अङ्ग क्रमप्राप्त 'आसन' का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

स्थिरसुखमासनम् ॥४६॥ [९७]

[स्थिरसुखम्] जिसके स्थिर होने पर सुख का अनुभव हो, यह **[आसनम्]** आसन कहाता है।

पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, दण्डासन, स्वस्तिकासन आदि अनेक प्रकार के आसनों का विवरण हठयोग की पुस्तिकाओं में दिया हुआ रहता है। आसनों की संख्या पर्याप्त है; पर प्रत्येक अभ्यासी प्रत्येक आसन का अभ्यास करे, यह आवश्यक नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अलग-अलग आसन अनुकूल हो सकते हैं। जिस व्यक्ति को जो आसन अनुकूल हो, वह उसी का अभ्यास करता हुआ उसमें स्थिरता प्राप्त करे। स्थिरता का तात्पर्य है-देह में कहीं भी चंचलता का न उभरना। सुख का तात्पर्य है-अभिमत आसन से बैठे हुए होने पर देह के किसी अंग में व्यथा का अनुभव न होना। यदि किसी आसन से बैठने पर कष्ट का अनुभव होता है, तो समझना चाहिए-उसमें अभी स्थिरता नहीं आ सकी। क्योंकि कष्ट होने पर शरीर में तत्काल चंचलता (हिलना-जुलना आदि) उभर आती है। यह स्थिति जप, उपासना आदि अभ्यास में बाधक होती है। इसीलिए कहा गया-जिसके स्थिर होने पर सुख का अनुभव हो, कहीं कोई व्यथा न हो, शरीर के निश्चल रहने में अनुकूलता बनी रहे, वही मुख्य आसन है।

अधिक समय तक एक आसन में बैठने के लिए योगी

को अभ्यास करना पड़ता है। कम-से-कम घण्टा-सवा घण्टा एक आसन से बैठने का अभ्यास अवश्य होना चाहिए। जल्दी-जल्दी आसन बदलते रहने से शरीर के समान चित्त भी चंचल बना रहता है। इससे जप-उपासना आदि में बाधा पड़ती है। स्वस्तिक और भद्र ऐसे आसन हैं, जिनमें सुविधापूर्वक अधिक-से-अधिक समय तक बैठा जा सकता है। साधारणतया तीन-चार घण्टे तक आसन बदल लिया जाय, तो बुरा नहीं। एक बार कम-से-कम चार घण्टे तक बैठकर निश्चल जपादि अनुष्ठान की स्थिति होनी ही चाहिए। यह व्यवस्था उन योगियों के लिए है, जो अपना सब समय इसी कार्य में लगाते हैं। इसीलिए यह योग का अङ्ग माना गया है॥४६॥ [९७]

यह आसन किन साधनों से सिद्ध होता है, सूत्रकार ने बताया—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्॥४७॥ [९८]

[प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्] प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में ध्यान लगाने से आसन सिद्ध होता है।

शारीरिक परिश्रम अधिक करने से शरीर में ऐसी अकड़ाहट या खिंचाव-सा बना रहता है, इससे विभिन्न अंगों में रह-रहकर कंपकंपी या चेष्टा होते रहने की सम्भावना बनी रहती है, इससे आसन ठीक न होकर जपादि ध्यान में बाधा पड़ती है। प्रयत्नशैथिल्य का अभिप्राय यही है, कि योगी को प्रयत्नपूर्वक शरीर से अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिए। शरीर में मृदुता-लचीलापन रहने पर निश्चेष्ट आसन लगाने में सुविधा रहती है। जहाँ तक शरीर के स्वास्थ्य का प्रश्न है, उसके लिए विविध आसनों का विधान है। उपयुक्त आसनों के आवश्कतानुसार अनुष्ठान से शरीर की दुर्बलता दूर होकर शरीर नीरोग बना रहता है और शरीर का लचीलापन भी विकृत नहीं होता।

सूत्र के 'अनन्तसमापत्ति' पद का अभिप्राय है, अनन्त

पदार्थ में ध्यान लगाते हुए उसकी स्थिरता के साथ तादात्म्य का अनुभव करना। 'अनन्त' से तात्पर्य सर्वव्यापी तत्त्व से है। दर्शनशास्त्र में आकाश, काल, दिशा, परमात्मा आदि तत्त्व सर्वव्यापक माने जाते हैं। एकदेशी पदार्थ सर्वथा निश्चल नहीं रह सकता। एक स्थान से स्थानान्तर में हट जाना उसका धर्म है। यह बात सर्वव्यापी अथवा सर्वदेशी तत्त्व में सर्वथा असम्भव है। ऐसा तत्त्व टस से मस नहीं होता, उसकी स्थिरता नितान्त निश्चित है। ऐसे अनन्त तत्त्व की नितान्त स्थिरता के साथ समापत्ति-तादात्म्य की स्थिति को प्राप्त करने से आसीन देह में स्थिरता निश्चेष्टता आ जाती है। पर्याप्त काल तक चेष्टारहित देह सुखपूर्वक एक आसन में स्थिर बना रहता है। इसी को आसनविषयक सिद्धि अथवा 'आसनजय' कहा जाता है।

इस विषय में भगवद्गीता के छठे अध्याय के ग्याहर से सत्रह तक के श्लोक द्रष्टव्य हैं। ग्यारह-बारह श्लोक से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि योगाभ्यास के लिए स्वस्तिक आदि आसनों से बैठते समय नीचे बिछाये जानेवाले आसन की उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न होने पर आसन लगाने का स्थान भी दुःखजनक हो सकता है। स्थान ऊँचा-नीचा, ढलान, ऊबड़-खाबड़ नहीं होना चाहिए। फिर बिछाने का आसन भी उपयुक्त होना चाहिए, जो मृदु हो, जिसके स्पर्श से अंग में चुभन या दुःखन न हो। ऐसा आसन अधिक गदीला भी न होना चाहिए, अथवा आलस्य बढ़कर तन्द्रा चित्त को अभिभूत कर लेगी।

चौदहवें श्लोक के 'युक्त आसीत मत्परः' पद प्रस्तुत सूत्र के 'अनन्तसमापत्ति' साधन का संकेत करते प्रतीत हो रहे हैं। संयत होकर अनन्त परमात्मा का ध्यान करता हुआ आसन लगा कर बैठे। इस प्रकार अनन्त के ध्यान से अनन्त की स्थिरता से योगी का तादात्म्य अनुभूत होने पर वह स्थिरता आसन में प्रतिफलित होने लगती है-[मत्संस्थामधिगच्छति, १५]।

सूत्रोक्त दो साधनों के अतिरिक्त आसन की स्थिरता सिद्धि के लिए आहार-विहार का उपयुक्त होना भी आवश्यक है। अधिक खाना और न खाना, दोनों स्थितियाँ आसन की स्थिरता में बाधक होती हैं। अधिक सोना या अधिक जागना भी आसन की स्थिरता के लिए अनुपयुक्त हैं। क्योंकि जब योग के लिए आसन लगाकर पर्याप्त समय तक बैठना आहार आदि विघ्नों से बाधित रहता है, तो आगे साधना की संभावना ही नहीं रहती। इसलिए उपयुक्त आहार-विहार और उपयुक्त सोना-जागना योग के लिए आसन लगाकर बैठने में दुःख को दूर करनेवाला होता है ॥४७॥ [९८]

आसन की सिद्धि से क्या फल होता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया-

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४८॥ [९९]

[ततः] उससे **[द्वन्द्वानभिघातः]** द्वन्द्वों के द्वारा कोई चोट या पीड़ा नहीं पहुँचती।

आसन सिद्ध हो जाने से योगाभ्यासी सुख-दुःख, गरमी-सरदी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता। आसन के जय से इन द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति योगी में उभर आती है, वह इनसे कभी अभिभूत नहीं होता, इनके दबाव में नहीं आता, प्रत्युत स्वयं इन पर हावी बना रहता है। यह स्थिति योगाभ्यास के नैरन्तर्य में बड़ी सहायक होती है ॥४८॥ [९९]

आसन का निरूपण करने के अनन्तर प्राणायाम का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया-

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥ [१००]

[तस्मिन् सति] उसके (आसन के) सिद्ध हो जाने पर **[श्वास-प्रश्वासयोः]** श्वास-प्रश्वास में-साँस के लेने छोड़ने

में [**गतिविच्छेदः**] गति का रुक जाना या रोक देना अथवा अन्तर डाल देना [**प्राणायामः**] प्राणायाम कहा जाता है।

प्राणायाम के लिए आसन का सिद्ध होना आवश्यक है। वस्तुतः यम, नियम योग के साक्षात् अङ्ग हैं। योग मार्ग पर चलते हुए इनका प्रत्येक दशा में अनुष्ठान आवश्यक है। पर आसन ऐसा अंग नहीं है। योग में उसका उपयोग प्राणायाम द्वारा अपेक्षित होता है। आसन सिद्ध हुए बिना प्राणायाम सुविधापूर्वक किया जाना संभव नहीं होता; इसी कारण आसन को योग का अङ्ग माना जाता है। योग के अगले स्तरों पर चढ़ने के लिए प्राणायाम यम-नियम के समान अत्यावश्यक साधन है।

उपयुक्त आसन साधकर जब साधक अभ्यासी प्राणायाम करने के लिए बैठता है, तब बाहर के वायु को अन्दर लम्बा खींचकर ले जाना 'श्वास' है। इसी प्रकार अन्दर कोठे के वायु को बाहर गहराई से निकाल देना 'प्रश्वास' कहा जाता है। वैसे श्वास-प्रश्वास नियमितरूप में बिना व्यवधान के सदा चलते रहते हैं, पर ऐसा चलना प्राणायाम का स्वरूप नहीं है। प्राणायाम तभी होता है, जब श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति में विच्छेद-एक प्रकार की रुकावट या अन्तर डाला जाय। इस गतिविच्छेद के आधार पर प्राणायाम के कई भेद हो जाते हैं, जिनका निरूपण अगले सूत्रों में किया है।

श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति को कभी रोका नहीं जा सकता, उसमें अन्तर डाला जा सकता है। प्राण रुक जाने पर तो जीवन समाप्त हो जायगा। अतः सूत्र के 'विच्छेद' पद का तात्पर्य-गति में अन्तर डाल देना या तात्कालिक तोड़-फोड़ कर देना है। इस प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वासरूप प्राण बन्द न होकर उसका 'आयाम-विस्तार' होता है, उसमें श्वास व प्रश्वास का काल अधिक देर तक रहता है। इसीलिए श्वास-प्रश्वास गति की इस प्रक्रिया का नाम 'प्राणायाम' है॥४९॥ [१००]

सूत्रकार ने बताया—उस प्राणायाम के तीन भेद निम्नप्रकार समझने चाहिएँ—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥ [१०१]

[बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्तिः] बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति प्राणायाम **[देश-काल-संख्याभिः]** देश, काल और संख्या से युक्त **[परिदृष्टः]** देखा गया **[दीर्घ-सूक्ष्मः]** लम्बा और सूक्ष्म-हलका होता है।

सूत्र के प्रथम समासयुक्त पद के अन्त में पठित 'वृत्ति' पद का 'बाह्य' आदि प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध है, जैसा सूत्रार्थ में दिखाया गया है। 'वृत्ति' पद का अर्थ व्यापार-हरकत करना है। जब प्राण का व्यापार बाहर की ओर हो, तब वह 'बाह्यवृत्ति' प्राणायाम कहा जाता है। प्राण का व्यापार अन्दर की ओर होने पर 'आभ्यन्तरवृत्ति' तथा बाहर अन्दर दोनों ओर न होने पर प्राण का जहाँ का तहाँ रहना 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम है। पहले को 'रेचक' दूसरे को 'पूरक' तीसरे को 'कुम्भक' कहा जाता है। ये अन्वर्थ नाम हैं। जिनमें वायु का बाहर की ओर को रेचन (निकालना) किया जाय, वह प्राणायाम 'रेचक' है। जिसमें वायु बाहर से अन्दर को भरी जाय, पूरण की जाय, वह प्राणायाम 'पूरक' तथा जिसमें इन दोनों का अभाव हो, वायु अथवा प्राण रेचक अथवा पूरक के अनन्तर जहाँ का तहाँ रहने दिया जाय, वह 'कुम्भक' है। जैसे घड़े (कुम्भ) का भरा हुआ पानी इधर-उधर नहीं जाता, निश्चल एक जगह भरा रहता है। ऐसे ही प्राण अन्दर-बाहर न जाकर एक जगह स्थिर रहने के कारण इस प्राणायाम का अन्वर्थ नाम 'कुम्भक' है।

कुम्भक दो प्रकार का होता है। जब प्राणवायु की गति अन्दर या बाहर को नहीं होती, प्राण को एक जगह रोके रखना कुम्भक है। प्राणवायु के रेचन के अनन्तर प्राण को यथाशक्ति

वहीं रोके रहना होता है, यह रोकना भी कुम्भक है। जब प्राण इस कुम्भक में बेचैन होने लगे, तब वेग के साथ वायु का पूरण किया जाता है; पूरा वायु खींच लिये जाने पर फिर यहाँ कुम्भक किया जाता है। इस कुम्भक के रहने तक एक प्राणायाम पूरा होता है। इसमें रेचक के बाद कुम्भक और पूरक के बाद कुम्भक, ये दोनों यथाक्रम बाह्य और आभ्यन्तर प्राणवायु की अपेक्षा रहते हैं। सापेक्ष होने से इन्हें सहकुम्भक अथवा सहितकुम्भक कहा जाता है, ये दोनों एक ही कोटि के हैं। रेचक, पूरक दोनों के अन्त में होने से एक ही प्राणायाम में इनका दो बार प्रयोग होता है। शुद्ध कुम्भक का स्वरूप चतुर्थ प्राणायाम के रूप में अगले सूत्र द्वारा बताया गया है।

यह तीनों प्रकार का प्राणायाम जैसे-जैसे साधक योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे देश, काल और संख्या द्वारा नापा जाकर दीर्घ (लम्बा) और सूक्ष्म (हल्का) होता चला जाता है। हलका होने का तात्पर्य यही है कि देर तक किये जाते प्राणायाम के परिणामस्वरूप उसकी (प्राण-श्वास-प्रश्वास की) गति अप्रतीयमान-सी हो जाती है।

प्राणायाम पहले प्राय: रेचक से आरम्भ किया जाता है। इसमें प्राणवायु को अन्दर से बाहर की ओर तीव्रता से निकालते समय जितनी दूर तक वह जाता है, धीरे-धीरे अभ्यास से वह दूरी अधिक हो जाती है। इसको पहचानने की रीति यह है कि नासारन्ध्र के सामने सीध में कोई हलकी वस्तु कागज या रुई का फोया रख लिया जाय, रेचक प्राणायाम में प्रश्वास के स्पर्श से जितनी दूर तक वह हिलती है, कुछ समय बाद अभ्यास बढ़ जाने पर प्रश्वास अधिक वेग से निकाले जाने पर कागज या रुई का फोया अधिक दूर तक हिलने लगता है। यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम का देशयुक्त परिणाम है। जैसे रेचक प्राणायाम में प्रश्वास-प्राणवायु की लम्बाई बाहर की ओर बढ़ती है, ऐसे ही पूरक प्राणायाम में अन्दर की ओर बढ़ती है। जब बाहर से

अन्दर की ओर श्वास-प्रणवायु वेग के साथ खींचा जाता है, तब श्वास-वायु का स्पर्श अन्दर की ओर बहुत हलका-सा प्रतीत होता है, जैसे चींटी रेंग गई हो। यह अभ्यास द्वारा बढ़ते-बढ़ते नीचे की ओर पैरों के तलवे तक और ऊपर की ओर मस्तक तक पहुँचता है, कुम्भक में देशयुक्त परिणाम का अवसर नहीं होता क्योंकि इसमें प्राणवायु को न अन्दर खींचा जाता है और न बाहर फेंका जाता है।

ऐसे ही तीनों प्रकार के प्राणायाम अभ्यास द्वारा काल युक्त परिणाम में भी बढ़ता जाता है। पहले पहल जितनी देर तक रेचक आदि प्राणायाम हो पाते हैं; धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ जाने पर वे अधिक काल तक होने लगते हैं। ऐसे ही संख्यायुक्त परिणाम को भी देखा जाता है। इसमें अनेक श्वास-प्रश्वास का एक श्वास-प्रश्वास बन जाता है। स्वाभाविकरूप से लिए जाने पर दस श्वास-प्रश्वास के स्थान पर रेचक आदि प्राणायाम में एक ही श्वास-प्रश्वास लिया जाता है। धीरे-धीरे अभ्यास से यह संख्या बढ़ती जाती है। बीस, पचास, सौ साँसों की जगह प्राणायाम में एक ही साँस लिया जाता है।

यह प्राणायाम में देश, काल, संख्या के योग से जाना व देखा गया परिणाम है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से प्राणायाम के देश, काल, संख्या उपयुक्त सीमा तक बढ़ते चले जाते हैं। इस रूप में प्राणायाम दीर्घ व सूक्ष्म होता अनुभव में आता है। इसके तीन स्तर मृदु, मध्य और तीव्र कहे जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में मृदु, आगे देश आदि में कुछ उन्नत होकर मध्य तथा प्राणायाम के ऐसे स्तर पर पहुँच जाने पर, जब उसे अधिक बढ़ाने की अपेक्षा नहीं रहती-तीव्र स्तर माना जाता है॥५०॥[१०१]

आचार्य सूत्रकार ने शुद्ध कुम्भक के रूप में चतुर्थ प्राणायाम बताया-

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥५१॥ [१०२]

[बाह्य-आभ्यन्तरविषयाक्षेपी] बाह्य और आभ्यन्तर के विषय को दूर फेंकनेवाला अर्थात् बाह्य आभ्यन्तर व्यापार की अपेक्षा न करनेवाला **[चतुर्थः]** चौथा प्राणायाम है।

गतसूत्र में वर्णित कुम्भक, रेचक तथा पूरक के अनन्तर किया जाता है, अतः उस कुम्भक के करने में रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है। जब रेचक-पूरक के बिना कुम्भक किया जाय, स्वाभाविक प्राणवायु जहाँ चल रहा है, वहीं उसको रोकने का प्रयोग, चौथा प्राणायाम 'शुद्ध कुम्भक' अथवा 'केवल कुम्भक' कहा जाता है। इस कुम्भक का प्रयोग प्रारम्भ करने पर जब प्राण उद्विग्न होने लगता है, तब वेगपूर्वक प्राणवायु बाहर से भीतर को खींचता है। फिर दो-तीन बार श्वास-प्रश्वास लेकर पुनः इनका प्रयोग किया जाय। इसमें प्राण की बेचैनी जल्दी और अधिक आती है, इसके कारण चित्त की एकाग्रता में उपयुक्त सहयोग मिलता है।

निरन्तर अभ्यास से प्राणायाम के उच्चस्तर पर पहुँचने पर प्राण-अवरोध की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि प्राण को रोचक और पूरक के बिना ही जहाँ का तहाँ रोकने में कोई असुविधा या कठिनता का अनुभव नहीं होता। यह प्राणायाम रेचक, पूरक की उपेक्षा कर अर्थात् इनको दूर हटाकर किया जा सकता है। अतः यह गतसूत्र में वर्णित 'सहकुम्भक' से भिन्न 'शुद्ध कुम्भक' नाम का चौथा प्राणायाम है। योग में प्राणायाम चित्त की एकाग्रता को नियमित करने के लिए पहला मूल आधार है। इससे शरीर और मानस दोनों व्यवस्था सन्तुलित व संयत रहती हैं॥५१॥[१०२]

प्राणायाम के अनुष्ठान का फल सूत्रकार ने बताया—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥५२॥ [१०३]

[ततः] उससे प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास व अनुष्ठान से **[क्षीयते]** क्षीण होता जाता है-दुर्बल, शिथिल होता जाता है

[प्रकाशावरणम्] प्रकाश–आत्मसाक्षात्काररूप विवेकज्ञान–का आवरण–परदा।

प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करते हुए योगी के लिए धीरे–धीरे अभ्यास के अनुसार वे स्थितियाँ व कर्म क्षीण होते जाते हैं, जिन्होंने अभी तक विवेकज्ञान के ऊपर परदा डाला हुआ था। इसके विषय में अनुभवी आचार्यों ने बताया है–महान अज्ञानमय इन्द्रजाल से यह प्रकाशस्वभाव चित्त बराबर ढका रहता है। जब चित्त अज्ञान–व्यामोह से अभिभूत रहता है, तब वह आत्मा व अनात्मा के भेद को प्रकाशित करने में असमर्थ होता है। वह आत्मगत व्यामोह इसको विवेकज्ञान के विरोधी अवाञ्छनीय वैषयिक कर्मों में लगाये रखता है। आत्मा के संसार में बँधे रहने का कारण यह ज्ञान–प्रकाश को ढकनेवाला व्यामोह प्राणायाम के द्वारा दुर्बल होता चला जाता है, पर केवल प्राणायाम इसको जड़ से नहीं उखाड़ सकता। उसके लिए 'प्रणव–उपासना' आदि अन्य उपाय करते रहना आवश्यक है। इतने से प्राणायाम की महत्ता में कोई न्यूनता नहीं आती, क्योंकि शिथिल अज्ञान ही 'प्रणव–उपासना' आदि से हटाया जा सकता है और यह अज्ञान की शिथिलता प्राणायाम के बिना सम्भव नहीं होती। अज्ञान प्रबल रहने पर तो व्यक्ति को उपासना अथवा अध्यात्म की ओर रुख ही नहीं करने देता। इसीलिए अनुभवी मनीषियों ने प्राणायाम परम तप बताया है, प्राणायाम से बढ़कर अन्य कोई तप नहीं। इससे शारीर–मानस मल दूर होकर ज्ञान के आलोक की सम्भावना सामने आ जाती है।

प्राणायाम की उपयोगिता, महत्ता एवं प्रशंसा में आचार्यों ने बहुत कुछ बताया है। मनुस्मृति के छठे अध्याय के श्लोक ६९ से ७२ तक द्रष्टव्य हैं। वहाँ बताया है–

यदि किसी यति तपस्वी से दिन या रात में अज्ञान के कारण किन्हीं प्राणियों को कोई कष्ट पहुँच जाता है, तो उसके प्रायश्चित्तरूप में स्नान आदि द्वारा शुद्ध होकर छह प्राणायाम

अवश्य करे, इससे प्राणियों को पीड़ा से प्रादुर्भूत ताप का क्षय हो जाता है। तात्पर्य है–उस अवाञ्छनीय कर्म का चित्त पर कोई मलिन प्रभाव नहीं पड़ता॥६९॥

प्रणव तथा व्याहृति से युक्त गायत्री मन्त्र जप करते हुए विधिपूर्वक तीनों प्राणायाम कम से कम तीन बार प्रतिदिन संध्याकाल में अवश्य करने चाहिएँ। यह ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञान-निमित्त अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति के लिए परम तप है, सर्वश्रेष्ठ तप। यथाकाल, यथाशक्ति और अधिक प्राणायाम करना, मलों के निवारण में और अधिक फलप्रद रहता है॥७०॥

जिस प्रकार सोना, चाँदी आदि धातुओं के मल अग्नि से तपाये जाने पर दग्ध हो जाते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों के दोष प्राणायाम से दग्ध हो जाते हैं॥७१॥

प्राणायामों के अनुष्ठान से राग, द्वेष, मद, मात्सर्य आदि दोषों को दग्ध करे तथा 'धारणा' से पाप का नाश करे॥७२॥

यहाँ 'धारणा' का तात्पर्य-परब्रह्म परमात्मा में उपासना आदि द्वारा चित्त का लगाना है। अभी आगे तृतीय पाद के प्रथम सूत्र में योग के अङ्ग 'धारणा' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार अध्यात्ममार्ग में प्राणायाम का महत्त्व अनिवार्य है। योग के आठ अङ्गों में पहले पाँच बहिरंग और अन्तिम तीन अन्तरङ्ग बताये गये हैं। प्राणायाम को उन अन्तरंग तीन अङ्गों के अनुष्ठान में एक प्रकार की आधारशिला समझना चाहिए। इसकी दृढ़ता पर योग का प्रासाद निःशंक निर्माण किया जा सकता है॥५२॥ [१०३]

इसी तथ्य को आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र से बताया–

धारणासु च योग्यता मनसः॥५३॥ [१०४]

[धारणासु] धारणाओं में–धारणा के अनुष्ठानों में **[च]** और निश्चयपूर्वक **[योग्यता]** क्षमता प्राप्त हो जाती है **[मनसः]** मन की।

प्राणायाम के अभ्यास से-अगले धारणा आदि योगाङ्गों के सुविधापूर्वक अनुष्ठान में मन की क्षमता निश्चित उभर आती है। तात्पर्य है-प्राणायाम के अनुष्ठान से मलों के दूर हो जाने पर निर्दोष शुद्ध चित्त धारणा आदि अङ्गों के अनुष्ठान में निर्बाध होकर लगने लगता है। मन-चित्त की यह योग्यता-क्षमता प्राणायाम से उभरती है। इसीलिए प्राणायाम को प्रधान योगानुष्ठान की आधारशिला माना गया है॥५३॥ [१०४]

प्राणायाम का निरूपण कर आचार्य सूत्रकार ने क्रमप्राप्त प्रत्याहार का स्वरूप बताया-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥५४॥ [१०५]

[स्वविषयासम्प्रयोगे] अपने विषयों के साथ ज्ञानवृत्ति का जनक सम्बन्ध न रहने पर **[चित्तस्य]** चित्त के **[स्वरूपानु-कार, इव]** स्वरूप के अनुरूप-जैसा हो जाना **[इन्द्रियाणाम्]** इन्द्रियों का, **[प्रत्याहारः]** प्रत्याहार नामक योगाङ्ग है।

इन्द्रियों का बाह्यविषय के साथ साधारण सम्बन्ध होने पर भी वह उस समय तक वृत्तिरूप ज्ञान का जनक नहीं होता, जब तक चित्त (मन-अन्तःकरण) का सम्बन्ध इन्द्रियों से न हो। बाह्य विषय का ग्रहण करने के लिए बाह्य इन्द्रिय मुख साधन है। अब कुछ अभ्यास के फलस्वरूप चित्त में एकाग्रता की स्थिति आने लगी है, वह आत्मचिन्तन में लीन रहने पर बाह्य विषय की ओर से विमुख रहने लगा है। बाह्य इन्द्रिय अपने विषय से सम्बद्ध होने पर भी उस विषय का ज्ञान कराने में बेकार है। चित्त का बाह्य विषय के साथ कभी सीधा सम्बन्ध नहीं होता। उक्त प्रकार की स्थिति में इन्द्रिय का सम्बन्ध अपने बाह्य विषय के साथ होने पर भी वह न होने के (असम्बन्ध के) समान है। इसी को सूत्र में कहा गया है-जब इन्द्रियों का स्वविषय सम्बन्ध, असम्बन्ध के समान होकर इन्द्रियाँ चित्त के

अनुरूप-जैसी (विषयों के साथ सम्बन्ध न रखनेवाली जैसी) स्थिति को प्राप्त हो जाती हैं। योग का यह स्तर 'प्रत्याहार' के नाम से कहा जाता है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय से आहरण (छिन जाना, दूर कर देना) कर दिया जाता है, इसी भावना से यह नाम है।

ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के जय अथवा उनको वश में करने के लिए अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। इन्द्रियों का नेता चित्त अथवा मन है, जब वही उनकी ओर से विमुख हो गया है, तो इन्द्रियाँ अपने आप शिथिल हो जाती हैं। जैसे रानी मधुमक्खी जिधर जाती है, उसी के पीछे अन्य मक्खियाँ जाती व बैठती हैं, इन्द्रियाँ भी इसी प्रकार चित्त की अनुगामी बनी रहती हैं। चित्त के विषय-लोलुप होने पर विषयों में प्रवृत्त होती हैं तथा चित्त के निरुद्ध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं। यह लोलुपता आत्मभावना से प्रेरित होती है, चित्त स्वतः लोलुप हो, यह सम्भव नहीं। चित्त इन्द्रियाँ सब आत्मा के लिए साधनमात्र हैं, इसे भूलना न चाहिए।

यह प्रत्याहार योगाङ्ग योग के बहिरङ्ग भाग का अन्तिम स्तर है। इसमें अभ्यास के फलस्वरूप चित्त की एकाग्रता का प्रारम्भ हो जाता है। आगे उसमें अभिवृद्धि व पूर्णता अन्तरङ्ग भाग के तीन स्तरों में प्राप्त होती है, जिनका वर्णन धारणा, ध्यान, समाधि के रूप में आगे यथाप्रसंग किया गया है॥५४॥ [१०५]

आचार्य सूत्रकार ने प्रत्याहार का फल बताया-

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥५५॥ [१०६]

[ततः] उससे-प्रत्याहार से **[परमा]** अति उत्तम-सर्वोच्च रूप में **[वश्यता]** वशवर्त्ती होना अपने अधीन होना **[इन्द्रियाणाम्]** इन्द्रियों का, प्राप्त हो जाता है।

इससे योगी योग के उस स्तर पर पहुँच जाता है, जहाँ इन्द्रियाँ पूर्णरूप से वश में हो जाती हैं। उनमें वह क्षमता नहीं

रहती, जिससे वे आत्मा को विषयों की ओर आकृष्ट कर सकें। कतिपय विद्वानों का कहना है कि शब्द आदि विषयों में आसक्त न होना इन्द्रियजय है। विषयासक्ति से बचना चाहिए, क्योंकि यह व्यक्ति को कल्याणमार्ग से हटाकर दूर फेंक देती है। वेदादिनिर्दिष्ट रीति से उचित एवं उपयुक्त मात्रा में शब्दादि विषयों का उपभोग इन्द्रियजय है, यह अन्य आचार्यों का कहना है। कुछ का कहना है कि विषयों का किसी प्रकार दास न बनकर अपितु स्वामी बनकर विषयों को भोगना इन्द्रियजय है। अन्य आचार्य यह कहते हैं कि राग-द्वेष को छोड़कर सुख व दुःख का अनुभव न करते हुए विषयों का भोगना इन्द्रियजय है।

निश्चित ही इन्द्रियजय के ये सब प्रकार 'परमजय' अथवा 'पूर्णजय' नहीं हैं। शब्दादि विषयों के प्रति व्यक्ति की जब तक भोग की भावना बनी रहती है, तब तक इन्द्रियों का पूर्णरूप से वशवर्ती होना सम्भव नहीं। विषयों के साथ भोगभावना से सम्बन्ध व्यक्ति को अनायास चाहे जब पतित कर देता है। पतन की आशंका बराबर बनी रहती है। चतुर भी विषवैद्य साँप को पूर्णरूप से वश करके शङ्कित बना रहता है, उसकी ओर से पूरा विश्वस्त नहीं हो पाता। इसलिए पूर्वोक्त सब इन्द्रियजय सर्वोच्च इन्द्रियजय अथवा 'परम इन्द्रियजय' [परमावश्यता] नहीं है।

ऐसा इन्द्रियजय वही है, जब चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का निरुद्ध हो जाना है। चित्त के एकाग्र हो जाने से इन्द्रिय द्वारा विषय का बोध नहीं हो पाता, यही स्थिति इन्द्रियों की परमावश्यकता है। भगवान् जैगीषव्य ने परमइन्द्रियविजय का यही स्वरूप बताया है। चित्त का निरोध हो जाने पर इन्द्रियों का विजय करने के लिए योगी को अन्य किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। प्रत्याहार साधना का यही फल है।

द्वितीय पाद में योगसम्बन्धी किन विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, वाचस्पति मिश्र ने इसे एक श्लोक में इस

प्रकार बाँधा है—

क्रियायोगं जगौ क्लेशान् विपाकान् कर्मणामिह।
तद्दुःखत्वं तथा व्यूहान् पादे योगस्य पञ्चकम्॥

क्रियायोग, क्लेश, कर्मविपाक, कर्मविपाक का दुःखरूप होना, हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय ये व्यूह के चार प्रकार एवं योग के प्रथम पाँच अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, इन सबका विवरण द्वितीय पाद में प्रस्तुत किया गया है॥५५॥ [१०६]

॥ इति श्रीपूर्णसिंहतनुजनुषा तोफादेवीगर्भजातेन, 'बलिया' मण्डलान्तर्गत 'छाता' वासिश्री-गुरुवर्यकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवा-लब्धविद्योदयेन, बुलन्दशहर-मण्डलान्तर्गत 'बनैल'-ग्रामवासिना-**उदयवीर-शास्त्रिणा**-समुन्नीते पातञ्जलयोगदर्शन-विद्योदयभाष्ये साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः॥

अथ तृतीयो विभूतिपादः

प्रथम पाद में योग का स्वरूप उसको प्राप्त करने के उपासना, जप आदि उपाय, योगरूप समाधि, उसके भेद आदि का वर्णन करने से उसका नाम 'समाधिपाद' तथा द्वितीय पाद में समाधि के आवश्यक यम, नियम आदि पाँच बहिरंग साधनों का विस्तृत वर्णन होने से उसका नाम 'साधनपाद' है। समाधि की सिद्धि से विभिन्न स्तरों पर योगी में जो ऐश्वर्य एवं अवान्तर विभूतियों का प्रादुर्भाव होता है, इस तृतीय पाद में उसी का विस्तृत वर्णन होने से इसका नाम 'विभूतिपाद' है। ये अवान्तर विभूतियाँ 'संयम' के द्वारा प्रकट होती हैं। 'संयम' यह प्रस्तुत दर्शन का एक पारिभाषिक पद है। योग के अन्तिम तीनों अङ्ग--धारणा, ध्यान, समाधि--मिलितरूप में 'संयम' कहे जाते हैं। योग के जिस स्तर पर इन तीनों का सह-प्रयोग अथवा उपयोग होता है, वह 'संयम' है। किसी विशेष लक्ष्य में संयम करने से योग को तद्विषयक सिद्धि अथवा विशेष ऐश्वर्य एवं विभूति का उदय होता है, जो संयम का अवान्तर फल है। विविध विभूतियों का वर्णन करने के लिए उसके उपाय व साधनभूत संयम का प्रथम वर्णन करना अपेक्षित है। संयम में धारणा, ध्यान, समाधि तीनों अन्तर्हित हैं। उसमें प्रथम धारणा का स्वरूप वर्णनीय है। वैसे भी योग के पाँच अङ्गों के वर्णन के अनन्तर धारणा का क्रम है। अतः उभयरीति पर क्रमप्राप्त धारणा का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया--

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥१॥ [१०७]

[**देशबन्धः**] देश में--देह के किसी अङ्गविशेष अथवा किसी लक्ष्यविशेष में बाँध देना--टिका देना [**चित्तस्य**] चित्त

का, **[धारणा]** धारणा नामक-योग का छठा अङ्ग है।

चित्त को एक लक्ष्य-विशेष में बाँध देना, उसे वहाँ रोकना या टिकाना 'धारणा' कहाता है। वह लक्ष्यदेश चाहे देह का कोई अङ्ग हो अथवा देह के बाहर हो। प्राणायाम और प्रत्याहार के अनुष्ठान के फलस्वरूप जब चित्त एकाग्रता से इस स्तर पर पहुँच जाय कि उसे किसी एक लक्ष्य-देश में रोका जा सकता है, तो योगियों ने बताया कि उसे देह के भीतर नाभिचक्र में, हृदयकमल में, मूर्द्धा में अवस्थित चेतनस्वरूप ज्योति में, नासिका के अग्रभाग में एवं जिह्वा के अग्रभाग आदि स्थानों में अधिकाधिक समय तक एकाग्र करने अथवा वहीं स्थिर रखने का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करे। इसी प्रकार किन्हीं बाह्य विषयों में सुविधानुसार चित्त को उसी विषय की वृत्ति के रूप में बाँध कर एकाग्र व स्थिर रखने का अभ्यास करे।

इसके लिए कपड़ा, कागज, गत्ता या लकड़ी की पट्टी आदि पर विभिन्न रंगों में गोल चिह्न बनाकर सामने टाँग लिया जाता है। उसी को एकाग्रभाव से देखते हुए आँखें बन्द हो जाती हैं और चित्त में उसी की वृत्ति प्रवाहित रहती है। इसमें जल्दी अथवा न्यूनाधिक समय के अन्तर से विषयान्तर वृत्तियाँ उभरती रहती हैं, उनको हटाना और निर्धारित लक्ष्यदेश में चित्त को बाँधने व एकाग्र रखने का अधिकाधिक समय तक प्रयत्न करना 'धारणा' अङ्ग की सीमा में आता है। अत्यल्प समय तक चित्त का एकाग्र होना 'प्रत्याहार' में भी है। वहाँ इसी बात पर बल है कि इन्द्रियाँ विषयों की ओर न झुककर चित्त की अनुगामी हैं। धारणा में चित्त एक विषय में एकाग्रता व स्थिरता को प्राप्त अवश्य करता है, पर जल्दी ही विषयान्तर उभर आता है। अभ्यास से इसका काल अधिकाधिक बढ़ता जाता है। जहाँ तक बढ़ जाय, वह सब 'धारणा' अङ्ग की सीमा में है। फलतः किसी एक लक्ष्यदेश में चित्त की वृत्तिरूप स्थिरता धारणा है ॥१॥ [१०७]

आचार्य सूत्रकार ने क्रमप्राप्त ध्यान का स्वरूप बताया—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥२॥ [१०८]

[तत्र] उसमें-जिस देश में चित्त को बाँधा या धारण किया है, उस लक्ष्य-प्रदेश में **[प्रत्ययैकतानता]** प्रत्यय-ज्ञानवृत्ति की एकतानता-एकाग्रता बनी रहना **[ध्यानम्]** ध्यान नामक सातवाँ योगाङ्ग है।

जिस ध्येय विषय में चित्त को धारण किया हुआ है, उसी की वृत्ति निरन्तर उदय होती रहे, उसमें विषयान्तर की वृत्ति का नितान्त भी उदय न हो, विषयान्तर से सर्वथा अछूता जो एकमात्र ध्येय चित्त का आधार जब तक बना रहता है, यह 'ध्यान' का स्वरूप है। जितने अधिक समय तक यह बना रह सके, उतनी अधिक इसकी सम्पन्नता व श्रेष्ठता समझनी चाहिए॥२॥ [१०८]

क्रमप्राप्त समाधि का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥३॥[१०९]

[तत्-एव] वह-ध्यान ही **[अर्थमात्र-निर्भासम्]** जब उसमें केवल अर्थ भासता है और **[स्वरूप-शून्यम्, इव]** स्वरूप से (ध्यान की प्रतीति से) शून्य-सा रहता है, तब वह **[समाधिः]** समाधि नामक आठवाँ योगाङ्ग कहा जाता है।

वह ध्यान ही अपनी विशेष अवस्था में 'समाधि' कहा जाता है। ध्यान की वह विशेषता सूत्र के मध्यगत दो विशेषण पदों से स्पष्ट की गई है। पहला विशेषण है-'अर्थमात्रनिर्भासम्'। ध्यान में ध्याता, ध्येय, ध्यान तीनों की प्रतीति होती है, ध्याता अनुभव करता है कि मैं अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ। ध्याता यद्यपि उस समय इस वाक्य का उच्चारण (मौन उच्चारण भी) नहीं करता तथापि ध्याता यह जानता होता है कि अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ। जब वह ध्यान में इतना गहरा

संलीन हो जाता है कि यह प्रतीति उसको न रहे, केवल ध्येय अर्थ भासे, तब वह समाधि है।

यद्यपि ध्यान उस समय विद्यमान रहता है, यदि ध्यान न रहे, तो ध्येय कैसे भासे? पर उस ध्यान की प्रतीति उसको नहीं रहती। इस भाव को सूत्र के द्वितीय विशेषण पद-'स्वरूपशून्यम्-इव' से अभिव्यक्त किया है। ध्यान के रहते हुए उसकी प्रतीति न होना स्वरूपशून्य के समान है। वह रहते हुए भी मानो नहीं है। जब ध्यान की ऐसी स्थिति होती है, तब वह समाधि है। उस दशा में सचित्त आत्मा अभिन्न भाव से ध्येय में डूब जाता है। उसके अतिरिक्त और कोई भी प्रतीति उसको नहीं होती।

समाधि दशा में ध्येय केवल आत्मतत्त्व रहता है, आत्मा से अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृत तत्त्व नहीं। कारण यह है कि समाधि दशा में ध्याता और ध्येय का भेद नहीं रहता। वहाँ अर्थमात्र ध्याता आत्मा ध्येय से अभिन्न रूप में प्रकाशित व भासित रहता है। ध्याता आत्मा से ध्येय की अभिन्नता तभी सम्भव है, जब आत्मा से अतिरिक्त कोई प्राकृत तत्त्व ध्येय न हो। एकाग्रता के लिए जब लक्ष्य-ध्येयरूप में किसी प्राकृत तत्त्व का अवलम्बन किया जाता है, तब एकाग्रता के अन्तिम स्तर तक पहुँचने पर भी वह दशा ध्यान की मानी जाती है, समाधि की नहीं। क्योंकि उस दशा में ध्याता, ध्येय, ध्यान-तीनों का भासित होना अपेक्षित है। प्राकृत तत्त्व आत्मा से अभिन्न नहीं माना जा सकता, जबकि समाधि दशा में अर्थमात्र ध्याता आत्मा ध्येय से अभिन्नरूप में भासता है। आत्मा की अभिन्नता आत्मा में ही सम्भव है, अतः समाधि दशा में ध्येय केवल आत्मतत्त्व रहता है, अन्य प्राकृत नहीं।

इसी पाद में आगे 'विभूति' नाम से अनेक भौतिक सिद्धियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। उनकी सम्पन्नता के लिए 'संयम' पद से धारणा, ध्यान, समाधि तीनों के प्रयोग का निर्देश है। क्योंकि समाधि में केवल आत्मतत्त्व ध्येय होता है, प्राकृत

तत्त्व नहीं, अतः प्राकृत तत्त्व-सिद्धि के लिए समाधि के प्रयोग का निर्देश औपचारिक ही समझना चाहिए। अन्यथा प्रस्तुत सूत्र में वर्णित समाधि-स्वरूप के साथ उसका विरोध प्राप्त होगा। फलतः प्राकृततत्त्व-विषयक सिद्धि ध्यान दशा के अन्तिम स्तर पर प्राप्त हो जाती है। उसी को औपचारिक-रूप से प्राकृततत्त्व-विषयक समाधि की दशा समझ लेना चाहिए॥३॥ [१०९]

शास्त्र में अपेक्षित स्थलों पर तीनों का नाम लेने में गौरव होता है, इसलिए सूत्रकार ने शास्त्र में तीनों का एक पद से ग्रहण हो, इसका निर्देश किया—

त्रयमेकत्र संयमः॥४॥ [११०]

[त्रयम्] तीनों जब ये **[एकत्र]** एक जगह में अपेक्षित हों, तब **[संयमः]** संयम पद से कहे जाते हैं।

किसी एक विशेष लक्ष्य में जब धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का प्रयोग किया जाता है, और उसकी सम्पन्नता पर जो विशेष सिद्धि-लाभ होता है, उसका विवरण इसी पाद में आगे 'विभूति' के नाम से प्रस्तुत किया गया है। वह विभूति किसी लक्ष्यविशेष में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का प्रयोग करते रहने से प्राप्त होती है। उन सब स्थलों में इन तीनों का नामोल्लेख न करना पड़े, उसके लिए तीनों को जब एक लक्ष्य में प्रयोग करना बताना हो, तो वहाँ 'संयम' पद का निर्देश करना चाहिए। इन तीनों के इकट्ठे प्रयोग को बताने के लिए यह परिभाषा कर दी है। जैसे आगे सूत्र १६, १७ में निर्देश है और उससे आगे अन्य अनेक सूत्रों में ऐसा निर्देश है। वहाँ 'संयम' पद से इन तीनों का ग्रहण करना अपेक्षित है॥४॥ [११०]

संयम का फल सूत्रकार ने बताया—

तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः॥५॥ [१११]

[तत्-जयात्] उस-संयम के जय से **[प्रज्ञा-आलोकः]**

समाधिप्रज्ञा आलोकित हो उठती है।

जब किसी विशेष लक्ष्य में धारणा, ध्यान, समाधिरूप साधनों का सफल प्रयोग किया जाता है, उनके अभ्यास द्वारा चित्त की एकाग्रता के लिए जैसे-जैसे अधिकाधिक प्रयास किया जाता है, वैसे-वैसे एकाग्रता बढ़ती जाती है। जब एकाग्रता अपने अभिनन्दनीय उन्नत स्तर पर पहुँच जाती है, उसमें विषयान्तरों का व्यवधान कभी नहीं उभर पाता, एक ही प्रत्ययप्रवाह निरन्तर चालू रहता है। यही प्रज्ञा का आलोक है। बुद्धितत्त्व [प्रज्ञा] का योग के इस स्तर पर पहुँच जाना, संयम के कारण होने से यह संयम के फल के रूप में वर्णन किया गया है ॥५॥ [१११]

संयम का उपयोग किन लक्ष्यों व स्थलों में करना चाहिए, यह आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥ [११२]

[तस्य] उस संयम का **[भूमिषु]** भूमियों में **[विनियोगः]** विनियोग करना चाहिए।

सूत्र का 'भूमि' पद योग की विशेष अवस्थाओं अथवा स्तरों का बाधक है। प्रथम पाद में सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा आदि नामों से योग की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर ऊँचे स्तर की अवस्थाओं तक का निर्देश किया गया है। उक्त संयम का उपयोग योग की इन अवस्थाओं-स्तरों में किया जाता है।

योग का पहला स्तर सवितर्का समापत्ति (समाधि) है। संयम से योग के इस स्तर को जीत लेने पर, इसको प्राप्त कर लेने पर जो इसके अनन्तर का स्तर है, उसको जीतने व प्राप्त करने के लिए संयम का उपयोग करे। जब इसको भी जीत ले, तब सविचारा भूमि में संयम का विनियोग करे, अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा उसको सिद्ध करे। जैसे व्यक्ति एक सीढ़ी

से दूसरी पर और दूसरी से तीसरी पर क्रमशः पैर रखता हुआ सुविधापूर्वक ऊपर अभिलषित स्थान पर पहुँच जाता है। बीच में या प्रारम्भ में ही सीढ़ियों का उल्लंघन कर ऊपर चढ़ने का प्रयास में व्यक्ति के ठोकर खा जाने व गिर जाने का भय बना रहता है, जो व्यक्ति के अभिलषित स्थान तक पहुँचने में बाधक हो जाता है। ऐसे ही योगमार्ग पर आरूढ़ होने वाले व्यक्ति को योग के अन्तिम स्तर पर पहुँचाने के लिए यौगिक प्रक्रियाओं का क्रमशः पालन व अनुष्ठान करना चाहिए। इसी से सफलता प्राप्त होती है। नीचे की भूमियों को जीते बिना ऊपर की भूमियों में जाने का प्रयास करना न केवल व्यर्थ होता है, प्रत्युत और अधिक पतन हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसी कारण सर्वप्रथम सीढ़ी पर पैर रखना, यम-नियमों का पूर्ण निष्ठा से पालन करना है। इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर भूमियों को जीतते हुए भूमियों के अन्तिम स्तर पर पहुँचकर वहाँ संयम से प्रज्ञा आलोकित हो जाती है, अन्यथा नहीं।

प्रभु के अनुग्रहपूर्वक जिन भाग्यशाली व्यक्तियों ने क्रमशः उन्नति करते हुए उत्तरभूमियों को संयम द्वारा जीत लिया है, अर्थात् योग के उस स्तर को प्राप्त कर लिया है, उनके लिए प्रस्तुत पाद में आगे वर्णित सर्वभूतरुतज्ञान (सब प्राणियों की बोली को समझ लेने की क्षमता), पूर्वजन्म का ज्ञान, परचित्तज्ञान आदि अधर भूमियों में संयम करने की अपेक्षा नहीं रहती, यह अनावश्यक हो जाता है। क्योंकि समाधि के सर्वान्तिम स्तर पर पहुँचकर उक्त अधर भूमियों की जानकारी के लिए स्वतः क्षमता प्राप्त हो जाती है। योगानुष्ठान के अवसर पर किस भूमि के अनन्तर कौन-सी भूमि आनी चाहिए, अथवा किसका अनुष्ठान करना चाहिए; यह योगमार्ग पर पूर्ण निष्ठा से आचरण करनेवाले व्यक्ति को किन्हीं अज्ञात प्रेरणाओं से स्वतः अवगत होता रहता है। इस विषय में अनुभवी आचार्यों ने बताया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

योग के अनुष्ठान के द्वारा योग को जानना चाहिए, क्योंकि योगानुष्ठान से ही योग आगे बढ़ता है। जो अभ्यासी प्रमादरहित होकर योग के साथ आडम्बर व लम्पटता को छोड़कर एक निष्ठा से योग का अभ्यास करता है, वह योग में गहराई तक रमण करता है, आत्मदर्शनरूप परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है॥६॥ [११२]

शिष्य जिज्ञासा करता है, योग के समानरूप से आठ अंग बताये है, फिर उन-उन भूमियों में केवल संयम का विनियोग क्यों कहा? शेष पाँच को क्यों छोड़ दिया गया? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥७॥ [११३]

[त्रयम्] तीनों **[अन्तरङ्गम्]** अन्तरंग साधन हैं (सिद्धिप्राप्ति के समीप के साधन हैं), **[पूर्वेभ्यः]** पहलों की अपेक्षा।

योग के आठ अंगों में से अन्तिम तीन-धारणा, ध्यान, समाधि आन्तर अंग हैं; आत्मसाक्षात्काररूप अन्तिम लक्ष्य के समीप के साधन होने से इन्हें अन्तरंग माना गया है। इनके सिद्ध होने पर योग का अन्तिम स्तर प्राप्त हो जाता है। यह अभी सम्प्रज्ञात समाधि का स्तर है, पहले पाँच अंग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार-बाह्य साधन होने से बहिरंग माने गये हैं। क्योंकि ये अंग चित्त को केवल शुद्ध निर्मल बनाकर योग के लिए उपयोगी कर देते हैं, जिससे चित्त इधर-उधर भ्रान्त न होकर पूर्णरूप से योग में संलग्न रह सके। जैसे अन्न उत्पादन के लिए पहले भूमि को जोत-गोड़कर तैयार किया जाता है, ऐसे ही चित्त को यम-नियम आदि पाँच अंगों द्वारा योग के लिए उपयोगी बनाया जाता है। अन्न के उत्पादन में खेत का जोतना-गोड़ना बहिरंग साधन है, बीज, खाद, पानी

आदि अन्तरंग साधन हैं। इसी प्रकार धारणा आदि योग के साक्षात् साधन होने से अन्तरंग हैं। इसी कारण इन तीनों साधनों का वर्णन विभूतिपाद में किया गया है, क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि विभूतिस्वरूप है। बाह्य अंगों का वर्णन साधनपाद में हुआ है, उनका विभूति स्तर से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, वे केवल बाह्य साधन हैं ॥७॥ [११३]

ये सम्प्रज्ञात में अन्तरंग साधन भी असम्प्रज्ञात में बहिरङ्ग हो जाते हैं, आचार्य सूत्रकार ने बताया–

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥८॥ [११४]

[तत्, अपि] वह भी–धारणा, ध्यान, समाधि ये तीनों सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन भी **[बहिरङ्गम्]** बहिरङ्ग साधन माने जाते हैं **[निर्बीजस्य]** निर्बीज के–असम्प्रज्ञात समाधि के।

यद्यपि धारणा, ध्यान, समाधि ये तीनों सबीज–सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग साधन हैं, क्योंकि इनका विषय समान रहता है। विषय की समानता है–'व्युत्थान वृत्ति का निरोध और एकाग्रतावृत्ति का उदय। यम-नियम आदि प्रत्याहार पर्यन्त साधन बहिरङ्ग इसीलिए हैं–उनमें व्युत्थानवृत्तियों का प्रादुर्भाव उदय होता रहता है, निरोध नहीं होता, इसलिए सम्प्रज्ञात योग में उनका अन्तरंग साधन होना दूर की बात है। पर ये धारणा आदि तीनों निर्बीज–असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हो जाते हैं, क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में किसी वृत्ति का अस्तित्व नहीं रहता, समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने से धारणा, ध्यान, समाधि और असम्प्रज्ञात योग का विषय भिन्न-भिन्न हो जाता है, अन्त:धारणा आदि सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग साधन होकर असम्प्रज्ञात योग में बहिरङ्ग रह जाते हैं। ये धारणा आदि साधन अभ्यासी के चित्त को विषयों की ओर से नितान्त विरक्त बना देते हैं। यह योग में परवैराग्य का स्तर है। परवैराग्य से

असम्प्रज्ञात योग का उदय होता है; असम्प्रज्ञात योग में परवैराग्य अन्तरङ्ग और धारणा आदि तीनों बहिरंग रह जाते हैं।

असम्प्रज्ञात योग में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर केवल निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं। निरोध-संस्कार व्युत्थान संस्कारों को तिरोहित कर देते हैं। केवल निरोध-संस्कार प्रवाह चलता रहता है। यह भी परवैराग्य के उत्कृष्ट स्तर पर पहुँचने की दशा में तिरोहित हो जाता है॥८॥ [११४]

शिष्य जिज्ञासा करता है-जब असम्प्रज्ञात योग में चित्त नितान्त निरुद्ध हो जाता है, किसी प्रकार की वृत्तियों का उदय नहीं होता, तो चित्त में कैसा परिणाम होता है? क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक है, गुणों का स्वभाव परिणामी है, उनमें परिणाम निरन्तर होता रहना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने बताया-

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥९॥ [११५]

[व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः] व्युत्थान और निरोध के संस्कारों का (यथाक्रम जब) **[अभिभव-प्रादुर्भावौ]** दबना और उभरना हो जाता है, तब **[निरोधक्षणचित्तान्वयः]** निरोध काल के चित्त का वही क्रम चलता रहता है, यह **[निरोध-परिणामः]** निरोधपरिणाम है।

असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि की दशा में चित्त की समस्त वृत्तियाँ रुक जाती है, तात्पर्य है-तब वृत्तियों के उभारने में चित्त असमर्थ रहता है। सम्प्रज्ञात समाधि में जो साक्षात्कार-वृत्ति का उदय होता है, असम्प्रज्ञात में वह वृत्ति भी नहीं उभरती। अभिप्राय है तब आत्मा स्वरूपावस्थित हो जाता है, द्रष्टारूप से वृत्ति का अंश रहकर भासित नहीं होता। इस प्रकार निर्बीज अवस्था में किसी प्रकार की वृत्ति-प्रतीति शेष नहीं रह जाती। उस अवस्था में व्युत्थान दशा की समस्त वृत्तियाँ निःशेष-निरुद्ध हो जाती हैं। जैसे क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त वृत्तियाँ एकाग्रवृत्ति की

अपेक्षा व्युत्थान-वृत्तियाँ हैं; ऐसे ही निरोध [असम्प्रज्ञात] की अपेक्षा से एकाग्रवृत्ति भी व्युत्थान समझी जाती है। फलत: असम्प्रज्ञात में उसका भी निरोध हो जाता है। समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर केवल संस्कार बने रहते हैं, क्योंकि संस्कार वृत्तिरूप नहीं हैं। तब निरोध की दशा में व्युत्थान संस्कारों का अभिभाव-तिरोभाव हो जाता है, वे दब जाते हैं, उभर नहीं पाते तथा निरोध के संस्कारों का प्रादुर्भाव होता रहता है। निरोध -क्षण में चित्त की जो अवस्था रहती है, वही आगे प्रतिक्षण उभरती रहती है। यही चित्त का 'निरोधपरिणाम' कहा जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि के लक्षण सूत्र [१।१८] में प्रथम यही कहा गया है कि उस अवस्था में संस्कार-मात्र शेष रह जाते हैं, वृत्तियों का उभरना नितान्त निरुद्ध हो जाता है॥९॥ [११५]

शिष्य जिज्ञासा करता है-असम्प्रज्ञात अवस्था में जब बलवान् निरोध-संस्कार व्युत्थान संस्कारों को सर्वथा अभिभूत कर देते हैं, तब चित्त का परिणाम कैसा होता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया-

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥ [११६]

[तस्य] उसका-चित्त का **[प्रशान्तवाहिता]** प्रशान्त प्रवाह चलता रहता है **[संस्कारात्]** संस्कार से।

उस दशा में चित्त का प्रशान्त प्रवाह-निरोध के संस्कारों से नितान्त बहा करता है। जब दृढ़ अभ्यास से निरोध संस्कार अतिप्रबल हो जाते हैं, तब ये संस्कार व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा दबा देते हैं और निरोध संस्कारों की परम्परा बराबर प्रवृत्त रहती है, यही चित्त का प्रशान्तरूप अथवा एकरस बहते रहना है। जैसे ही निरोध संस्कारों में शिथिलता आती है, व्युत्थान के संस्कार फिर उभर आते हैं॥१०॥ [११६]

प्रसंगवश आचार्य सूत्रकार ने सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का परिणाम बताया-

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ॥११॥ [११७]

[**सर्वार्थतैकाग्रतयोः**] सर्वार्थता और एकाग्रता का यथाक्रम [**क्षयोदयौ**] क्षय-अभिभव और उदय-प्रादुर्भाव (जब होते हैं, तब) [**चित्तस्य**] चित्त का यह [**समाधिपरिणामः**] समाधि परिणाम है।

विभिन्न विषयों में चित्त का प्रवृत्त होते रहना 'सर्वार्थता' का तात्पर्य है। यह चित्त की विक्षिप्त दशा का द्योतक है। एकाग्रता का तात्पर्य है-चित्त का किसी एक विषय में प्रवृत्त रहना, अर्थात् उसी एक विषय में टिके रहना ये दोनों चित्त के धर्म हैं। जब चित्त की सर्वार्थता का क्षय-तिरोभाव हो जाता है, और एकाग्रता का उदय-प्रादुर्भाव, तब यह चित्त का 'समाधि परिणाम' कहा जाता है। जिस समाधिकाल में विक्षिप्त दशा की वृत्तियाँ दब जाती हैं और एकाग्रता की उभर आती हैं, चित्त के इस परिणाम को समाधिपरिणाम कहते हैं॥११॥ [११७]

इसी प्रसंग से आचार्य सूत्रकार ने चित्त का एकाग्रतापरिणाम बताया—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥१२॥ [११८]

[**ततः, पुनः**] उसके अनन्तर फिर [**शान्तोदितौ**] शान्त और उदय होती हुई [**तुल्यप्रत्ययौ**] समान वृत्तियाँ [**चित्तस्य**] चित्त की चालू रहती हैं, यह चित्त का [**एकाग्रतापरिणामः**] एकाग्रता परिणाम है।

समाधि अवस्था में जब चित्त की विक्षिप्त दशा सर्वथा अभिभूत हो जाती है, पूर्णरूप से दब जाती है, उस समय चित्त एकाग्र होता है, चित्त में एक विषय की वृत्तियाँ शान्त और उदित होती रहती हैं, इसीलिए उनको समानवृत्ति कहा गया है।

सूत्र में 'प्रत्यय' पद का अर्थ ज्ञान अथवा वृत्ति है। चित्त उस काल में उस एक विषय के चिन्तन में निरन्तर संलग्न रहता है। त्रिगुणात्मक होने से चित्त में परिणाम होता रहना तो आवश्यक है, पर विक्षेप की दशा में जैसे चिन्तन का विषय बदलता रहता है, ऐसे समाधि अवस्था में विषय बदलता नहीं, एक विषय निरन्तर चलता रहता है। इसलिए जैसी एक वृत्ति शान्त होती है, वैसी आगे उदित होती है। जब तक यह समाधि का क्रम चलता रहता है, यह चित्त का एकाग्रतापरिणाम है। जब समाधि का भ्रंश हो जाता है, समाधि टूट जाती है, तब चित्त की विक्षेप अवस्था आ जाती है॥१२॥ [११८]

अब प्रसंगानुसार सूत्रकार ने भूत और इन्द्रियों के परिणाम के विषय में बताया—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥ [११९]

[एतेन] इससे अर्थात् गतसूत्रों में चित्त के परिणाम कथन से **[भूतेन्द्रियेषु]** भूतों में और इन्द्रियों में **[धर्मलक्षणावस्था-परिणामाः]** धर्मपरिणाम, लक्षण-परिणाम, अवस्थापरिणाम **[व्याख्याताः]** व्याख्या किये गये समझने चाहिएँ।

गतसूत्रों [९ से १२ तक] द्वारा चित्त में तीन प्रकार के परिणाम जिस रीति पर बताये गये हैं, उसी रीति पर पाँच भूत और समस्त इन्द्रियों में तीन प्रकार के परिणाम होते हैं-धर्म-परिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम। यद्यपि गतसूत्रों में परिणाम के ये नाम न देकर अन्य नाम-निरोधपरिणाम, समाधि परिणाम, एकाग्रतापरिणाम दिये गये हैं, परन्तु इनका सामञ्जस्य प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में आगे कर दिया गया है।

सांख्य-योग का यह परमसिद्धान्त है-असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी स्वरूपनाश नहीं होता, वस्तु के केवल आकार आदि धर्म तथा अनागत, वर्त्तमान,

अतीत के रूप में कालिक क्रम आदि बदलते रहते हैं। बदलने का तात्पर्य है-एक का तिरोहित होना-छिप जाना-दब जाना, और दूसरे का प्रादुर्भूत होना-प्रकट हो जाना, प्रकाश में आ जाना। ये धर्म-लक्षण-अवस्था वस्तु में यद्यपि सर्वदा विद्यमान रहते हैं, पर क्रमिकरूप से दबते-उभरते रहते हैं। धर्मी वस्तु सदा उन दबते-उभरते धर्म आदि में-बराबर अनुगत रहता है।

धर्मपरिणाम आदि के स्वरूप को प्रथम एक उदाहरण द्वारा समझ लेना चाहिए।

धर्मपरिणाम-बारीक मिट्टी का चूर्ण, पानी मिलाकर मथकर कुम्भकार उसका गोला बनाता है, पुन: उसके क्रम अथवा उसके सन्निवेश (बनावट) को बदलता है, अब वह घट आदि किसी पात्र को बनाता है। एक ही मिट्टी के गोले से विभिन्न प्रकार के बर्तन विविध क्रम बदलते जाने से बन जाते हैं। पर मिट्टी सब बर्तनों में वही है, जो अब तक गोले के आकार में थी। घड़ा, शकोरा, करवा ये सब आकार उसी एक मिट्टी के हैं। मिट्टी सब बर्तनों में जैसी की तैसी बनी रहती है, उसके आकार बदल जाते हैं। यह मिट्टी [द्रव्य] धर्मी तत्त्व है और ये विविध आकार घड़ा, शकोरा, करवा आदि उसके धर्म हैं। इनमें से एक धर्म का तिरोहित होना दूसरे धर्म का प्रकट होना धर्मी [मिट्टी-द्रव्य] का धर्मपरिणाम है। तात्पर्य है-मिट्टी द्रव्य वस्तुतत्त्व है, वह स्वरूप को छोड़कर अन्य वस्तुतत्त्व के रूप में परिणत नहीं हुआ, उसका धर्म-आकार बदला है, धर्म परिणाम हुआ है। मिट्टी ठोस गोले के आकार को छोड़कर घड़ा, शकोरा आदि के आकार में आ गई है।

लक्षण परिणाम दो रूपों में प्रस्फुटित होता है। एक धर्मलक्षणपरिणाम, दूसरा-धर्मिलक्षणपरिणाम। यथाक्रम उनका विवरण निम्नप्रकार है-

धर्मलक्षणपरिणाम-आकार छोड़ने का तात्पर्य आकार

का नाश होना नहीं है, केवल पहला आकार दब गया है, अन्तर्हित हो गया है, अन्य आकार उभर आया है। कालान्तर में वह अवसर फिर आ सकता है, जब घड़ा, शकोरा आदि चूर्ण के रूप में पहुँच जायें। यह जो घड़ा, शकोरा आदि नया आकार उभरा है, यह पहले मिट्टी में विद्यमान था, पर तिरोहित था-छिपा हुआ था। हम उसे नया इसीलिए कहते हैं कि वह अब प्रकट हुआ है। तात्पर्य है-प्रकट होनेवाले और तिरोहित होनेवाले धर्म का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता, जैसा कि प्रथम निर्देश कर दिया गया है। फलतः घड़े का आकार मिट्टी के गोले में पहले छिपा हुआ था, अब गोले का फैलाव कर देने से वह आकार-धर्म (घटरूप में) प्रकट हो गया है और गोले का आकार छिप गया है। यह घटाकार धर्म का प्रकट होना, धर्म लक्षणपरिणाम है।

धर्मिलक्षणपरिणाम—प्रत्येक प्रकट हुआ धर्म कालिक-क्रम में से गुजरता है। जब तक प्रकट नहीं हुआ, तब तक वह जैसे छिपा हुआ था, ऐसे ही कालान्तर में वह प्रकट धर्म पुनः अन्य धर्म के प्रादुर्भाव होने से छिप जाता है। तात्पर्य है-कोई प्रकट होनेवाला धर्म दो प्रकार से छिपता है-प्रकट होने से पहले कारण में अन्तर्हित रहता है और कालान्तर में पुनः कारण में लीन हो जाने पर छिप जाता है। पहली अवस्था अर्थात् घड़ा जब तक प्रकट नहीं हुआ-'अनागत' है। भविष्यत् में होनेवाला अनागत-लक्षण घट द्रव्य है। जब प्रकट हो जाता है, तब वर्त्तमानलक्षण घट है। जब घड़ा टूट-फूट जाता है, तब अतीत लक्षण घट है। यह तीनों कालभेद से विद्यमान उस घट के तीन लक्षणपरिणाम कहे जाते हैं- अनागत-लक्षणपरिणाम, वर्त्तमानलक्षण-परिणाम, अतीतलक्षणपरिणाम। सामूहिक रूप में यह धर्मिलक्षण परिणाम है।

अवस्थापरिणाम—वर्त्तमानलक्षणपरिणाम धर्म (आकार-घट आदि) की नई पुरानी अवस्थाओं का बदलना अवस्थापरिणाम

है। जब अपने कारणों में छिपा हुआ घड़ा प्रकट हो गया है, तब उसका वर्त्तमानलक्षणपरिणाम हो गया। यह अब जैसे-जैसे सूखता जाता है, और फिर पकाया जाता है, वैसे-वैसे वह दृढ़ हो जाता है। इन रूपों में उसकी अवस्था बदल रही है। कालान्तर में धीरे-धीरे वह दुर्बल-बोदा होता जाता है। तब वह जितना पुराना होता है, उसमें उतनी ही दुर्बलता-जीर्णता बढ़ती जाती है। यह वर्त्तमानलक्षणपरिणामयुक्त धर्म घट आदि का दृढ़ व दुर्बल होना उसकी अवस्था है। इसका निरन्तर तारतम्य बना रहना 'अवस्था-परिणाम' है।

इन तीनों परिणामों में से धर्मपरिणाम और लक्षणपरिणाम का सम्बन्ध वस्तु के प्रादुर्भाव के समय के साथ रहता है और अवस्थापरिणाम प्रादुर्भाव वस्तु के उसी रूप में बने रहने के समय तक चलता है। गोल ठोस मृत्पिण्ड का घड़ा, शकोरा आदि आकार में परिणाम धर्मपरिणाम है। अपने प्रादुर्भाव से पहले मृत्पिण्ड में विद्यमान घट अनागतलक्षण है, प्रादुर्भाव हो जाने पर वर्त्तमानलक्षण और कालान्तर में टूट-फूट जाने पर अतीतलक्षण रहता है। घट के ये लक्षण उसके प्रादुर्भाव से अधिक सम्बद्ध हैं। अवस्थापरिणाम घट के वर्त्तमानकाल में नया, पुराना, जीर्ण आदि अवस्थाओं के रूप में चालू रहता है।

त्रिगुणात्मक समस्त जगत् परिणामस्वभाव है। क्योंकि गुण परिणामशील होते हैं-'चलं हि गुणवृत्तम्'। गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से जो कुछ बना है, वह सब परिणामशील है। प्रत्येक त्रिगुणात्मक वस्तु में निरन्तर प्रादुर्भाव होने, दृढ़ व स्थिर होने तथा टूटने-फूटने-बिगड़ जाने के रूप में परिणाम चलते रहते हैं। बनना और बिगड़ना यह जगत् का स्वभाव है। संसार में यही निरन्तर चल रहा है। जिस वस्तु के जो परिणाम (धर्म) होते हैं, वह वस्तु उन सबमें बराबर अनुगत रहती है। जैसे मृत्पिण्ड से घड़ा, शकोरा आदि प्रादुर्भूत होते या परिणत होते हैं, जो मिट्टी पिण्ड में है, वही घड़ा, शकोरा आदि में है। मिट्टी

सर्वत्र समानरूप से विद्यमान रहती है, यही अनुगत धर्मी है। इसी को मूलस्थिति तक ले जायें, तो समस्त कार्य विश्व के मूलभूत त्रिगुण प्रत्येक वस्तु में अनुगत हैं, विद्यमान रहते हैं।

चित्त का धर्मपरिणाम (वृत्ति के आधार पर)–गतसूत्रों [९-१२] द्वारा सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के यही परिणाम बताये गये हैं, यद्यपि वहाँ 'धर्म–लक्षण–अवस्था' पदों का प्रयोग नहीं किया गया। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाओं में चित्त की प्रवृत्ति अनेक विषयों में चलती रहती है, वह किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रहता, उस समय सर्वार्थ-सर्वविषय बना रहता है। इसीलिए उस समय 'सर्वार्थता' चित्त का धर्म है। इसके विपरीत समाधि में चित्त एक विषय में स्थिर रहता है। उस समय चित्त का सर्वार्थता (सर्वविषयता) धर्म दब जाता है, तिरोहित हो जाता है, और 'एकाग्रता' धर्म प्रादुर्भूत हो जाता है, उभर आता है। यह चित्त-धर्मी के एक धर्म (सर्वार्थता) का दबना और दूसरे धर्म (एकाग्रता) का उभरना उसका धर्मपरिणाम है। इसे ग्यारहवें सूत्र के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधिकाल में होने से 'समाधिपरिणाम' के नाम से बताया है। चित्त जब–जब नया आकार बदलता है, अर्थात् एक विषय से विषयान्तर में जाता है, वह सब चित्त का धर्मपरिणाम है। सम्प्रज्ञात समाधिकाल में जो इस प्रकार का धर्मपरिणाम होता है, उसे 'समाधिपरिणाम' कहा है। चित्त दोनों धर्मों (सर्वार्थता और एकाग्रता इन दोनों में से एक के क्षय और दूसरे के उदय) में अनुगत रहता है, जैसे मिट्टी पिण्ड और घट दोनों में अनुगत रहती है।

चित्त का लक्षण व अवस्थापरिणाम–जब तक चित्त में एकाग्रताधर्म का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, यह चित्तैकाग्रता धर्म का अनागतलक्षणपरिणाम है। एकाग्रता धर्म का प्रादुर्भाव हो जाने पर वर्त्तमानलक्षणपरिणाम है। इस स्थिति में एकाग्रता प्रादुर्भूत होकर पहले स्थिर, दृढ़ व अधिक स्पष्ट होकर फिर धीरे-धीरे समाधि

के भंग होने तक दुर्बल होकर क्षीण हो जाती है; यह उसका 'अवस्थापरिणाम' है। इसे गत बारहवें सूत्र में 'एकाग्रतापरिणाम' नाम से बताया है। तात्पर्य है-समाधिकाल में जो एकाग्रता धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, वह इतने समय तक बना रहा।

चित्त का धर्म व लक्षणपरिणाम (संस्कार के आधार पर)--सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के परिणाम गत पंक्तियों में प्रकट किये। जब असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त पूर्ण निरुद्ध हो जाता है, उस समय चित्त में किसी प्रकार की अन्य वृत्ति का सर्वथा, अभाव हो जाता है, तब एकाग्रता की वृत्ति भी नहीं रहती। उस दशा में केवल संस्कार मात्र शेष रहते हैं। व्युत्थान के संस्कार दबते-तिरोहित होते हैं, और निरोध के संस्कार उभरते-उदित होते हैं। यह व्युत्थान के संस्कारों का दबना और निरोध के संस्कारों का उभरना धर्मी-चित्त का धर्मपरिणाम है। इसका विवरण प्रथम नौवें सूत्र में 'निरोधपरिणाम' नाम से दिया गया है। चित्त दोनों में अनुगत रहता है।

इस दशा में चित्त का लक्षणपरिणाम भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। निरोधसंस्कार अपने प्रादुर्भाव से पहले अनागतलक्षण थे, अब प्रादुर्भूत हो जाने पर वर्त्तमानलक्षण हैं। समाधिभंग के अनन्तर ये अतीतलक्षण रहेंगे। इसी कालिकक्रम से निरोध संस्कारों की विद्यमानता असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का लक्षणपरिणाम है।

असम्प्रज्ञात में चित्त का अवस्थापरिणाम—वर्त्तमानलक्षण-परिणाम की दशा में निरोधसमाधि के भङ्ग होने तक जो चित्त में उन्हीं निरोधसंस्कारों के दृढ़, स्थिर व पुनः दुर्बल होते हुए उनका प्रशान्त प्रवाह बहता है, वह चित्त का 'अवस्थापरिणाम' है। इसका विवरण दसवें सूत्र में दिया गया है।

गत सूत्रों में सम्प्रज्ञात से पहले जो असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि का वर्णन है, वह प्रसंगवश कर दिया गया है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्थाओं में चित्त के

ये तीनों परिणाम स्पष्ट हो जाते हैं। चित्त के समान भूतों और इन्द्रियों में भी तीनों परिणाम समझ लेने चाहिएँ।

भूतों में तीनों परिणाम—प्रथम मिट्टी और घड़े के उदाहरण से भूतों में तीनों परिणामों का होना स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक भौतिक कार्य में पूर्वोक्त रीति से उसे लागू कर लेना चाहिए। मानव तथा गाय, घोड़े एवं अन्य पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि प्राणियों के भौतिक शरीर एवं संसार के अन्य सब जड़ कार्यों का बनना पूर्वोक्त रीति पर यथायोग्य धर्मपरिणाम तथा लक्षणपरिणाम हैं। प्राणियों में दैहिक वर्त्तमानलक्षणपरिणाम के बाल्य, कैशोर, यौवन, जरा (बुढ़ापा) आदि अवस्था 'अवस्था-परिणाम' हैं। कार्य जड़ पदार्थों में वर्त्तमानलक्षणपरिणाम के दृढ़ता, स्थिरता, जीर्णता आदि अवस्थापरिणाम हैं।

इन्द्रियों में तीनों परिणाम—चक्षु से रक्त, नील, पीत आदि रूपों का देखना-धर्म, चक्षु-धर्मी का 'धर्मपरिणाम' है। धर्म का अनागत, वर्त्तमान और अतीत होना लक्षणपरिणाम है। तथा वर्त्तमानलक्षणपरिणाम में ग्राह्य विषय की स्फुट, स्फुटतर एवं अस्फुट आदि प्रतीतियों का होना 'अवस्थापरिणाम' है। इसी प्रकार रसन, त्वक्, घ्राण, श्रोत्र इन्द्रियों के विषय में तीन परिणामों को समझ लेना चाहिए। इन समस्त परिणामों में द्रव्य वही रहता है, केवल सन्निवेश (गठन) बदलता है और वही प्रादुर्भूत व तिरोहित होता है। जब सन्निवेश बदल गया, तो पहला तिरोहित हो गया और दूसरा प्रादुर्भूत हो गया। मूल तत्त्व का तात्त्विकरूप से न प्रादुर्भाव होता, न तिरोभाव। इस दृष्टि से समस्त कार्य-विश्व जो अनेकानेक विविधताओं में दिखाई देता है, तत्त्वों का सन्निवेशमात्र है। मूल तत्त्व-सत्व, रजस्, तमस्-सर्वत्र समान है॥१३॥ [११९]

जिस धर्मी के तीन परिणामों का विवरण दिया गया; उसका लक्षण सूत्रकार ने बताया—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥ [१२०]

[शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती] शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों में जो एक तत्त्व निरन्तर अनुगत (अनुपात) रहता है, वह **[धर्मी]** धर्मी कहा जाता है।

यह प्रथम कहा जा चुका है, मूलतत्त्व एक रहता है, कालक्रम से उसमें विभिन्न आकार उभरते रहते हैं। मिट्टी का चूरा, पानी मिलाकर मथकर ठोस बनाया गया पिण्ड, उसमें अभिव्यक्त हुआ घड़ा, घड़े के टूट जाने पर खिपड़े, ये सब-चूरा, पिण्ड, घड़ा, खिपड़ा-एक-दूसरे से भिन्न हैं। जब मिट्टी चूरा है, तब वह पिण्ड, घड़ा, खिपड़ा नहीं है। जब वह, पिण्ड, है तब चूरा, घड़ा, खिपड़ा नहीं है, पर मिट्टी तब भी है। जब घड़ा आकार अभिव्यक्त हो गया, तब वह चूरा, पिण्ड, खिपड़ा नहीं है, पर मिट्टी तब भी है। इसी तरह घड़े के टूट जाने पर जब वह खिपड़ा है, तब उसे चूरा, पिण्ड, घड़ा नहीं कहा गया, पर तब भी वह मिट्टी है। इससे स्पष्ट हुआ विविध आकार एक-दूसरे से भिन्न हैं, विशेष हैं, मूलतत्त्व सब में समान होने से सामान्य है। विशेष धर्म है, सामान्य धर्मी है, वह सब धर्मों में अनुगत रहता है।

उस अनुगत धर्मी के ये धर्म तीन प्रकारों में समाविष्ट हैं-शान्त, उदित अव्यपदेश्य। ये तीनों यथाक्रम अतीत, वर्त्तमान, अनागत समझने चाहिएँ। धर्मी के जो धर्म अपना कार्य पूरा कर तिरोहित हो जाते हैं, वे शान्त अथवा अतीत कहे जाते हैं। जो आकार (धर्म) प्रकट है, अपना कार्य कर रहा है, वह उदित अथवा वर्त्तमान कहा जाता है। जो अभी आविर्भूत नहीं हुआ, आगे होनेवाला है, वह अव्यपदेश्य अथवा अनागत है। मिट्टी जब पिण्ड के आकार में है, तब चूरा-आकार शान्त है, अतीत है, पिण्ड उदित अर्थात् वर्त्तमान है, घड़ा-शकोरा आदि आकार अव्यपदेश्य-अनागत है। आगे प्रकट होनेवाले आकार के विषय में निश्चित न कहे जाने के कारण 'अनागत' के लिए

'अव्यपदेश्य' पद का प्रयोग किया है, जो निश्चय से कहे जाने के योग्य न हो। भविष्यत् में कितने और कैसे आकार उभरेंगे, यह कहना कठिन है, परन्तु शक्तिरूप से वे सब आकार तत्त्व में विद्यमान रहते हैं। अभी अन्तर्हित हैं। इसीलिए भविष्यत् के लिए उक्त पद का प्रयोग उपयुक्त हुआ है।

जब घट आकार उभर आता है, तो पिण्ड अतीत हो जाता है, घट वर्त्तमान है। घट के टूट-फूट जाने पर खिपड़े आदि जो अनागत थे उभर आये हैं घट अतीति है। इन तीनों (अतीत, वर्त्तमान, अनागत) धर्मों में जो तत्त्व बराबर अनुगत रहता है, वह धर्मी है, वह मृत्तिका है।

जिस तत्त्व से जो आकार पहले अभिव्यक्त हो चुके हैं, जो इस समय प्रकट हुआ-हुआ है तथा अन्य जितने आकार आगे प्रकट हो सकते हैं, वे सब उस तत्त्व के धर्म हैं। एक-एक धर्मी में अनेकानेक धर्म विद्यमान रहते हैं, वे यथावसर अपने अनुकूल निमित्तों के उपस्थित होने पर प्रकट होते रहते हैं। सामान्य धर्मी के अतिरिक्त ये विशेष धर्म भी अपने आगे आनेवाले आकार धर्म के प्रति औपचारिकरूप में धर्मी बन जाते हैं जैसे-तन्मात्र अवस्था में तत्त्व, अहङ्कार धर्मी के धर्म हैं। आगे यह तन्मात्र धर्म पृथिवी परमाणु रूप से मृत्तिका रूप में परिणत हुए। यहाँ तन्मात्र धर्मी हो गये, उनका मृद्रूप धर्म है। यही मृद्रूप धर्मी हो जाता है, जब घट आदि धर्मों के रूप में परिणत होता है ॥१४॥ [१२०]

शिष्य जिज्ञासा करता है-एक धर्मी में अनेकानेक धर्मों का होना बताया, यह कैसे सम्भव होता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥ [१२१]

[क्रमान्यत्वम्] क्रम का अन्य-अन्य होना **[परिणामा-न्यत्वे]** परिणाम के अन्य-अन्य होने में **[हेतुः]** हेतु-कारण है।

साधारणरूप से यह जाना जाता है कि एक धर्मी का एक ही धर्मलक्षण-अवस्था रूप परिणाम हो। क्योंकि एक धर्मी का एक ही परिणाम होना न्याय है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक कारण से भिन्न-भिन्न अनेक कार्य हो जायें। ऐसी स्थिति में सूत्रकार ने बताया-क्रम के भिन्न हो जाने से परिणाम में भेद हो जाता है। जैसे मिट्टी एक कारण है, उसके भिन्न-भिन्न क्रम अनेक होते रहते हैं। पहले चूरा है, उसमें पानी मिलाकर गीला किया और अच्छी तरह मथा, उसका गोला (पिण्ड) बनाया। पिण्ड को चाक पर रखकर घड़ा बनाया गया। घड़े के टूट-फूट जाने पर उसके खिपड़े-ठीकरे हो गये, वे भी फिर टूट व घिस-घिसाकर कालान्तर में चूर्ण बन जाते हैं। उसके अनन्तर अन्य क्रम चालू रहता है। इस प्रकार क्रम के भेद से एक ही मिट्टी कारण के भिन्न-भिन्न अनेक परिणाम हुआ करते हैं।

एक परिणाम का किसी अन्य परिणाम के पीछे होना उसका क्रम है। चूर्ण से गोला बना, गोले से घड़ा बना, यह धर्मपरिणाम का क्रम है। घड़े का अनागत भाव से वर्त्तमान भाव में आना, वर्त्तमान भाव से अतीतभाव में आना, यह लक्षणपरिणाम का क्रम है। कोई भी व्यक्त पदार्थ अतीत हो जाने पर फिर आगे उसका कोई क्रम नहीं, क्योंकि जो व्यक्त अतीत हो गया, वही फिर कभी उभरता नहीं। अन्य रूप उभर सकते हैं, जो समान-असमानधर्मी रहते हैं। अवस्था परिणामक्रम इस प्रकार समझना चाहिए-जो घड़ा अनागत भाव से वर्त्तमान भाव में आ गया है वह इस समय नया है, कालान्तर में जाकर वह एक दिन पुराना और बहुत पुराना दिखाई देता है। यह इसका पुरानापन आज एक ही दिन में नहीं हो गया, प्रत्युत प्रतिक्षण धीरे-धीरे क्रमशः परिणत होते हुए अब पूर्णरूप से पुराना हो गया है। यह अवस्थापरिणाम का क्रम है।

धर्म-लक्षणपरिणाम दोनों कभी-कभी होते हैं, पर यह अवस्थापरिणाम प्रतिक्षण होता रहता है, पर इसका अनुभव नहीं

हो पाता। सुरक्षित रखी हुई भी वस्तु समय पाकर इतनी बोदी-दुर्बल हो जाती है कि हाथ का स्पर्श होते ही भुराने लगती है। वस्तु का इस प्रकार जीर्ण-शीर्ण होना न तो आकस्मिक है और न किसी नियतकाल में उभर आया है, प्रत्युत जब से वह वस्तु वर्त्तमानभाव में आयी, तभी से यह परिणाम उसमें प्रतिक्षण होना प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे यह वस्तु को क्षीण-जीर्ण कर देता है।

बौद्धदर्शन के क्षणिक सिद्धान्त और इसमें यही अन्तर है कि बौद्धदर्शन धर्मी को ही प्रतिक्षण परिणत होता हुआ मानता है, पर यहाँ धर्मी विद्यमान रहता है, केवल उसकी अवस्था में परिणाम होता है। वह जब नया है, तब भी घट है, और जब पुराना है, तब भी। जब उसकी अवस्था भुरने तक पहुँच जाती है, तब भी वह घड़ा ही रहता है, पर नयेपन की दृढ़ता, कठोरता व स्थिरता आदि जो प्रारम्भिक अवस्था थी, वह अब नहीं रही। यह केवल अवस्था का परिणाम है, धर्मी का नहीं।

ये तीनों परिणाम धर्म-धर्मी का भेद स्वीकार करने पर अस्तित्व में आते हैं। वस्तुतः समस्त विकार एक प्रकृति धर्मी के धर्म हैं। वही परमार्थतः धर्मी है। आगे धर्म-धर्मी भाव औपचारिक है। व्यवहार के लिए इसका मानना आवश्यक है। धर्म-लक्षण-अवस्था परिणामों का विश्लेषण इसी आधार पर व्यवहार में आ पाता है। गतसूत्र की व्याख्या में यह कहा गया है कि क्रम की परम्परा में धर्म भी औपचारिकरूप से धर्मी बनता रहता है, तभी क्रमभेद से परिणाम का भेद प्रकाश में आता है।

भूत और इन्द्रियों के इस त्रिविध परिणाम के प्रसंग में व्याख्याकार आचार्यों ने चित्त के परिणाम भी बताये। चित्त के धर्म (परिणाम) दो प्रकार के हैं-प्रत्यक्ष [परिदृष्ट] और परोक्ष [अपरिदृष्ट] जो वृत्तिरूप ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि देखे-जाने जाते हैं, वे चित्त के धर्म-परिणाम प्रत्यक्ष हैं। जो परोक्ष हैं,

उनका पता अनुमान आदि से लगता है। उनकी संख्या आचार्यो ने सात बताई है। वे हैं निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति।

निरोध–वृत्तियों के निरोध से तात्पर्य है, यह चित्त का परिणाम है, असम्प्रज्ञात अवस्था में–जहाँ समस्त वृत्तियों का निरोध होकर संस्कारमात्र शेष रहते हैं। चित्त के इस परिणाम को अस्मदादि पुरुष आगमप्रमाण अथवा अनुमान के द्वारा ही जान पाते हैं; इसीलिए यह परोक्ष परिणाम में गिना जाता है।

धर्म–'धर्म' पद से यहाँ अधर्म भी उपलक्षित होता है। धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य-अपुण्य के आचरण-अनुष्ठान काल में चित्त का इस रूप में परिणाम अनुमान आदि से जाना जाता है, प्रत्यक्ष इसका नहीं होता।

संस्कार–संस्काररूप में परिणत चित्त का बोध स्मृति आदि से होता है। किसी का स्मरण होने पर निश्चय हो जाता है कि इस विषयक संस्काररूप में चित्त का परिणाम हुआ, अन्यथा यह स्मरण न हो पाता।

परिणाम–चित्त त्रिगुणात्मक है और गुणों का स्वभाव चल है-'चलञ्च गुणवृत्तम्' इसलिए चित्त का प्रतिक्षण परिणाम होने का अनुमान होता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता; अत: परोक्ष परिणाम में आता है।

जीवन–प्राणों को धारण करने का प्रयत्न-विशेष-जो चित्तसहयोग से चलता रहता है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका अनुमान श्वास, प्रश्वास द्वारा किया जाता है।

चेष्टा–शरीर, शरीर के विभिन्न प्रदेशों एवं इन्द्रियों द्वारा जो कार्य होते हैं, उनके साथ चित्त का सहयोग (संयोग) अपेक्षित है। इसके लिए चित्त में जो चेष्टा-क्रिया होती है, वह नितान्त अप्रत्यक्ष रहती है। उसका अनुमान इन्द्रियों एवं उन-उन देहप्रदेशों के साथ संयोग से होता है।

शक्ति–चित्त का एक शक्तिरूप परिणाम होता है, जो प्रकट

में होनेवाले कार्यों की सूक्ष्म अवस्था है। प्रकट में होनेवाले स्थूल कार्यों से उसका अनुमान होता है। इस प्रकार ये सात चित्त के परोक्ष-परिणाम पुरातन आचार्यों ने बताये हैं॥१५॥ [१२१]

योगी योग के इस स्तर तक पहुँच जाने पर सम्बद्ध समस्त साधनों को प्राप्त कर लेता है। उसके द्वारा जिसको जानना चाहे, अथवा जिस अर्थ पर विजय प्राप्त करना चाहे, उसी में संयम करने से योगी उसे जान लेता है, अथवा उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। शास्त्र में इस प्रकार की सिद्धि का नाम 'विभूति' है। अब इसमें आगे पाद की समाप्ति तक इन विभूतियों का निरूपण किया जायेगा। समीप उपस्थित होने से त्रिविधपरिणाम में संयम से क्या फल प्राप्त होता है? अथवा क्या सिद्धि प्राप्त होती है? सूत्रकार ने प्रथम इसी को बताया—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥१६॥ [१२२]

[परिणामत्रयसंयमात्] त्रिविध परिणाम में संयम करने से **[अतीतानागत-ज्ञानम्]** अतीत-भूत और अनागत-भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है।

'संयम' यह इस शास्त्र का पारिभाषिक पद है। इससे 'धारणा, ध्यान, समाधि' इन तीन-योग के अन्तरंग साधनों-का बोध या ग्रहण होता है। [देखें- सूत्र ३।४ तथा ३।७]

अभी गत सूत्रों में धर्म, लक्षण, अवस्था नाम से तीन परिणाम वस्तुओं के बताये हैं। जब योगी किसी वस्तु के इन तीनों परिणामों को लक्ष्यकर उनमें संयम करता है, अर्थात् उनमें धारणा, ध्यान, समाधि लगाता है, इनका प्रयोग उस वस्तु में करता है, तो उसे वस्तु के उन तीनों परिणामों का साक्षात्कार हो जाता है। तात्पर्य है-वह वस्तु जिन कारणों से जिन-जिन अवस्थाओं में से गुजरती हुई वर्त्तमान रूप में पहुँची है तथा जितने काल में पहुँची है और आगे जितने समय में जिस अवस्था तक पहुँचेगी; उस सबका साक्षात्कार ज्ञान योगी को हो

जाता है।

प्रत्येक वस्तु के धर्म, लक्षण, अवस्था परिणामों का विवरण अनागत वर्त्तमान, अतीत पर आधारित है। इन परिणामों के वर्णन करने में अनागत, वर्त्तमान, अतीत काल अनुगत रहता है। इसी कारण वस्तु के परिणामों में संयम से वस्तु-विषयक अनागत, वर्त्तमान, अतीत अवस्थाओं का यथार्थज्ञान हो जाता है। सूत्र में केवल अतीत, अनागत पद दिये हैं, जो वर्त्तमान के उपलक्षण हैं। अथवा वर्त्तमान उभयमध्य में अन्तर्हित समझ लिया गया है।

आजकल आधुनिक भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों में 'रेडियो' कार्बन-१४ की परीक्षा' इसी से मिलता-जुलता एक साधन है। इसका निर्माण एकाग्र चित्त के सहयोग से सम्भव हो सका है। यदि यौगिक प्रक्रिया से योग के उस स्तर को प्राप्त कर सीधा वस्तु में संयम किया जाय, तो निश्चित ही उस वस्तु का काल सम्बन्धी अधिक स्पष्ट और सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वस्तु साक्षात्कार होने का यही तात्पर्य है॥१६॥ [१२२]

आचार्य सूत्रकार ने संयम का अन्य विषय प्रस्तुत किया—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥१७॥ [१२३]

[शब्दार्थप्रत्ययानाम्] शब्द, अर्थ और प्रत्यय-ज्ञान के **[इतरेतराध्यासात्]** एक-दूसरे में अध्यास-आरोप से जब **[सङ्करः]** संकर-मिला-जुला-सा प्रतीत होता है। परन्तु **[तत्-प्रविभाग-संयमात्]** उनके सूक्ष्म विभाग में संयम करने से **[सर्वभूतरुतज्ञानम्]** सब प्राणियों (पशु-पक्षियों) के शब्द का ज्ञान हो जाता है।

शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों परस्पर एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। पर सर्वसाधारण जन अपने व्यवहार में इस भेद को न जानता है, न इसकी ओर कोई ध्यान देने की

आवश्यकता समझता है। जैसे-'गौ' यह 'ग्' और 'औ' अक्षरों के मेल से बना हुआ, कण्ठ-तालु आदि स्थानों से उच्चरित होनेवाला वर्णसमुदाय 'शब्द' है। प्रत्येक शब्द का कोई-न-कोई वाच्य-अर्थ अवश्य होता है। गौ शब्द का वाच्य-अर्थ सास्नावाला वह पशु है, जिसका दूध पिया जाता है। 'गौ' शब्द सुनकर या गौ पशु देखकर-'मैंने गौ शब्द सुना, या मैंने गौ पदार्थ देखा' ऐसी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह 'ज्ञान' है। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के परस्पर सर्वथा भिन्न होने पर भी साधारण जन को वह भेद प्रतीत नहीं होता। एक ही 'गौ' पद शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों के लिए प्रयुक्त होता रहता है।

जब कोई पूछता है-इस पशु का नाम क्या है? तो कहा जाता है-'गौ'। यहाँ 'गौ' शब्द के लिए प्रयुक्त हुआ है। जब पशु के देह पर हाथ फेरते हुए कहा जाता है-'यह गौ है'। यहाँ 'गौ' अर्थ के लिए बोला गया है। मुझे 'गौ' यह ज्ञान हुआ है, यहाँ ज्ञान के लिए गौ का प्रयोग है। व्यवहार में साधारण जन इनका परस्पर सांकर्य बनाये रखता है, प्रत्येक में दूसरे का आरोप कर लेता है-शब्द में अर्थ का, अर्थ में शब्द का, शब्द में ज्ञान का, ज्ञान में शब्द का, अर्थ में ज्ञान का, ज्ञान में अर्थ का इत्यादि। इनमें एक-दूसरे के आरोप से अभेद-जैसी स्थिति को 'संकर' कहा जाता है। योगी जब इन तीनों के सूक्ष्मविभाग में संयम करता है। तब उसके साक्षात्कार होने पर उसे इस विभूति का आविर्भाव हो जाता है कि वह सब प्राणियों की बोलियों को समझ लेता है। पशु-पक्षी जब अपनी जाति के अनुसार जो ध्वनि करते हैं, योगी उसे समझ लेता है कि वह क्या कह रहा है॥१७॥ [१२३]

सूत्रकार ने अन्य विभूति का उल्लेख किया-

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥ [१२४]

[संस्कारसाक्षात्करणात्] संस्कारों के साक्षात्कार से

[**पूर्वजातिज्ञानम्**] पहले जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

संस्कार दो प्रकार के होते हैं, पहले वासनारूप हैं, जो स्मृति को और अविद्या आदि क्लेशों को उत्पन्न करते हैं। दूसरे संस्कार धर्म-अधर्मरूप हैं, जो जाति, आयु, भोग आदि फलों के हेतु होते हैं। ये सभी प्रकार के संस्कार पिछले जन्मों में उपार्जित किये हुए आत्मा में सञ्चित रहते हैं एवं यथावसर चित्त-सहयोग से उभारे जाते हैं, अन्यथा छिपे पड़े रहते हैं। उनमें किया गया संयम उनके साक्षात्कार में समर्थ होता है। संस्कारों के साक्षात्कार का स्वरूप है-वे संस्कार किस देश में, किस काल में, किन निमित्तों से, किस प्रकार का अनुभव होकर बने-इसका पूर्ण यथार्थज्ञान होना। इस प्रकार के साक्षात्कार से योगी को पहले जन्म अथवा जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

जैसे अपने संस्कारों के साक्षात्कार से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होता है, वैसे दूसरे के संस्कारों के साक्षात्कार से दूसरे के पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है; यह कतिपय व्याख्याकार आचार्यों ने माना है।

संस्कारों के साक्षात्कार से जैगीषव्य नामक ऋषि को अपने अनेकानेक पूर्वजन्मों का ज्ञान हो गया था, ऐसा व्यास-भाष्य में लिखा है। महाभारत [शल्य०, अध्या० ५०] में जैगीषव्य के योग-माहात्म्य का विस्तृत वर्णन है॥१८॥ [१२४]

सूत्रकार ने अन्य विभूति का वर्णन किया-

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥१९॥ [१२५]

[**प्रत्ययस्य**] दूसरे के प्रत्यय-चित्त अथवा चित्तवृत्ति के विषय में संयम करने से [**परचित्तज्ञानम्**] दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है।

सूत्र में 'प्रत्यय' पद चित्तवृत्ति अथवा चित्त के लिए प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए। विभूति-निर्देश में 'परचित्त' पद है, अतः पहले 'प्रत्यय' के साथ भी 'पर' का सम्बन्ध समझ

लेना अभीष्ट है। दूसरे की आकृति अथवा उसके कथन आदि से उसके भाव को जानकर जब योगी परचित्त में संयम द्वारा उसको साक्षात् करता है, तो परचित्त के भावों का उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। वह स्पष्ट जान लेता है कि इसका चित्त सराग है या वीतराग। इस प्रकार चित्त के अन्य धर्मों को भी जान लेता है। परन्तु उन भावों अथवा धर्मों के देश काल, निमित्त आदि का ज्ञान नहीं होता ॥१९॥ [१२५]

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे संस्कारसाक्षात्कार से पूर्वजन्म का देश, काल निमित्त आदि सहित ज्ञान होता है, ऐसे ही परचित्तसाक्षात्कार से परचित्त धर्मों का देश, काल आदि सहित ज्ञान क्यों नहीं होता? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥ [१२६]

[न, च] नहीं, पर **[तत्]** वह चित्त **[सालम्बनम्]** आलम्बन-विषय सहित **[तस्य]** उसके **[अविषयीभूतत्वात्]** विषय न होने से।

योगी जब परचित्त में संयम करता है, तब उसे चित्त व चित्तधर्मों का साक्षात्कार हो जाता है, यह चित्त रागधर्मवाला है अथवा अन्य धर्मवाला, पर किस विषय में इसका राग है, यह साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि यह संयम का आलम्बन नहीं रहा। जो संयम का विषय (आलम्बन) होता है, उसी का साक्षात्कार होना सम्भव है। वह पर-चित्त किस देश व काल में तथा किस निमित्त से वह रागी व विराग हुआ है, यह योगी के संयम का विषय नहीं रहा। यदि योगी इसको भी अपने संयम का आलम्बन बनाता है, तो उसे परचित्त के धर्म और देश, काल, निमित्त आदि का साक्षात्कार हो जाना सम्भव है ॥२०॥ [१२६]

प्रसंगानुसार अन्तर्द्धान का उपाय सूत्रकार ने बताया—

कायरूपसंयमात् तद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम्॥२१॥ [१२७]

[**कायरूपसंयमात्**] देह के रूप में संयम करने से [**तद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे**] उसकी (रूप की) ग्राह्यशक्ति के रोक दिये जाने पर [**चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे**] चक्षु और प्रकाश का उससे (रूप से) सम्बन्ध न होने की स्थिति में [**अन्तर्द्धानम्**] "अन्तर्द्धान छिप जाना-तिरोहित हो जाना" होता है।

वस्तु के विद्यमान रहते भी उसका न दीखना, 'अन्तर्द्धान' पद का तात्पर्य है। हमारे शरीर की रचना पाञ्चभौतिक है। पृथिवी आदि पाँचों भूतों के अंशों से देह बना है। इसीलिए इसमें रूप, रस, गन्ध आदि सभी धर्म प्रतीत होते हैं। रूप चक्षु से देखा जाता है, रस का ग्रहण रसन इन्द्रिय से होता है। रूप या रस में ग्राह्यशक्ति है, वह ग्रहण किया जाता है, और चक्षु तथा रसन इन्द्रियों में ग्रहणशक्ति है, इनसे ग्रहण किया जाता है। जो कार्य दो से मिलकर होता है, उसमें दोनों की शक्ति कार्य करती है। यदि उनमें से कोई एक शक्ति कार्य के अनुरूप न रहे, तो वह कार्य नहीं होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव कर देखा गया है कि गुड़मार पेड़ का पत्ता चबाया जाय, तो वह कुछ काल के लिए रसन इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति को अन्तर्हित कर देता है, छिपा देता है। गुड़मार का पत्ता खाकर यदि जीभ पर गुड़, चीनी या कोई मीठा पदार्थ रखा जाय, तो उसके मिठास का नितान्त भी अनुभव नहीं होता, वह सर्वथा नीरस मालूम होता है। यद्यपि यहाँ मधुर रस की ग्राह्यशक्ति और रसन इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति दोनों विद्यमान हैं, परन्तु इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति को गुड़मार ने रुद्ध कर दिया है, रोक दिया है, इसलिए वह मधुररस को ग्रहण नहीं कर पा रही है।

इसी प्रकार योगी जब देहरूप में संयम करता है, उससे योगी को यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है कि वह देहरूप की ग्राह्यशक्ति को रोक दे। ऐसा सिद्धिप्राप्त योगी जब आपके

सामने खड़ा है, उसे स्पष्ट देखा जा रहा है। यदि योगी इस अवसर पर अपने देहरूप की ग्राह्यशक्ति को रोक देता है, तो वह अचानक अदृश्य हो जायगा, दिखाई नहीं देगा, यद्यपि वह खड़ा वहीं है, गया कहीं नहीं। देखनेवाले की इन्द्रिय भी विद्यमान है और योगी का देह भी। पर देह के रूप की ग्राह्यशक्ति रोक दी गई है। इसलिए उसका ग्रहण चक्षु से नहीं किया जा रहा। यदि उस समय योगी के शरीर को छुआ जाय, तो त्वक् इन्द्रिय से उसकी स्पष्ट प्रतीति होगी। वहाँ त्वक् इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति और स्पर्श की ग्राह्यशक्ति दोनों अपना कार्य करने में तत्पर हैं, फलतः देहरूप की ग्राह्यशक्ति को सफल संयम द्वारा रोक देने से योगी का शरीर दिखाई नहीं देता, इसी का नाम अन्तर्द्धान है।

रूप की ग्राह्यशक्ति को रोक देने के समान योगी शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध आदि की ग्राह्यशक्ति को भी संयम द्वारा रोक देने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। उस समय उसके समीप खड़े हुए व्यक्ति को भी योगी द्वारा उच्चरित शब्द सुनाई नहीं दे पाते। इसी प्रकार अन्य ग्राह्य विषयों में समझ लेना चाहिए॥२१॥[१२७]

अन्य सिद्धि का निरूपण सूत्रकार ने किया—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानम-रिष्टेभ्यो वा॥२२॥ [१२८]

[**सोपक्रमम्**] उपक्रमसहित [**निरुपक्रमम्**] उपक्रमरहित [**च**] और [**कर्म**] कर्म (होते हैं, उक्त दो प्रकार के), [**तत्संयमात्**] उनमें (कर्मों में) संयम करने से [**अपरान्तज्ञानम्**] अपरान्त–मृत्यु का ज्ञान हो जाता है, [**अरिष्टेभ्यः**] अरिष्टों से [**वा**] अथवा (मृत्यु का ज्ञान हो जाता है)।

सूत्र में प्रयुक्त 'उपक्रम' पद का अर्थ प्रारम्भ है। 'सोपक्रमं' पद 'कर्म' का विशेषण है। चालू आयु में जिन भोग्य कर्मों का फल भोगा जा रहा है, अधिक भोगा जा चुका है, कुछ शेष हैं,

वे कर्म 'सोपक्रम' हैं। उनका फल भोगना प्रारम्भ होकर चल रहा है। जिन कर्मों का फल भोगना अभी शेष है, बहुत थोड़ा भोगा गया है, अधिक आगे भोगना है, वे कर्म 'निरुपक्रम' हैं, उनका भोग अभी निरन्तर चालू क्रम में नहीं आया है। इन कर्मों में संयम करने से योगी को जब सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो इससे अपनी मृत्यु का ज्ञान उसे हो जाता है।

'मृत्यु' के लिए सूत्र में 'अपरान्त' पद का प्रयोग है। 'परान्त' पद वैदिक साहित्य में 'जगत्प्रलय' अर्थ को अथवा अतिदीर्घकाल तक देहावसान अर्थ को, अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुआ है[१]। तात्पर्य है–जीवन्मुक्त व्यक्ति का मृत्यु काल (जब वह देहत्याग के अनन्तर मोक्ष को प्राप्त करता है) 'परान्तकाल' कहा जाता है। उसके विपरीत साधारण संसारी पुरुष की मृत्यु का काल 'अपरान्तकाल' है। प्रस्तुत सिद्धि को प्राप्त करनेवाला योगी पूर्ण आत्मज्ञानी योगी नहीं है, उस देहावसान के अनन्तर वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा, यह आवश्यक नहीं है, अतः उसका देहावसान संसारी पुरुष के समान होने से 'अपरान्त' पद का प्रयोग सूत्र में सर्वथा उचित है। फलतः चालू जीवन में भोग्य कर्म दो प्रकार के हैं–सोपक्रम और निरुपक्रम। इनमें संयम करने से योगी को अपने मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त अरिष्टों के देखने से भी यह ज्ञान हो जाता है कि अब मरणकाल सन्निकट है। शास्त्रों में अनेक प्रकार के ऐसे चिह्नों का उल्लेख हुआ है, जिनको जागते या सोते हुए देखने पर यह जाना जाता है कि मृत्युकाल समीप है। ऐसे चिह्नों को ही सूत्र में 'अरिष्ट' पद से कहा गया है। ये तीन प्रकार के बताये जाते हैं–आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।

आध्यात्मिक अरिष्ट–कानों में अंगुली डालकर बन्द करने से एक अव्यक्त ध्वनि सुनाई पड़ती है। जब ऐसा करने

१. 'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले'। [मुण्डको. ३।२।६]

पर वह ध्वनि सुनाई न दे, तो समझना चाहिए, मृत्यु समीप है। इसी प्रकार हथेली से आँखों को ढांपने पर विविध प्रकार की चमकती चिनगारियाँ-सी दिखाई देती हैं। ऐसा करने पर जब ये न दीखें, तो मृत्युकाल समीप आया जानना चाहिए। अनेक व्यक्तियों का मरणकाल समीप आने पर स्वभाव बदला हुआ प्रतीत होता है। जीवन में क्रोधी पुरुष मृत्युकाल के समीप विनयसम्पन्न तथा विनीत व्यक्ति क्रोधी, उदार कंजूस तथा कंजूस उदार देखे जाते हैं। ये सब तथा ऐसे ही अन्य चिह्न आध्यात्मिक अरिष्ट की सीमा में आते हैं।

आधिभौतिक अरिष्ट—जागृत अथवा स्वप्न दशा में जब व्यक्ति पहले मरे हुए अपने पूर्वज माता-पिता, सगे-सम्बन्धी पारिवारिक एवं मित्रजनों को अचानक अपने सामने जीवित के समान खड़ा देखता है और अनेक बार ऐसा ही दृश्य अकस्मात् सामने आता है, तो यह भी समीपकाल में होनेवाली मृत्यु का चिह्न है। इन्हें आधिभौतिक अरिष्ट कहा जाता है।

आधिदैविक अरिष्ट—सोते या जागते अकस्मात् स्वर्गीय दृश्यों का दीखना, सिद्ध पुरुषों का दीखना, अचानक कुछ भयावह, अनजानी-अनदेखी, विचित्र-सी मूर्त्तियों का दिखाई देना (जिनको प्रायः साधारणजन यमदूत कहते या समझते हैं) आसन्न मृत्यु का द्योतक होता है[१]। इस प्रकार के चिह्नों की गणना आधिदैविक अरिष्टों में की गई है।

पहला संयम द्वारा मृत्यु का ज्ञान केवल योगी को होता है और दूसरा अरिष्टों से होनेवाला योगी-अयोगी दोनों को। अयोगी को ऐसा ज्ञान केवल साधारण संभावनात्मक होता है, परन्तु योगी का देश, काल, निमित्त आदि के सहित निश्चयात्मक ज्ञान हो

१. मेरा सगा छोटा भाई सत्येन्द्रपालसिंह शास्त्री (ग्राम-बनैल, जि०-बुलन्दशहर-निवासी) अपने मृत्युकाल के कुछ दिन पहले से अपने साथियों व परिचित जनों से यह कहा करता था कि जब मैं इस नीम के पेड़ के नीचे खाट बिछाकर लेटता हूँ, तो नीम पर मुझे कुछ साधुवेश में अजीब-सी मूर्त्तियाँ दिखाई देती हैं।

जाता है। योगी-अयोगी के ज्ञान में यही अन्तर है॥२२॥ [१२८]

अन्य सिद्धि का वर्णन सूत्रकार ने प्रस्तुत किया–

मैत्र्यादिषु बलानि॥२३॥ [१२९]

[मैत्री-आदिषु] मैत्री आदि में (संयम से) **[बलानि]** मैत्री आदि विषयक बल प्राप्त हैं।

प्रथम पाद के तैतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता इन तीन भावनाओं का उपदेश किया गया है। सुखी पुरुषों में मैत्री की भावना, दु:खियों में करुणा तथा पुण्यात्माओं में मुदिता का कथन किया है। मैत्री, करुणा और मुदिता में पूर्ण सफलता प्राप्त होने तक संयम करने से मैत्रीबल, करुणाबल तथा मुदिताबल प्राप्त होता है। योगी को ये बल इतने अतिशय तक प्राप्त हो जाते हैं कि वह इनके द्वारा सर्वसाधारण जन की भलाई के लिए अद्‌भुत चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकता है। ऐसे ही लोकातिशायी पुरुष जनता को दु:ख दूर करने और उन्हें सुखी बनाने के लिए अलौकिक कार्य कर जाते हैं।

यद्यपि गत (१।३३) सूत्र में पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना का उपदेश है। पर उसकी गणना प्रस्तुत सूत्र में उपेक्षित नहीं, क्योंकि उपेक्षा की भावना में संयम की संभावना नहीं रहती। जो उपेक्षित हो गया, त्याज्य, परिहार्य हो गया वहाँ संयम संभव नहीं। इसमें उदासीनता का भाव रहता है, जो संयम की

वह वहाँ बैठे अन्य साथियों से कहता–"देखो, यह स्पष्ट उस टहने पर बैठे दिखाई दे रहे हैं।" वे कहते–"कहीं भी नहीं दीख रहे, तुम्हें बहम हो गया है।" पर वह फिर कहता–"इतना साफ तो दिखाई दे रहे हैं, तुम्हारी आँखों में क्या हो गया है?" थोड़ी देर आँख बन्द कर वह चुपचाप पड़ा रहता। फिर साथियों से कहता–"भैया! मेरा अब अन्त समय समीप आ गया मालूम देता है।" वे लोग उसे समझाते व सान्त्वना देते, पर अन्तरात्मा से वे भी इसकी यथार्थता को समझते थे। इसके अनन्तर कुछ महीनों के अन्दर ही एक दिन अचानक पैरेलैसिस [Paralysis] का आक्रमण हुआ और तीसरे दिन लगभग साठ वर्ष की आयु में देहावसान हो गया।

प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं। अतः यहाँ मैत्री, करुणा, मुदिता तीन में ही संयम को सीमित समझना चाहिए॥२३॥ [१२९]

बल के प्रसंग से तत्संबन्धी अन्य विभूति का वर्णन किया—

बलेषु हस्तिबलादीनि॥२४॥ [१३०]

[बलेषु] बलों में तदनुरूप संयम करने से **[हस्तिबलादीनि]** हाथी के समान बल आदि प्राप्त हो जाते हैं।

योगी जिसके बल में साक्षात्कारपर्यन्त संयम करता है, उसी के समान बल योगी में आ जाता है। हाथी के बल में संयम करने से हाथी के समान बल, सिंह के बल में संयम से सिंह के समान, गरुड़ के बल में संयम से गरुड़ के समान, वायु के बल में संयम से वायु के समान बल योगी प्राप्त कर लेता है॥२४॥ [१३०]

अन्य विभूति का वर्णन सूत्रकार ने किया—

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टज्ञानम्॥२५॥ [१३१]

[प्रवृत्त्यालोकन्यासात्] प्रवृत्ति के आलोक–प्रकाश में न्यास–स्थापना से (संयम की), **[सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्]** सूक्ष्म, व्यवहित–व्यवधानयुक्त तथा विप्रकृष्ट–दूरस्थित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

प्रथम पाद के पैंतीस–छत्तीस सूत्रों में मन को स्थिर करनेवाली प्रवृत्तियों का निर्देश है। वहाँ पहली प्रवृत्ति विषयवती और दूसरी ज्योतिष्मती बताई गई है। प्रस्तुत सूत्र में दूसरी प्रवृत्ति का अतिदेश है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक में संयम की स्थापना से अर्थात् साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। ऐसे सूक्ष्म पदार्थ–जिनको बाह्य इन्द्रियों से

नहीं देखा जा सकता-ज्योष्मिती प्रवृत्ति में संयम करने से प्रत्यक्ष हो जाते हैं। उस दिव्य आलोक का संपर्क योगी सूक्ष्म पदार्थों के साथ स्थापित करके उनका प्रत्यक्ष कर लेता है। इसी प्रकार व्यवहित-भीत आदि से ढके हुए दूर देश में स्थित पदार्थों को योगी प्रत्यक्ष जान लेता है॥२५॥ [१३१]

सूत्रकार ने यथाप्रसंग अन्य विभूति का वर्णन किया-

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥२६॥ [१३२]

[भुवनज्ञानम्] भुवनों-लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है **[सूर्ये]** सूर्य में **[संयमात्]** संयम से।

सूर्य में संयम करने से तत्सम्बन्धी अन्य लोक-लोकान्तरों का ज्ञान योगी को हो जाता है। सूर्य केन्द्रस्थित ग्रह है। अन्य ग्रह, नक्षत्र आदि जो इससे सम्बद्ध हैं, उनका ज्ञान सूर्य में संयम से हो जाता है। सूर्य की स्थिति, गति आदि का साक्षात् ज्ञान हो जाने पर उन नक्षत्र, ग्रह आदि एवं उनकी गति, स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है, जिनकी गति, स्थिति आदि सूर्य की गति स्थिति आदि पर अवलम्बित हैं॥२६॥ [१३२]

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥२७॥ [१३३]

[चन्द्रे] चन्द्र में संयम से **[ताराव्यूहज्ञानम्]** ताराओं की स्थिति (सन्निवेश) का ज्ञान हो जाता है।

विभिन्न लोक-लोकान्तरों के लिए प्रस्तुत प्रसंग में 'भुवन, सूर्य, चन्द्र, तारा, ध्रुव' पदों का प्रयोग हुआ है। इनके वास्तविक अर्थ और उसकी सीमा में कितने लोकों का समावेश है, यह जानना आवश्यक है॥२७॥ [१३३]

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥२८॥ [१३४]

[ध्रुवे] ध्रुव में संयम करने से **[तद्-गतिज्ञानम्]** उनकी गति का ज्ञान हो जाता है।

सूत्र में 'तत्' पद से प्रसंगानुसार ताराओं का ग्रहण होता है। ध्रुव में संयम से ताराओं की गति का ज्ञान हो जाता है। कौन-सा तारा किस काल में कहाँ गति कर रहा है, अर्थात् प्रत्यक्ष अवलोकन से वह किस राशि एवं किस नक्षत्र में चल रहा या दिखाई दे रहा है, इसका यथार्थ ज्ञान हो जाता है॥२८॥ [१३४]

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥२९॥ [१३५]

[**नाभिचक्रे**] नाभिचक्र में संयम करने से [**कायव्यूह-ज्ञानम्**] शरीर के अङ्गों की रचना व सन्निवेश का बोध हो जाता है।

सूत्र के 'व्यूह' पद में शरीरांगों की रचना तथा उनका यथास्थान सन्निवेश इन दोनों बातों का समावेश है। शरीर के मध्य में नाभिचक्र है। योग की परिभाषा में इसे 'मणिपूरक' बोलते हैं। इस स्थान से दसों दिशाओं की ओर पंखुड़ियाँ-सी खिलती हैं, जिनके सम्बन्ध की कल्पना शरीर के अन्य सभी ओर के अंगों के साथ की गई है। यहाँ संयम करने से योगी को शरीर के अंगों की रचना व सन्निवेश का यथार्थज्ञान हो जाता है। योगी यह जान लेता है कि अमुक अंग की रचना कैसे हुई और वह शरीर में कहाँ स्थित है॥२९॥ [१३५]

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः॥३०॥ [१३६]

[**कण्ठकूपे**] कण्ठकूप में संयम करने से [**क्षुत्पिपासा-निवृत्तिः**] भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

लोक में 'कूप' का अर्थ 'कुआँ' होता है। यहाँ तात्पर्य नीचे की ओर के गर्त्त-समान स्थान से है। किससे नीचे की ओर? सुनिये, जिह्वा की जड़ में एक तन्तु-सा जुड़ा हुआ दिखाई देता है। उससे नीचे की ओर का स्थान 'कण्ठ' कहाता है। उससे भी नीचे की ओर जाता गड्ढा-सा छेद है, वही 'कूप' है। इसे मिलाकर 'कण्ठकूप' कहा जाता है। यहाँ संयम करने

से योगी को भूख और प्यास की बाधा नहीं रहती। ऐसी स्थिति को प्राप्तकर योगी अधिकाधिक समय तक समाधि अवस्था में रह जाता है॥३०॥ [१३६]

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥३१॥ [१३७]

[कूर्मनाड्यम्] कूर्म नाड़ी में संयम करने से **[स्थैर्यम्]** स्थिरता प्राप्त होती है (समाधि एवं चित्तवृत्ति निरोध में)।

कण्ठकूप के अधोभाग में नाड़ीसंस्थान कूर्म (कछुवे) के समान बैठा दिखाई देता है। यहाँ संयम करने से स्थिरता प्राप्त होती है। यह स्थिरता देह, चित्त वृत्तिनिरोध एवं ध्यान आदि विषयक समझनी चाहिए। इस संयम के कारण देह निश्चल, निश्चेष्ट हो जाने से योगी अभ्यास के लिए पर्याप्त समय तक आसीन रहने में समर्थ हो जाता है तथा चित्तवृत्ति में स्थिरता आने से निरोध अविकल चलता है। इससे ध्यान आदि में भी स्थिरता का लाभ होता है॥३१॥ [१३७]

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥३२॥ [१३८]

[मूर्द्धज्योतिषि] मूर्द्धा-स्थित ज्योति में संयम करने से **[सिद्धदर्शनम्]** सिद्धों का दर्शन होता है।

सिर के दोनों कपालों के बीच एक छोटा-सा ऐसा स्थान है, जहाँ खाल के नीचे कपालास्थि (कपाल की हड्डी) नहीं है। दोनों कपालों के बीच मस्तिष्क के दोनों भाग ऐसे जुड़े होते हैं, जैसे ऊपर की कपालास्थि। ऊपर के कपालास्थिरहित स्थान के ठीक नीचे की ओर मस्तिष्क के जोड़ के मध्य में बादाम की आकृति का एक रिक्त स्थान है, जिसमें हलके पीले रंग का गाढ़ा तरल भरा रहता है। इसी प्रदेश का नाम मूर्द्धा है। यहाँ एक 'ज्योति' का निवास है। यह ज्योति बिजली के बल्ब अथवा प्रदीप-प्रकाश के समान चमकती वस्तु नहीं है, यह चेतन आत्म तत्त्व है, जो देह का अधिष्ठाता है। परमात्मा सर्वत्र

व्याप्त है, वह यहाँ भी है। यह देह में रहते जीवात्मा के घर में परमात्मा का अस्तित्व है। सूत्र में मूर्द्धा–स्थित ज्योति से देह के अधिष्ठाता चेतन आत्म–तत्त्व का निर्देश है। यहाँ संयम करने से सिद्ध–दर्शन का तात्पर्य यही है कि ऐसे अभ्यासी योगी को आगे का अपेक्षित योगमार्ग दिव्य एवं अज्ञातरूप में स्वतः प्रतिभात होता रहता है। इसी स्थिति को सिद्धदर्शन के रूप में बताया है। वे सिद्ध दिव्य आत्मा अपने सहयोग से ऐसे योगी के लिए अगले योगमार्ग को प्रशस्त करते हैं। इस संयम की सफलता पर योगी में एक दिव्य प्रतिभा जागृत हो जाती है। जिसके प्रभाव से योगी उन सब स्तरों को प्राप्त कर लेता है, जो अन्य प्रदेशों में संयम के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं॥३२॥ [१३८]

आचार्य सूत्रकार ने इसी स्थिति को अगले सूत्र में बताया है–

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥३३॥ [१३९]

[प्रातिभात्, वा] अथवा प्रतिभा–मूलक ज्ञान से **[सर्वम्]** सब जान लेता है (योगी)।

समाधि की प्राथमिक दशाओं में दिव्य प्रतिभा जागृत हो जाती है, जिससे योगी को वे सब विषय सूझ जाते हैं, अथवा तत्काल आकस्मिकरूप से उभर आते हैं, जिनका वह एकाग्रचित्त व ध्यानमग्न हो चिन्तन करता है। अन्य निर्दिष्ट प्रदेशों में संयम से एकाङ्गी विशेष परिणाम होते हैं, परन्तु मूर्द्धज्योति में संयम से दिव्यशक्तियों का सहयोग प्राप्त कर जो दिव्य प्रतिभा जागृत हो जाती है, उससे योगी उन सब विभूतियों को प्राप्त कर लेता है, जो अन्यत्र संयम से प्राप्त होनेवाली होती हैं। यह योग की सफलतापूर्ण उच्च अवस्था मानी गई है॥३३॥ [१३९]

प्रकरणानुसार अन्य विभूतियों का विवरण आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत किया–

हृदय चित्तसंविद् ॥३४॥ [१४०]

[हृदये] हृदय में संयम करने से **[चित्तसंविद्]** चित्त का साक्षात्कार हो जाता है।

सूत्र में 'हृदय' पद से मस्तिष्कगत उस हृदयदेश का ग्रहण अभिप्रेत है, जहाँ आत्मा के साथ चित्त-अन्तःकरण रहता है। उस प्रदेश में संयम से चित्त का साक्षात्कार होता है। चित्त की रचना, उसकी क्रिया-प्रतिक्रया आदि तथा अन्य तत्सम्बन्धी पूर्णज्ञान योगी को हो जाता है। सूत्र ३२ में मूर्द्धा-स्थित ज्योति में संयम का निर्देश है, प्रस्तुत सूत्र द्वारा मूर्द्धा-प्रदेश (हृदय) में संयम का निर्देश किया गया है॥३४॥ [१४०]

चित्तसाक्षात्कार के अनन्तर उपयुक्त पुरुषज्ञान का उपाय सूत्रकार ने बताया-

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३५॥ [१४१]

[सत्त्व-पुरुषयोः] बुद्धितत्त्व (चित्त) और पुरुष के **[अत्यन्तासङ्कीर्णयोः]** परस्पर अत्यन्त भिन्न होते हुए, जो उनमें **[प्रत्ययाविशेषः]** प्रत्यय-ज्ञान की समानता का होना है, वह **[भोगः]** भोग है, **[परार्थत्वात्]** बुद्धितत्त्व के परार्थ होने के कारण, **[स्वार्थसंयमात्]** भोग से अतिरिक्त अपने आत्मविषयक-ज्ञान में संयम से **[पुरुषज्ञानम्]** पुरुष-आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है।

बुद्धि जड़ प्रकृति का परिणाम है, पुरुष चेतन तत्त्व सर्वथा अपरिणामी है, अतः ये दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न तत्त्व हैं। परन्तु पुरुष को बाह्य विषयों का ज्ञान होने के लिए बुद्धितत्त्व मुख्यसाधन है। बाह्य इन्द्रियों द्वारा विषय गृहीत होकर बुद्धि में जिस प्रकार भासता है, पुरुष को वैसा ही बोध होता है। इस-प्रकार बुद्धिवृत्ति और पुरुष का बोध समान होते हैं। बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये गये विषय के अनुसार चित्तवृत्ति शान्त,

घोर, मूढ़ जैसी होगी, ठीक वैसा बोध पुरुष को होगा। बुद्धिवृत्ति और पुरुषबोध का समान होना 'भोग' कहा जाता है। इस प्रकार की प्रतीति में विषय भोग्य, बुद्धि भोगसाधन तथा पुरुष भोक्ता है। इससे स्पष्ट हो जाता है–इन प्रतीतियों में बुद्धिवृत्ति पौरुषेय बोध का साधन होने से 'परार्थ' है। अपने से भिन्न पुरुष के प्रयोजन (सुख–दु:खरूप बोध) को सिद्ध करने के लिए होती है।

इससे विपरीत जब बुद्धि में कोई बाह्य विषय प्रतिभासित नहीं होता, तब शुद्ध सात्त्विक चित्त में पुरुष के प्रतिभास से पुरुष को 'स्व' का बोध होता है। यह वृत्तिरूप बोध है, इसमें संयम करने से पुरुष को 'स्व' का साक्षात्कार हो जाता है। यह संयम की सफलता पर अवलम्बित है। इस अभ्यास से अन्तरालकाल में अथवा अभ्यास की सफलता में पूर्ण आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर कुछ सिद्धियाँ स्वत: उभर आती हैं। अभ्यासी को उस समय बहुत सावधान रहना चाहिए, अन्यथा समाधिजन्य परिणाम के भ्रंश का भय बना रहता है ॥३५॥ [१४१]

वे सिद्धियाँ कौन–सी हैं, आचार्य सूत्रकार ने बताया–

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते॥३६॥ [१४२]

[ततः] उस वृत्त्यात्मक आत्म–बोध में संयम करने से **[प्रातिभ–श्रावण–वेदना–आदर्श–आस्वाद–वार्त्ताः]** प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्त्ता नामक सिद्धियाँ [जायन्ते] प्रकट हो जाती हैं।

वृत्त्यात्मक आत्मज्ञान में संयम करने का प्रधानफल आत्मा का साक्षात्कार है। उसके सिद्ध होने से पूर्व अथवा सिद्ध हो जाने पर ये सिद्धियाँ स्वत: उभर आती हैं। मुख्य फल की सिद्धि के पहले या पीछे होने पर कोई विशेषता नहीं है। इनके

निर्देश का प्रयोजन यही है कि योगी को उस दशा में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। समाधि-सिद्धि अथवा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर इन सिद्धियों का उभार योगी की असावधानता में लोक-व्यवहार की ओर पुनः योगी को आकृष्ट करने में समर्थ व सफल हो सकता है।

इन सिद्धियों का स्वरूप है-मन तथा बाह्य इन्द्रियों में दिव्यशक्ति का उत्पन्न हो जाना। उनमें प्रत्येक का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए-

प्रातिभ-मन में सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थित एवं अतीत, अनागत वस्तुओं को जानने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाना। तात्पर्य है उस दशा में मन के अन्दर ऐसी दिव्यशक्ति उभर आती है, कि उसके द्वारा सूक्ष्म आदि वस्तुओं को अनायास जाना जा सकता है।

श्रावण-श्रोत्र इन्द्रिय में प्रकट हुआ सामर्थ्य, जिससे सूक्ष्म आदि तथा दिव्य शब्द को सुना जा सकता है।

वेदना-त्वक् इन्द्रिय में ऐसी शक्ति का उत्पन्न हो जाना, जिससे सूक्ष्म, व्यवहित आदि तथा दिव्य स्पर्श का अनुभव किया जा सके।

आदर्श-चक्षु इन्द्रिय का दिव्यशक्ति सम्पन्न होना, जिससे सूक्ष्म, व्यवहित आदि तथा दिव्यरूप को देखा जा सकता है।

आस्वाद-रसन इन्द्रिय में उद्भूत ऐसा सामर्थ्य, जिससे सूक्ष्म आदि तथा दिव्यरस का आस्वादन किया जा सके।

वार्त्ता-घ्राण इन्द्रिय का-सूक्ष्म आदि तथा दिव्य गन्ध सूँघने का-सामर्थ्य।

ये 'प्रातिभ' आदि पद उपर्युक्त अर्थों को अभिव्यक्त करने के लिए शास्त्रीय पारिभाषिक संज्ञा हैं। आन्तर इन्द्रिय मन और बाह्य पाँचों ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र आदि में ऐसी दिव्यशक्ति प्रादुर्भूत हो जाने से जड़ भरत आदि के समान योगी के पथभ्रष्ट होने का भय बना रहता है। 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि

कर्षति।'

शक्तिशाली इन्द्रियसमूह आत्मज्ञानी योगी को भी विषयों की ओर खींच ले जाता है। अतः इन सिद्धियों के प्राप्त हो जाने पर योगी को बहुत सतर्क सावधान रहना होता है, जिससे इन्द्रिय-समूह आत्मा पर प्रभावी न हो सके॥३६॥ [१४२]

इसी आशय से सूत्रकार ने बताया—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥३७॥ [१४३]

[ते] वे प्रातिभ आदि ज्ञानजनित सामर्थ्य **[समाधौ]** समाधि में **[उपसर्गाः]** विघ्नरूप अथवा बाधक होते हैं, **[व्युत्थाने]** व्युत्थान दशा में **[सिद्धयः]** सिद्धियाँ हैं।

समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेने पर योगी अनवरत सदा उस दशा में नहीं रहता, देहादि निर्वाह के लिए समाधि से अपेक्षित काल के लिए विश्राम लेना होता है। यह व्युत्थान दशा है, जब योगी समाधि में अवस्थित नहीं है। यदि इन्द्रियग्राम बलशाली होने से आत्मा पर प्रभावी हो जाय, तो इस दशा में योगी व्यक्ति का रुझान लोक में चमत्कार-प्रदर्शन की ओर आकृष्ट हो सकता है। यह स्थिति समाधि के लिए महान विघ्न है। ऐसी प्रवृत्ति उभर आने पर योगी व्यक्ति लोक में जादूगर बनकर रह जाता है। यद्यपि लोक में पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है, परन्तु प्राप्त भी समाधिस्तर लोकचमत्कार के प्रदर्शन में मन्द व क्षीण होता हुआ ओझल हो जाता है। ऐसा योगी व्यक्ति आत्मज्ञान के उच्चस्तर पर पहुँचकर भी नीचे आ गिरा है, समझना चाहिए। इसीलिए इन सिद्धियों को समाधि में विघ्न बताया गया है। उस दशा में योगी को बहुत सावधान रहना आवश्यक है। अन्यथा इन सिद्धियों में हर्ष और आश्चर्य का अनुभव करता हुआ योगी इन्हीं में रम जाता है, तो उसका पतन निश्चित है॥३७॥ [१४३]

यहाँ तक आचार्य सूत्रकार ने विविध विभूतियों के रूप में

संयम का ज्ञानरूप फल बताया, अब संयम का क्रियारूप फल प्रस्तुत किया जाता है—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३८॥ [१४४]

[बन्धकारणशैथिल्यात्] बन्ध कारणों की शिथिलता से **[प्रचारसंवेदनात्]** चलने के मार्ग जान लेने से **[च]** और, **[चित्तस्य]** चित्त का **[परशरीरावेशः]** अन्य शरीर में प्रवेश हो जाता है।

चित्त स्वभाव से अति चञ्चल होता हुआ भी एक देह में बन्धकर रहता है। इसका कारण है—आत्मा के साथ सूक्ष्मशरीर का नियत सम्बन्ध होना। आदि सर्गकाल में प्रत्येक आत्मा के साथ एक सूक्ष्मशरीर सम्बद्ध हो जाता है, जो आत्मज्ञान होने तक अथवा अगला प्रलय आने तक बराबर बना रहता है। जब एक आत्मा पूर्वार्जित धर्म-अधर्म के अनुसार किसी शरीर को धारण करता अथवा किसी शरीर में आता है, तब सूक्ष्मशरीर उसके साथ सम्बद्ध रहता है। सूक्ष्मशरीर का एक घटक चित्त है, वह भी वहाँ रहता है। जिन धर्म-अधर्म के कारण आत्मा को यह शरीर मिला है, उनसे प्रतिबद्ध होकर चित्त उस शरीर से बाहर निकल नहीं सकता, उसी में बन्धकर रहता है। परन्तु बन्धकारण में संयम करने से वे कारण शिथिल हो जाते हैं, ढीले पड़ जाते हैं। तब आत्मा की अनुकूलता से चित्त उस शरीर से बाहर निकलकर अन्य शरीर में प्रवेश कर लेता है।

चित्त जिन नाड़ियों के द्वारा गति करता हुआ बाहर जाता है, उनका साक्षात्कार ज्ञान होना इस क्रिया के लिए आवश्यक है। इसलिए उन नाड़ियों में संयम करना अपेक्षित होता है। उनमें संयम करने से उनका संवेदन-साक्षात् अनुभव हो जाने पर चित्त का उनके द्वारा बाहर जाना संभव हो जाता है। यह चित्त के बाहर की ओर चलने का मार्ग है। आगे के मार्ग को जाने बिना

अपने स्थान से चलाना संभव नहीं। इस प्रकार बन्धकारण के शिथिल होने से तथा चित्तगति के मार्ग का साक्षात् अनुभव हो जाने से चित्त स्वशरीर से बाहर होकर अन्य शरीर में प्रवेश कर जा सकता है। इन्द्रिय चित्त के अनुगामी होते हैं, इन्द्रियाँ चित्त का अनुसरण करती हैं। जैसे मधुमक्खियाँ राजा-मक्खी का अनुसरण किया करती हैं।

सूत्र के पदों से परशरीर में प्रवेश चित्त का कहा गया है। केवल चित्त पूर्वशरीर को छोड़कर परशरीर में प्रवेश कर जाय, यह संभव नहीं। चित्त सूक्ष्मशरीर का प्रधान घटक है, इसलिए सूत्रकार ने सूक्ष्मशरीरमात्र के लिए 'चित्त' पद का प्रयोग किया है। सूक्ष्मशरीर आत्मा का वेष्टन है, आत्मा को अपने में लपेटे हुए है। इस कारण चित्त के परशरीर प्रवेश का तात्पर्य है-सूक्ष्मशरीर समेत आत्मा का पूर्वशरीर छोड़कर अन्य शरीर में प्रवेश करना। उस दशा में पूर्वशरीर जीवनरहित हो जाता है। ऐसा कदापि संभव नहीं कि चित्त को छोड़ सूक्ष्मशरीर के अन्य सब घटक और आत्मा पूर्वशरीर में बैठे रहें तथा अकेला चित्त पूर्वशरीर को त्यागकर अन्य शरीर में प्रवेश कर जाय। प्राचीन वाङ्मय में जहाँ कहीं परशरीरप्रवेश की घटना का उल्लेख मिलता है, वहाँ पूर्वशरीर को अपेक्षित होने पर मृत दशा में सुरक्षित रखे जाने का भी उल्लेख है।

आचार्य सूत्रकार के इस विवरण से चित्त का अणुपरिमाण होना ज्ञात होता है। तब [४।१०] सूत्र के भाष्य में चित्त को विभु कहना विचारणीय है॥३८॥ [१४४]

अन्य क्रिया-विभूति का विवरण सूत्रकार ने प्रस्तुत किया-

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥ [१४५]

[उदानजयात्] उदान पर विजय प्राप्त करने से (संयम द्वारा), **[जल-पङ्ककण्टकादिषु]** जल, कीचड़ तथा काँटे

आदि में योगी **[असङ्गः]** असंग रहता है (डूबता, फँसता और बिंधता नहीं), **[उत्क्रान्तिः च]** और ऊर्ध्वगति हो जाती है।

समस्त मिलित करणों का सामान्य व्यापार 'प्राण' है, जो जीवन का स्वरूप है। विभिन्न करणों के विशेष व्यापार अपने-अपने अलग हैं। चक्षु का देखना, रसन का चखना, घ्राण का सूँघना, मन का संकल्प करना, बुद्धि अथवा चित्त का निश्चय करना आदि। परन्तु यह प्राण-व्यापार समस्त करणों का होता है। यह दो प्रकार का है-बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य जो ऊपर बताया, चक्षु आदि से देखना आदि। आभ्यन्तर है-जीवन, जीवित रहना, प्राणों का निरन्तर क्रियाशील बने रहना। सुषुप्ति आदि अवस्था में जब करणों का बाह्य व्यापार उपरत है, तब भी आभ्यन्तर व्यापार निरन्तर चला करता है। यदि कोई इन्द्रिय गोलक आदि के विकृत हो जाने से बाह्य व्यापार में अक्षम हो जाता है, वह तब भी आभ्यन्तर व्यापार के लिए पूर्ण समर्थ रहता है।

शरीर में प्राण की क्रिया मुख्यरूप से पाँच प्रकार की है-प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। इनमें से श्वास-प्रश्वास क्रिया का हेतु 'प्राण' नासिका' के अग्रभाग से हृदय तक अवस्थित रहता है। मूत्र, पुरीष, गर्भ आदि को नीचे की ओर ले जाने के हेतु 'अपान' का स्थान नाभि से पाद तल तक है। देह में रक्त आदि के संचार का हेतु 'व्यान' समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। आहार और उसके रस को यथास्थान पहुँचाने के हेतु 'समान' का क्षेत्र कण्ठ से नीचे नाभि तक बतया गया है। ऊपर उठने के हेतु 'उदान' का स्थान कण्ठ या गुद्दी (गर्दन के पीछे का भाग) से ऊपर मूर्द्धा तक कहा जाता है।

उदान में संयम करने से योगी जब उदान प्राण पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह जल में डूबता नहीं। देह को रुई के फोहे के समान इतना हलका कर लेता है कि उसे ऊपर उठाये रख सकता है। भूमि पर चलने के समान पानी के ऊपर चला

जा सकता है। इसी प्रकार कीचड़ में फँसता नहीं, काँटे में बिंधता नहीं।

उदानजय का अन्य फल 'उत्क्रान्ति' है। मृत्यु के अनन्तर उसकी ऊर्ध्वगति होती है। इसी को शुक्लगति अथवा उत्तरगति कहते हैं। अर्चि आदि[१] मार्ग से वह आत्मा पुण्य लोकों को प्राप्त होता है॥३९॥ [१४५]

उदान के अनन्तर 'समान' प्राण के जय का फल सूत्रकार ने बताया--

समानजयाज्ज्वलनम्॥४०॥ [१४६]

[**समानजयात्**] समान जय से [**ज्वलनम्**] जलना होता है।

संयम के द्वारा 'समान' नामक प्राण पर विजय प्राप्त कर लेने से योगी का शरीर अग्नि की तरह जलता हुआ-सा प्रतीत होने लगता है। समान प्राण के अधीन शरीर में जो आग्नेय तेजस् होता है, वह समान-जय से उद्दीप्त हो जाता है इस कारण ऐसे योगी का शरीर जलती अग्नि के सदृश दीप्तिमान् दिखाई देता है॥४०॥ [१४६]

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्॥४१॥[१४७]

[**श्रोत्र-आकाशयोः**] श्रोत्र और आकाश के [**सम्बन्ध संयमात्**] सम्बन्ध में संयम करने से [दिव्यम्] दिव्य हो जाता है [**श्रोत्रम्**] श्रोत्र।

श्रोत्र इन्द्रिय शब्द के ग्रहण करने-सुनने में साधन है। शब्द की अभिव्यक्ति चाहे किसी तरह के साधन से हो, पर उस सब प्रकार से अभिव्यक्त शब्द का ग्रहण केवल श्रोत्र

---

१. अर्चि आदि उत्तरमार्ग का विवरण उपनिषदों के निम्न स्थलों में द्रष्टव्य है-छान्दोग्य ५।१०।१-२॥, बृहदारण्यक ६।२।१५॥, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् १।३॥ छान्दोग्य का अन्य प्रसंग ४।१५।४-५ भी द्रष्टव्य हैं।

इन्द्रिय द्वारा होता है। श्रोत्र शब्दग्रहण का साधन और आकाश शब्द का अधिष्ठान है। शब्द के द्वारा मानो श्रोत्र और आकाश आपस में बँधे हुए हैं। श्रोत्र और आकाश के इस सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है-ऐसी योगी के श्रोत्र इन्द्रिय में एक दिव्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिससे वह आकाश में अधिष्ठित व आश्रित उन ध्वनियों को भी सुन लेता है, जो साधारण श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा नहीं सुनी जा सकतीं।

दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति को अन्य इन्द्रियों का उपलक्षण समझना चाहिए। जैसे श्रोत्र-आकाश के सम्बन्ध में संयम से दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति होती है, ऐसे ही त्वक् और वायु, चक्षु-तेज, रसन-जल एवं घ्राण-पृथिवी के सम्बन्धों में संयम करने से यथाक्रम दिव्य त्वक्, दिव्य चक्षु, दिव्य रसन एवं दिव्य घ्राण की सिद्धि होती है। इस स्थिति को प्राप्त कर योगी दिव्य त्वक् आदि इन्द्रियों के द्वारा उन-उन भूत भौतिक तत्त्वों में होनेवाले स्पर्श आदि को ग्रहण कर लेता है, जो इन्द्रिय की साधारण अवस्था में ग्रहण नहीं किये जा सकते। गत छत्तीसवें सूत्र में भी ऐसी सिद्धियों के होने का निर्देश है। ये सिद्धियाँ स्वतन्त्र संयम द्वारा भी साध्य हैं, यही यहाँ बताया है॥४१॥ [१४७]

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश-गमनम्॥४२॥ [१४८]

[कायाकाशयोः] देह और आकाश के **[संबन्ध-संयमात्]** संबन्ध में संयम करने से, **[लघुतूलसमापत्तेः]** हलके (आकाश में अनायास उड़ जानेवाले) रुई आदि पदार्थ में समापत्ति से **[च]** तथा **[आकाशगमनम्]** आकाश में जाना (योगी को सिद्ध हो जाना)।

योगी का जहाँ देह है, वहाँ देह के इधर-उधर जाने आने तथा हिलने-जुलने के लिए अवकाश देनेवाला आकाश विद्यमान

है। इन दोनों का परस्पर संबन्ध अथवा एक दूसरे में प्राप्ति है। इस संबन्ध में संयम करने से योगी को समाधि दशा प्राप्त हो जाने पर वह आकाश में जाने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। तथा आकाश में अनायास उड़ जानेवाला हलके-फुलके रुई आदि पदार्थ में समापत्ति से योगी अपने शरीर को इतना हलका कर लेता है, कि वह आकाश में ऊपर उठ जता है, पानी के ऊपर उसी प्रकार चला जाता है, जैसे ठोस पृथिवी पर, मकड़ी के जाले पर चलना एवं सूर्यकिरणों के सहारे चलना भी उसके लिए सम्भव हो जाता है। तब वह आकाश में इच्छानुसार जाना-आना कर सकता है।

सूत्र में प्रयुक्त 'समापत्ति' पद का अर्थ वही समझना चाहिए, जो प्रथम समाधिपाद के सूत्र ४१ बताया गया है ॥४२॥ [१४८]

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरण-क्षयः ॥४३॥ [१४९]

[**बहिः**] बाहर [**अकल्पिता**] कल्पना रहित [**वृत्तिः**] व्यापार [**महाविदेहा**] महाविदेहा नामक है [**ततः**] उससे [**प्रकाशावरणक्षयः**] प्रकाश के आवरण का क्षय हो जाता है।

शरीरविषयक अहङ्कार रहते हुए चित्त की जो बाह्य-वृत्ति होती है, वह 'कल्पिता' धारणा कही जाती है, यह सामान्य विदेहा धारणा है। शरीरविषयक अहङ्कार का परित्याग कर जब चित्त स्वतन्त्रता से अपना व्यापार (वृत्ति) चालू रखता है, वह धारणा अकल्पिता है, उसी को 'महाविदेहा' कहा जाता है। उसमें संयम करने से योगी के समस्त चित्त-मल क्षीण हो जाते हैं। प्रकाशमय सात्त्विक चित्त के मल क्लेश, कर्म आदि भाव हैं, ये ही चित्त के आवरण हैं, महाविदेहा धारणा में संयम करने से इसका नाश हो जाता है।

साधक योगी पहले कल्पिता धारणा से अपनी साधना प्रारम्भ करता है। इसमें सफल हो जाने पर इसके द्वारा अकल्पिता

धारणा को अविरत अभ्यास करता हुआ सिद्ध कर लेता है। इस सिद्धि के द्वारा योगी अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है। तथा इससे बुद्धिसत्त्व का क्लेश, कर्म-विपाकरूप वह आवरण नष्ट हो जाता है, जो रजस्-तमस् के कारण उभर आया था। रजस्-तमस् प्रभाव से उभरा हुआ अज्ञान आवरण सात्त्विक बुद्धि को ढक लेता है, तब बुद्धि तत्त्वज्ञान को प्रकाशित नहीं कर पाती। इस धारणा की सिद्धि से उस आवरण का क्षय हो जाता है, तब आवरणरहित हुआ योगी का चित्त यथेच्छ विचरण करता है एवं यथार्थज्ञान की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है॥४३॥ [१४९]

'परिणामत्रयसंयमात्' [३।१६] सूत्र से प्रारम्भ कर अब तक विविध संयम और उनसे प्राप्त सिद्धियों का विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर अब इस शास्त्र में मुख्यरूप से प्रतिपाद्य 'ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य' के विषय में संयम तथा उससे उद्भूत सिद्धियों को बताना अपेक्षित है। ग्रहीता और ग्रहण क्योंकि ग्राह्य के अवलम्ब से अपना यह नाम पाते हैं, अतः प्रथम ग्राह्यविषयक संयम और उससे होनेवाली सिद्धियों का विवरण देना आचार्य सूत्रकार प्रारम्भ करता है—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः॥४४॥
[१५०]

[स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्म-अन्वय-अर्थवत्त्वसंयमात्] स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व में संयम करने से **[भूतजयः]** भूतों पर विजय प्राप्त करलेता है योगी।

शास्त्रकारों ने भूतों के पाँच रूप बताये हैं। अर्थात् प्रत्येक भूत अपनी पाँच विशेषताओं के साथ जाने जाते हैं। वे पाँच रूप या विशेषता हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व।

स्थूल—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों का स्थूलरूप वही है, जो इनके अपने-अपने विशेष आकार आदि के साथ हमारे अनुभव में आता है। जैसे पार्थिव धर्म

हैं-गुरुता, रूक्षता, स्थैर्य, काठिन्य आदि। जलीय धर्म हैं-स्नेह, सौक्ष्म्य, मृदुता, गुरुता, शुक्लता आदि। तैजस धर्म हैं-ऊर्ध्वगति, दाहकता, पाचकता, लघुता, भास्वरता आदि। वायवीय धर्म हैं-तिर्यग्गति, पवित्रता, नोदन, छायाराहित्य, रूक्षता आदि। आकाशीय धर्म हैं-सर्वत्र व्याप्ति, संकोच-विकास से रहित, स्थिर तथा किसी मूर्त्ति या रचना आदि के रूप में न होना। इन विशेष धर्म आदि के साथ पृथिवी आदि भूतों का जो आकार हमारे सामने है, वह इनका स्थूल रूप है।

स्वरूप–पृथिवी आदि भूतों का जो अपना सामान्य रूप है, उसी को यहाँ 'स्वरूप' पद से कहा गया है। जैसे पृथिवी का नैसर्गिक काठिन्य अथवा गन्ध आदि। जल का मृदुता, शैत्य, स्नेह आदि। अग्नि का उष्णता व प्रकाश आदि। वायु का गतिशील होना आदि। आकाश का सर्वत्र व्याप्त होना अथवा शब्द आदि। धर्म-धर्मी का अभेद मानने की स्थिति में यह पृथिवी आदि भूतों का 'स्वरूप' नामक रूप है। यह सामान्य स्वरूप है। इसके विशेष धर्म यथाक्रम इस प्रकार हैं-काठिन्य में न्यूनाधिकता आदि तथा गन्ध के सुरभि-असुरभि आदि। हलका-भारी तथा शैत्य का न्यूनाधिक होना आदि औष्ण्य व प्रकाश की न्यूनाधिकता। गति की तीव्रता-मन्दता आदि। शब्द के षड्ज गान्धार आदि तथा मृदु-तीव्र आदि विशेष धर्म रहते हैं। धर्मी निरन्तर एक बना रहता है, केवल धर्म व्यावृत्त अथवा प्राद्र्भूत होता रहता है। यही पृथिव्यादि भूत द्रव्य का स्वरूप है। इस दर्शन में सामान्य-विशेष धर्मों का समुदाय द्रव्य माना जाता है।

यह समुदाय दो प्रकार का होता है। एक वह-जहाँ समुदाय के अवयवों का भेद छिपा रहता है, प्रकट व्यवहार में नहीं आता, जैसे-शरीर, वृक्ष, यूथ, संघ, वन-आदि पदों से जो समुदाय कहा गया, उसके अवयवों का भेद अन्तर्हित रहा है। दूसरा समुदाय वह है, जहाँ शब्द के द्वारा अवयवों का भेद

प्रकट कर दिया जाता है। जैसे कहा गया-'उभये देवमनुष्याः' इन पदों से देव और मनुष्यों का एक समूह कहा गया। यहाँ उस समूह का एक भाग अथवा अवयव देव हैं दूसरा भाग मनुष्य। यहाँ दोनों का मिलित एक समुदाय है, जिसके दोनों भागों (अवयवों) को दोनों पदों (देव-मनुष्य) से प्रकट कर दिया गया है। उस प्राकट्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए स्वतन्त्र 'उभये' पद का प्रयोग किया गया है। अथवा 'उभये' पद दोनों के मिलित समुदाय को कहता है, जब अभेद का कथन अभीष्ट है। 'देव-मनुष्यः' पद दो भागों के भेद को प्रकट करते हैं।

इसके अन्य उदाहरण-'आम्राणां वनम्, ब्राह्मणानां संघः' यहाँ षष्ठी विभक्ति द्वारा भेद विवक्षित है। विभक्ति अन्तर्हित हो जाने पर समस्त पद-'आम्रवनम्, ब्राह्मणसंघः' से अभेद का निर्देश अभीष्ट है। जो आम्र हैं, वही वन है, जो ब्राह्मण हैं, वही संघ है। आम्रों से भिन्न वन नहीं है।

यह समूह फिर दो प्रकार का है-युतसिद्धावयव तथा अयुतसिद्धावयव। पहला समुदाय वह है, जहाँ समुदाय के विभिन्न अवयव एक-दूसरे पर आश्रित न हों। जैसे-वन, संघ, यूथ आदि पदों से कहे गये समुदाय के अवयव एक-दूसरे पर आश्रित नहीं रहते। वन जिन वृक्षों के समूह का नाम है, वे वृक्ष एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र रूप से अन्तराल (फासले) के साथ उगे होते हैं। ऐसे ही संघ, यूथ आदि पदों को समझना चाहिए। गायों का संघ, हाथियों का यूथ आदि।

दूसरे प्रकार का संघात या समुदाय वह है, जहाँ अवयव एक-दूसरे से सटकर समूह बनाते हैं, उनमें परस्पर नितान्त भी अन्तराल नहीं रहता, वे सब अवयव अन्योन्यमिथुनीभूत होकर संघात को परिणत करते हैं। जैसे-शरीर, वृक्ष, परमाणु आदि। कोई शरीर-मानव, पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि का, इनमें समस्त अवयव एक-दूसरे के साथ नितान्त गुथे हुए, सर्वथा

अन्तरालरहित रहते हैं। इसी कोटि में वृक्ष, ओषधि, वनस्पति आदि हैं। पृथिवी आदि के परमाणु भी अपने कारण तन्मात्र तत्त्वों से परिणत होते हैं। वे तन्मात्र पूर्णरूप से अन्योन्यमिथुनीभूत होकर पृथिवी आदि के परमाणु को परिणत करते हैं। ये भी दूसरे प्रकार के संघात की कोटि में आते हैं। आचार्य पतञ्जलि[१] ने ऐसे ही समूह को 'द्रव्य' नाम दिया है।

सूक्ष्म—भूतों का सूक्ष्मरूप भूतों के कारण 'तन्मात्र' तत्त्व हैं। उन्हीं का परिणामविशेष परमाणु है। तन्मात्र तत्त्वों के यथायथ अन्योन्यमिथुनीभूत होने पर पृथिवी आदि के रूप में परमाणु परिणत होते हैं। प्रथम परिणत हुआ पार्थिव आदि परमाणु 'सूक्ष्मभूत' है। इनकी 'भूत' संज्ञा पृथिवी आदि रूप उभरने पर होती है। 'तन्मात्र' तत्त्वों को सूक्ष्मभूत समझना शास्त्रीय दृष्टि से संगत नहीं। सूत्र में 'सूक्ष्म' पद से पृथिव्यादि परमाणुरूप भूत के कारण का निर्देश हुआ है। प्रथम परिणत पृथिव्यादि परमाणु सामान्यविशेषात्मा है, अर्थात् सामान्य व विशेष धर्म इसमें अभिव्यक्त रहते हैं, जैसे अन्य ग्राह्य स्थूल पदार्थों में। आप्य, तैजस आदि परमाणुओं के विषय में भी यही क्रम समझना चाहिए। यह भूतों की तृतीयरूप 'सूक्ष्म' पद से बताया गया—कारणरूप।

अन्वय—चौथा रूप अन्वय है। सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुण यथाक्रम ख्याति [ज्ञान], क्रिया तथा स्थिति स्वभाववाले हैं। प्रत्येक कार्य में इनका यह स्वभाव संक्रान्त होता रहता है।

---

१. यह आचार्य पतञ्जलि, सूत्रकार पतञ्जलि मुनि नहीं है। इस नाम का यह अन्य आचार्य है, जिसने योगशास्त्र पर अपना कोई स्वतत्र ग्रन्थ लिखा था, जो आज उपलब्ध नहीं है। पर उस आचार्य के नाम से अनेक सन्दर्भ विभिन्न ग्रन्थों से उद्धृत उपलब्ध होते हैं। यथोपलब्ध सन्दर्भों का संकलन हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक रचना में अन्तिम अष्टम अध्याय के 'पतञ्जलि' प्रसंग में किया है। द्रव्य के इस स्वरूप का निर्देश करने वाला पतञ्जलि का सन्दर्भ है—"अयुतसिद्धाऽवयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यम्" जो प्रस्तुत सूत्र के व्यासभाष्य में उद्धृत है।

इसी भाव को यहाँ 'अन्वय' पद से कहा गया है। त्रिगुणात्मक विश्व त्रिगुण-स्वभाव से अन्वित है, यह भावना संयम की साधना में अपेक्षित रहती है।

अर्थवत्त्व–भूतों का पाँचवाँ रूप है। इस पद का अर्थ है–प्रयोजनवाला होना। भूतों का प्रयोजन है–पुरुषों के भोग और अपवर्ग को सम्पन्न करना। न केवल भूतों का, अपितु समस्त त्रिगुणात्मक विश्व चेतन आत्माओं के भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए है।

योगी जब भूतों के पूर्वोक्त पाँच रूपों में संयम करता है तब उसके सफल होने पर योगी को भूतविषयक समस्त वास्तविक परिस्थिति का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है। यह पाँच भूतों पर विजय प्राप्त करना है। भूतविजेता योगी की इच्छानुसार भूत उसका इस प्रकार अनुसरण करते हैं, जैसे गाय बछड़ों के पीछे भागती हैं। ऐसा योगी अपने संकल्प के अनुसार भूतप्रकृतियों से-जैसा चाहे-वैसा कार्य लिया करता है। आज के भौतिक-विज्ञानी ऐसे ही आंशिक योगी समझने चाहिएं॥४४॥ [१५०]

भूतों के संकल्पानुविधायी होने पर योगी को कैसी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, सूत्रकार ने बताया-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्माऽन-भिघातश्च॥४५॥ [१५१]

[ततः] उस भूतजय से **[अणिमादिप्रादुर्भावः]** अणिमा आदि सिद्धियों का प्रादुर्भाव हो जाता है **[कायसम्पत्]** शरीर सम्बन्धी सम्पदा का (प्रादुर्भाव हो जाता है), **[तद्धर्माऽनभिघातः, च]** और उन भूतों के धर्मों से कोई रुकावट नहीं होती (भूतजयी योगी के कार्यों में)।

भूतजय से प्राप्त सिद्धियाँ आठ या नौ बताई जाती हैं। वे हैं-**अणिमा**–अणु हो जाना, शरीर को बहुत छोटा बना लेना। **महिमा**–महान-बड़ा हो जाना विस्तार में, शरीर का बड़ा विस्तार

कर लेना। **लघिमा**–लघु–हलका हो जाना, शरीर के भार को बहुत कम कर लेना। **गरिमा**–गुरु–भारी हो जाना शरीर के भार को बहुत अधिक बढ़ा लेना। **प्राप्ति**–पहुँचना, अल्पकाल में बाह्यसाधन बिना–जहाँ चाहे–चले जाना या पहुँच जाना[१]। **प्राकाम्य**–इच्छा में रुकावट न आना, कामना के अनुसार कार्य का हो जाना, जल में डुबकी लगाने के समान भूमि में डुबकी लगा जाना आदि। **वशित्व**–भूत, भौतिक पदार्थों का वश में हो जाना अथवा उन पदार्थों को अपने वश में करना तथा अपने आपको अन्यों के वश में न होने देना। **ईशितृत्व**–भूत भौतिक पदार्थों के उत्पाद लय और यथायथ अवस्थिति के विषय में प्रभावी होना। **यत्रकामावसायित्व**–सत्य संकल्प होना, जिस पदार्थ से जो प्रयोजन सिद्ध करने की कामना हो, उसे पूरा कर देना। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऐसा योगी भूत–भौतिक पदार्थों में विपर्यास कर देता है, उन्हें बदल देता है। वह ऐसे कार्य में समर्थ होता हुआ भी ऐश्वरी सृष्टि की रचना में किसी प्रकार का विपर्यय कर देने की भावना कभी नहीं रखता। यद्यपि अपने संकल्प के अनुसार वह विष को भी जीवनरक्षा के लिए प्रयोग में ला सकता है, पर यह नहीं कर सकता कि चाँद को सूरज बना दे, या सूरज को चाँद, अथवा अन्धेरी रात को चाँदनी कर दे और चाँदनी को अन्धेरी। तात्पर्य–सृष्टि रचना की व्यवस्था में विपर्यास करने की उसकी भावना कभी नहीं उभरती।

'गरिमा' सिद्धि को 'महिमा' में अन्तर्भूत करके सिद्धियाँ आठ मानी जाती हैं। भूतों के स्थूलरूप पर विजय प्राप्त करने से पहली चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वरूप में संयम से भूतजय होने पर 'प्राकाम्य' सिद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रकार सूक्ष्म विषय में संयम से भूतजय होने पर 'वशित्व', अन्वय में

---

१. भाष्य में 'प्राप्ति' का उदाहरण दिया है–'अङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्' अङ्गुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को भी छू लेता है। वस्तुतः यह सिद्धि 'महिमा' से आ जाती है। 'प्राप्ति' का यह उदाहरण चिन्त्य प्रतीत होता है।

संयम से 'ईशितृत्व' तथा अर्थवत्त्व में संयम से 'यत्रकामावसायित्व' सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भूतों के उक्त पाँच रूपों में से किस रूप में संयम से कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है-यह विवेक किया गया।

उक्त सिद्धियों के अतिरिक्त कायसम्पदा भी भूतजय से प्राप्त होती है, जिसका विवरण अगले सूत्र में दिया है। भूतजयी योगी के कार्य में पृथिवी आदि भूत किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालते [तद्धर्मानाभिघातः] वह चाहे तो शिला में प्रवेश कर सकता है। जल उसे गीला नहीं कर सकते, आग जला नहीं सकती, वायु उड़ा नहीं सकता। ऐसा योगी खुले आकाश में भी अपने आपको ढक सकता है। आकाश का अनावरणभाव उसके इस कार्य में बाधक नहीं होता। वह सिद्ध पुरुषों के लिए भी अदृश्य हो जाता है॥४५॥ [१५१]

कायसम्पदा के विषय में सूत्रकार ने बताया-

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पद्॥४६॥
[१५२]

[रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि] रूप, लावण्य, बल, वज्र के समान देह की दृढ़ बनावट, ये **[कायसम्पद्]** शरीर की सम्पदा-ऐश्वर्य हैं।

भूतजयी योगी का देह रूपवान्-दर्शनीय हो जाता है तथा लावण्य-विशेष कान्ति से युक्त, बहुत बलवान् और वज्र के समान दृढ़ बन जाता है। शरीर के समस्त अवयव बड़े सुडौल कमनीय एवं सुदृढ़ हो जाते हैं। यह शारीरिक ऐश्वर्य है॥४६॥ [१५२]

इन्द्रियजय सिद्धि के विषय में सूत्रकार बताता है-

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्वसंयमा-
दिन्द्रियजयः॥४७॥ [१५३]

[ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमात्] ग्रहण,

स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व में संयम करने से **[इन्द्रियजयः]** इन्द्रियों का जय होता है।

गत सूत्र [४४] द्वारा भूतों के पाँच रूपों में संयम से जैसे भूतजय बताया है, ऐसे ही प्रस्तुत सूत्र में इन्द्रियों के पाँच रूपों में संयम करने से इन्द्रियजय कहा है। इन्द्रियों के वे पाँच रूप इस प्रकार हैं—

ग्रहण—रूप आदि एवं पृथिवी आदि अपने सामान्यविशेष धर्मों से युक्त पदार्थों में इन्द्रियों का व्यापार 'ग्रहण' है। ग्राह्य के बिना ग्रहण का बताया जाना सम्भव नहीं, अतः ग्राह्य विषय में इन्द्रियों की वृत्ति को 'ग्रहण' कहते हैं। यह ग्रहण सामान्य या साधारण न होकर विशेषतायुक्त रहता है, विषय को गहराई से या पूर्णरूप से जानना। शास्त्रीय दृष्टि से इसे विषय का 'आलोचन' कहा जाता है। यदि ग्राह्य-विषय का इस प्रकार ग्रहण न हो, तो अनन्तर काल में मन से उसका अनुव्यवसाय नहीं हो सकता। इन्द्रिय के इस रूप में संयम करना अपेक्षित होता है।

स्वरूप—सृष्टिक्रमानुसार जिस इन्द्रिय की जैसी रचना एवं व्यापार-कार्य है, वह उसका 'स्वरूप' है।

अस्मिता—इन्द्रियों का उत्पाद सात्त्विक अहंकार से होता है, इन्द्रियाँ उसका परिणाम होने से, वह इन्द्रियों का कारण है। उसी को यहाँ 'अस्मिता' पद से कहा है।

अन्वय—अस्मिता त्रिगुण का परिणाम है, अतः तीनों गुणों का उसमें अनुगत होना 'अन्वय' है।

अर्थवत्त्व—अर्थ-प्रयोजन वाला होना। इन्द्रियों का प्रयोजन है—पुरुष के भोग अपवर्ग को सम्पन्न करना।

इन्द्रियों के इन पाँचों रूपों में साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से योगी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसमें सार-रहस्य केवल इतना है कि इन रूपों के साक्षात्कार से आत्मा इन्द्रियों की वास्तविकता को जानकर उनसे अभिभूत

नहीं होता। इन्द्रियाँ अब उसे भुलावे में डालकर विषयों की ओर आकृष्ट नहीं कर पातीं।

अहंकार से रचना अथवा परिणाम-क्रम में दो धाराएँ चलती हैं-एक ग्रहण, दूसरा ग्राह्य। पहले में इन्द्रियाँ हैं, दस बाह्य और एक आन्तर इन्द्रिय मन। दूसरे में तन्मात्र तथा उनके परिणाम द्वारा सूक्ष्म एवं महाभूतों का उत्पाद। ये सब मूल में त्रिगुण के परिणाम होने से पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि में समानता रखते हैं। इसी के अनुसार भूतजय [४४ सूत्र] और इन्द्रियजय की रीति में सादृश्य है॥४७॥१५३॥

इन्द्रियजय का फल सूत्रकार ने बताया-

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥४८॥
[१५४]

[ततः] उससे-इन्द्रियजय से **[मनोजवित्वम्]** मन के समान वेगवाला हो जाना **[विकरणभावः]** देह के बिना इन्द्रियों का विषय-ग्रहण सामर्थ्य **[प्रधानजयः च]** और प्रधान-जय, ये सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

पाँच इन्द्रियों पर संयम द्वारा विजय प्राप्त करने से तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार हैं-

मनोजवित्व-शरीर और इन्द्रियाँ अपने कार्यों के सम्पादन एवं ग्राह्य विषयों के ग्रहण करने में मन के समान वेगवाले हो जाते हैं। तात्पर्य है-शरीर और पाँचों करण अपने कार्य करने के लिए अत्यधिक सशक्त बन जाते हैं। ये करण केवल ज्ञानेन्द्रिय हैं। शरीर की सशक्तता कर्मेन्द्रियों में संयम करने से प्राप्त होती है।

विकरणभाव-देहरहित अवस्था में भी उचित देश, काल के अनुसार ये इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में सशक्त हो जाती हैं।

प्रधानजय-प्रकृति और उसके विकारों पर ऐसी योगी का

वश हो जाता है। वह उनका अभिप्रेत कार्य के लिए निर्बाध प्रयोग कर सकता है।

इन तीनों सिद्धियों को योगशास्त्र में 'मधुप्रतीका' कहा जाता है। कदाचित् इनको यह नाम इसी कारण दिया गया हो कि आगे प्राप्त होने वाले मधुर भविष्यत् के ये प्रतीक-चिह्न हैं ॥४८॥ [१५४]

ग्राह्य और ग्रहण में संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का विवरण देने के अनन्तर अब ग्रहीता में संयम से क्या सिद्धि प्राप्त होती है? सूत्रकार ने बताया—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥ [१५५]

[सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य] बुद्धि और पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जानेवाले योगी को **[सर्वभावाधिष्ठातृ-त्वम्]** सब भावों पदार्थों पर अधिष्ठातृत्व–स्वामित्व–प्रशासकत्व प्राप्त हो जाता है, **[सर्वज्ञातृत्वं, च]** और सबका वह ज्ञाता हो जाता है।

सांख्य-योगशास्त्र में 'सत्त्व' पद मुख्य अन्तःकरण बुद्धि के लिए प्रयुक्त होता है। बुद्धि और पुरुष [चेतन आत्मतत्त्व] के भेद का साक्षात्कार हो जाने पर योगी आन्तर और बाह्य आदि सब भावों का अधिष्ठाता हो जाता है। उस दशा में रजोगुण और तमोगुण पूर्णरूप से प्रभावहीन हो जाते हैं, तथा सतोगुण प्रधान बुद्धितत्त्व ज्ञान (साक्षात्कार ज्ञान) प्रकाश से आलोकित रहता है। ऐसी दशा में आन्तर या बाह्य कोई भाव-विचार अथवा वस्तुतत्व योगी के लिए छिपा नहीं रह जाता; वह सबके ऊपर प्रभावी हो जाता है। आन्तर या बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल विकार तब उसे अपने वश में नहीं कर पाते अथवा योगी उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता। यही स्वरूप उसका भावों के अधिष्ठाता होने का है। उस अवस्था में समस्त त्रिगुणात्मक विकार अपने

स्वामी क्षेत्रज आत्मतत्त्व के सन्मुख खिलौने के समान उपस्थित हुए प्रतीत रहते हैं। वह उनको अपनी भावना के अनुसार व्यवहार में लाता है, उनके वशीभूत होकर नहीं रहता।

ऐसा योगी सब तत्त्वों की यथार्थता को-उनके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। तत्त्वों की कोई स्थिति ऐसी नहीं रहती, जिसे वह पहचान न सकता हो। इसी भावना से सूत्र में उसे 'सर्वज्ञाता' बताया गया है। इन सिद्धियों का शास्त्रीय नाम 'विशोका' है। जिसको प्राप्त कर योगी सर्वज्ञकल्प हो जाता है, ओर उसके सब क्लेश बन्धन नष्ट हो जाते हैं। वह आत्मवशी हुआ सर्वत्र विचरण करता है ॥४९॥ [१५५]

यह विवेकज्ञान का अवान्तर फल है। इसमें भी वैराग्य की भावना जागृत हो जाने पर विवेकख्याति का मुख्य फल सूत्रकार ने बताया—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥ [१५६]

[तद्-वैराग्यात्] उसमें वैराग्य से **[अपि]** भी **[दोषबीज-क्षये]** दोषों के बीज का क्षय हो जाने पर **[कैवल्यम्]** मोक्ष हो जाता है।

बुद्धितत्त्व की परम सात्त्विक अवस्था की ओर से भी जब योगी को वैराग्य की भावना जागृत होती है, वह देखता है कि यह विवेकज्ञान सात्त्विक बुद्धि का धर्म है। बुद्धि जड़ एवं प्राकृत तत्त्व है, प्रकृति से सम्पर्क त्यागने की दशा में यह भी त्याज्य है। यह तो त्रिगुणात्मक परिणामी तत्त्व है, चेतन आत्मतत्त्व अपरिणामी है, शुद्ध है, बुद्धितत्त्व से सर्वथा भिन्न। उस बुद्धि-सत्त्व की ओर से यह वैराग्य योगी को और ऊँचा उठा ले जाता है। वह समझता है कि उक्त विवेकज्ञान बुद्धि का परिणाम है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। तब वह केवल स्व-रूप में अवस्थित होने के लिए उस विवेकख्याति से विरक्त हो जाता है। यह परवैराग्य की अवस्था है। इसका उदय होने पर क्लेशों

के बीज अविद्या आदि एवं उनके संस्कार सब दग्ध होकर चित्त के साथ क्षीण हो जाते हैं, कार्य-समर्थ नहीं रहते। तब आत्मा के सन्मुख वैषयिक दृश्य सर्वथा शून्य हो जाते हैं, वह त्रिगुण-सम्पर्क में नहीं रहता, गुणों से पृथक् अकेला रह गया है, यह कैवल्य है, केवल स्वरूप में अवस्थित हो जाना। यद्यपि शुद्ध चेतन आत्मा सदा स्व-रूप में अवस्थित रहता है, वह अपने शुद्ध-चेतनरूप का परित्याग कभी नहीं करता, तथापि इसका तात्पर्य-किसी प्रकार के प्रकृति-सम्पर्क से सर्वथा पृथक् हो जाने में है। सारभूत है भोग की अवस्था से सर्वात्मना पृथक् हो जाना। इसी को शास्त्र में आत्मा की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' कहा है, केवल अपने रूप में प्रतिष्ठित रहना॥५०॥ [१५६]

दिव्य विभूतियों की प्राप्ति हो जाने पर अनेक बार योगी पथभ्रष्ट हो जाते हैं, उस दशा में अत्यन्त सतर्क रहना अपेक्षित होता है। इस भावना से आचार्य सूत्रकार ने बताया-

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुन-रनिष्टप्रसंगात्॥५१॥ [१५७]

[स्थान्युपनिमन्त्रणे] स्थानधारियों द्वारा सादर आमन्त्रित करने पर, योगी को **[सङ्गस्मयाकरणम्]** सङ्ग-आसक्ति और स्मय-अभिमान नहीं करना चाहिए, इससे **[पुनः]** फिर **[अनिष्टप्रसंगात्]** अनिष्ट के प्रसंग से।

योगी का परम लक्ष्य कैवल्य प्राप्त करना है। इसकी प्राप्ति के लिए जिन साधनों का अनुष्ठान किया जाता है, उसका मार्ग बहुत लम्बा है। निरन्तर अभ्यास से योगी कालान्तर में विविध प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है। अपने प्रधान लक्ष्य पर पहुँचने के लिए योगी इन सिद्धियों से अनुकूल उत्साह प्राप्त करता है, उसे विश्वास हो जाता है कि श्रद्धापूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहने से अवश्य अपने लक्ष्य को यथावसर प्राप्त कर सकूँगा।

ये सिद्धियाँ ही स्थानधारी दिव्यशक्तियाँ हैं, जो योगी को योग के किसी विशेष स्तर पर प्राप्त होती हैं। अनुकूल होने पर ये योगी को अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उत्साहित करती हैं, पर कभी कोई दुरदृष्ट होने पर उसे भ्रमा भी देती हैं। ये योगी को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। चित्त में तब रजस् का प्राबल्य होने पर विचार उठता है कि तुम्हें यह विशेष शक्ति प्राप्त हुई है, इसका उपभोग करना चाहिए। इस भावना से प्रेरित व्यक्ति जनसम्पर्क में आता है और वह विषयों में सिर से पैर तक डूबी जनता से घिर जाता है। लोग उसका अतिशय आदर करते और उसकी चमत्कारपूर्ण दिव्यशक्ति का उद्घोष करते हैं। यह आसंग उस योगभ्रष्ट व्यक्ति में अभिमान की मात्रा को उभार देता है, ये ही अनिष्ट प्रसंग हैं, जो उसे मँझधार में ले डूबते हैं। इसीलिए कारुणिक आचार्य सूत्रकार ने बताया कि जब योगी योग के ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है, जहाँ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उसे बहुत सतर्क रहना चाहिए और इन स्थानधारी शक्तियों के लुभाव में योगी को कभी नहीं आना चाहिए।

योगमार्ग में यह स्तर कब आता है, इसे आचार्यों ने इस प्रकार समझाया है। योगमार्ग के पथिक चार भागों में विभक्त किये जाते हैं प्राथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय।

प्राथमकल्पिक—वह योगी है, जिसने अभी योगाभ्यास प्रारम्भ किया है। जो योग के पहले स्तर तक पहुँचा है। यह सवितर्क समाधि का स्तर है। यहाँ तक कोई सिद्धि या दिव्यशक्ति प्राप्त नहीं होती।

मधुभूमिक—योगमार्ग का दूसरा वह स्तर है, जहाँ निर्वितर्क समाधि के द्वारा प्रज्ञा ऋतम्भरा हो जाती है। योग में इसका नाम 'मधुमतीभूमि' है। इस स्थिति को प्राप्त कर योगी भूतों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है।

प्रज्ञाज्योति—तीसरा वह स्तर है, जहाँ भूतों और इन्द्रियों

पर विजय प्राप्त कर लिया गया है। अब साधक अभ्यासी स्वार्थ-संयम (३।३५) से विशोका (१।३६) और संस्कारशेषा (१।१८, ४३ तथा ३।३) भूमियों को साधने का अभिलाषी है।

अतिक्रान्तभावनीय—चौथा स्तर है, जहाँ योगी मधुमती, मधुप्रतीका और विशोका नामक भूमियों की ओर से विरक्त हो चुका है। आत्मसाक्षात्कार के लिए अपेक्षित सब भूमियों को उसने पार कर लिया है। अब केवल चित्त का लय करना शेष है। यह चित्त उस समय सात प्रकार की 'प्रान्तभूमि-प्रज्ञा' वाला होता है [द्रष्टव्य २।२७]।

प्रथम वर्ग के योगी को कोई सिद्धि या विभूति प्राप्त नहीं होती, अतः उसके सामने इनके द्वारा आकर्षण की समस्या नहीं आती। तृतीय और चतुर्थ वर्ग के योगी उस स्तर को पार कर गये होते हैं, जहाँ विषयों की ओर आकर्षण की भावना जाग्रत होने का भय सम्भव है। उन्होंने भूत और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लिया होता है। चतुर्थवर्ग का योगी तो असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर योग की सिद्धि प्राप्ति के विचार से सर्वोच्च भूमियों की ओर से भी विरक्त हो चुका होता है। इसलिए द्वितीयवर्ग के ऋतम्भरा प्रज्ञावाले योगी को सिद्धिविशेष का लाभ उसे भोगों की ओर आकृष्ट करने के लिए उभर आ सकता है। इस स्तर पर योगी को अत्यन्त सावधान रहना आवश्यक है, जिससे प्राप्तसिद्धि का चमत्कार आसक्ति व अभिमान को जागृत कर योगी को पथभ्रष्ट न कर दे।।५१।।[१५७]

विवेकज्ञान के लिए पूर्वोक्त [सू० ३५ तथा ४९] संयम से अतिरिक्त उपाय सूत्रकार ने बताया—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्।।५२।।[१५८]

[क्षण-तत्क्रमयोः] क्षण और उसके क्रम में **[संयमात्]** संयम करने से **[विवेकजम्]** विवेकज **[ज्ञानम्]** ज्ञान हो जाता है।

जैसे वस्तु का सबसे छोटा कण परमाणु है, वैसे काल का सबसे अल्प अंश 'क्षण' है। इसको और स्पष्ट समझने के लिए आचार्यों ने बताया-परमाणु जितने काल में अपने पहले स्थान से चलकर अगले स्थान में पहुँच जाता है, उतना काल 'क्षण' माना जाता है। यह कल्पना से समझने की बात है, कि सर्वातिशायी सूक्ष्मकण परमाणु को स्थानान्तरित होने में कितना अत्यल्प समय लगता होगा। यह उतने ही स्थान का अतिक्रमण अभिप्रेत है, जो परमाणु ने घेरा है। उस क्षण के प्रवाह का विच्छेद न होना 'क्रम' पद का अर्थ है। क्षण और उसके क्रम में संयम करने से 'विवेकज ज्ञान' हो जाता है। योगशास्त्र में यह पारिभाषिक पद है। अगले सूत्र [५४] में इसका लक्षण किया गया है। उसका तात्पर्य है-योग के इस स्तर पर पहुँचकर योगी को सब विषयों का सब प्रकार का ज्ञान हो जाता है।

'क्षण' पद काल को कहता है। यथार्थरूप में काल कोई वस्तुभूत तत्त्व नहीं है।[१] घट पट आदि वस्तुभूत द्रव्य युगपत् विद्यमान रहते हैं, पर दो क्षणों का युगपत् होना असम्भव है। क्षण का क्रम भी काल्पनिक है, वस्तुभूत नहीं। क्रम का वास्तविक निर्देश वहाँ सम्भव है, जहाँ परिणाम हो। क्षण में परिणाम नहीं। तब 'क्षण' और उसका 'क्रम' इन पदों का तात्पर्य क्या है? वस्तुभूत तत्त्व में जो परिणाम होता है, उसे बताने या व्यवहार में अभिव्यक्त करने के लिए 'काल' की कल्पना की जाती है, जिसका प्रतीक 'क्षण' है। इसका तात्पर्य हुआ-प्रत्येक परिणत होनेवाली वस्तु कालाधिकरणक है, अर्थात् क्षण उसका आधार है। परिणाम का निर्देश व व्यवहार 'क्षण' प्रतीक पर आधारित है, वस्तु के परिणाम को क्षण के आधार पर व्यवहार में नापा या निर्देश किया जा सकता है, अन्यथा

---

१. सांख्य-योगाचार्यों ने काल तथा दिशा को वस्तुभूत तत्त्व स्वीकार नहीं किया। इसकी अधिक विस्तृत जानकारी के लिए 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः' सांख्यसूत्र [२।१२] का विद्योदयभष्य' द्रष्टव्य है।

नहीं। इस प्रकार 'क्षण' और उस पर आधारित 'परिणाम-क्रम' में संयम करने से विवेकज ज्ञान प्रकाश में आता है।

संयम से इस अतिसूक्ष्म स्थितियों का साक्षात्कार होने पर योगी के चित्त में से उस अतुल शक्ति का उद्‌भव हो जाता है, जिससे प्रत्येक क्षण में विद्यमान वस्तु को वह जान लेता है, चाहे वह अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न कैसी भी हो। 'विवेक' पद का अर्थ 'भेद' अथवा 'विशेषता' है। योग के इस स्तर पर पहुँचकर योगी में प्रत्येक वस्तु के भेद अथवा उसकी विशेषता को जान लेने का सामर्थ्य अभिव्यक्त हो जाता है, यही विवेकज ज्ञान है ॥५२॥ [१५८]

विवेकजज्ञान वस्तुतत्त्व को किस रूप में प्रस्तुत करता है, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५३॥ [१५९]

[**जातिलक्षणदेशैः**] जाति, लक्षण और देश से [**अन्यताऽवच्छेदात्**] भेद का निश्चय न होने के कारण [**तुल्ययोः**] समान प्रतीत होनेवाले दो पदार्थों का [**ततः**] उससे-विवेकजज्ञान से [**प्रतिपत्तिः**] निश्चय हो जाता है।

पदार्थों का एक-दूसरे से भेद का ज्ञान जातिभेद, लक्षणभेद तथा देशभेद से होता है। जैसे एक स्थान पर समान रंग-रूप की गाय और घोड़ी बँधी हैं, उनके भेद का कारण यहाँ जाति-भेद कहा जायगा। ऐसे ही दो गाय यदि एक स्थान पर बँधी हों, एक गोरी और एक काली। वहाँ जाति समान होने पर उनके भेद का कारण उनका लक्षणभेद है-कालापन और गोरापन। कहीं बैठे हुए व्यक्ति के पूरब की ओर एक फल आँवला रखा है वैसा ही दूसरा आँवला उसके उत्तर की ओर रखा है। यहाँ उनके भेद का कारण देशभेद है, न जातिभेद न लक्षणभेद।

वह बैठा हुआ व्यक्ति किसी अन्य कार्य में व्यस्त हो

जाता है, उसके अनजाने में दूसरा व्यक्ति पूरब की ओर के आँवले को उठाकर उत्तर की ओर के आँवले के बराबर रख देता है। बैठा हुआ व्यक्ति अपनी व्यस्तता से उठकर जब आँवलों की ओर ध्यान देता है, तो यह नहीं पहचान सकता कि इनमें कौन-सा आँवला पूरब का और कौन-सा उत्तर का है। क्योंकि उनके जाति, लक्षण और देश तीनों समान है। यहाँ अब संयम के फलस्वरूप उनको समझने का अवसर आता है। पूरब की ओर का आँवला जिस क्षण पूरब में रखा था, उस क्षण और आँवले के परिणामक्रम के सहभाव को संयमी योगी साक्षात् कर लेता है। वह जान लेता है, इनमें से अमुक आँवला उस क्षण पूरब की ओर रखा था। दोनों देशों के क्षण और क्रम के सहभाव का परस्पर भेद केवल योगी-चित्त द्वारा जाना जा सकता है, साधारण चित्तद्वारा नहीं। अन्त्यविशेष अथवा पदार्थों का अपना निजी व्यक्तित्व उस अंश में परस्पर भेदक नहीं हो पाता, जिसका उल्लेख आँवले के उदाहरण से ऊपर किया गया है। वहाँ केवल संयमजन्य सामर्थ्य से ही योगी उसे जान पाता है। उसी का नाम 'विवेकजज्ञान' है॥५३॥ [१५९]

आचार्य सूत्रकार ने विवेकजज्ञान का स्वरूप स्वयं बताया—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥५४॥ [१६०]

[**तारकम्**] तारनेवाला-संसार-सागर से पार करनेवाला [**सर्वविषयम्**] सबको विषय करने वाला, सब विषयों को अपने अन्दर समेटने वाला [**सर्वथा विषयम्**] सब प्रकार से विषयों को ग्रहण करनेवाला [**अक्रमम्**] क्रमरहित-एक साथ [**च-इति**] और इस प्रकार का है [**विवेकजं ज्ञानम्**] विवेकजज्ञान।

अन्य किसी के उपदेश के बिना जो स्वयं अपनी प्रतिभा से प्रकट होता है, वह 'विवेकज ज्ञान' है। वह सब पदार्थों को

बिना किसी क्रम से सब अवस्थाओं में विषय कर सकता है। ऐसे योगी के ज्ञान से कोई वस्तु छिपी नहीं रह जाती। वह अतीत, अनागत, वर्त्तमान के सब विषयों को सब प्रकार पूर्णरूप से स्पष्ट जान लेता है। सम्प्रज्ञात समाधि और योग की मधुमती भूमि आदि सब इसी का अंशमात्र हैं। योग वहाँ से प्रारम्भ होकर यहाँ पूर्ण होता है॥५४॥ [१६०]

कैवल्य के परम्परा साधन, विभूतियाँ तथा संयमों का विवरण प्रस्तुत कर पाद का उपसंहार करते हुए आचार्य सूत्रकार ने कैवल्य प्राप्ति का मुख्य स्तर बताया

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति॥५५॥ [१६१]

[सत्त्व-पुरुषयोः] सत्त्व-बुद्धि और पुरुष के **[शुद्धिसाम्ये]** शुद्धि के समान होने पर **[कैवल्यम्]** कैवल्य होता है। **[इति]** पाद की समाप्ति का द्योतक।

सूत्र में 'पुरुष' पद आत्म-तत्त्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। आत्मा नित्य शुद्ध-स्वभाव और चेतन है। सूत्र में 'सत्त्व' पद अन्तःकरण बुद्धि अथवा चित्त के लिए प्रयुक्त है। चित्त प्रकृति का कार्य होने से त्रिगुणात्मक है तथा रजस्, तमस् गुणों की प्रधानता से मलिन रहता है। योगाभ्यास के अन्तिम स्तर पर जब योगी चित्त में रजस्-तमस् नितान्त क्षीणशक्ति हो जाते हैं, तब सत्त्व का प्राधान्य होने पर चित्त शुद्ध-जैसा हो जाता है। तात्पर्य है-सात्त्विक चित्त में इतनी क्षमता हो जाती है कि उसके सहयोग से आत्मा को अपना साक्षात्कार बोध हो जाता है। इतने ही अंश में आत्मा की शुद्धता के साथ चित्त की समता समझनी चाहिए।

कैवल्य की प्राप्ति विवेकज्ञान-प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान होने पर होती है। यह आवश्यक नहीं कि विविध विभूतियों की एवं संयम से होनेवाले फलों की प्राप्ति के अनन्तर विवेकज्ञान हो, तब कैवल्य की प्राप्ति हो। कैवल्य के लिए केवल

विवेकज्ञान होना आवश्यक है, जो विविध विभूतियों की प्राप्ति के बिना भी हो सकता है। इसके लिए आठ योगाङ्गों के दृढ़ व निरन्तर अनुष्ठान के साथ ईश्वरप्रणिधान, प्रणवजप आदि आवश्यक साधन हैं। विवेकज्ञान से मोह, अविद्या आदि क्लेशों का क्षय होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित केवली हो जाता है। प्रकृति का सम्पर्क उससे छूट जाता है।

प्रस्तुत पाद में वर्णित विषयों को वाचस्पति मिश्र ने एक पद्य में संकलित किया है—

अत्रान्तरङ्गान्यङ्गानि परिणामाः प्रपञ्चिताः।
संयमाद्भूतिसंयोगस्तासु ज्ञानं विवेकजम्॥

इस पाद में योग के तीन अन्तरङ्ग अङ्ग और परिणामों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। विविध संयमों के फलस्वरूप विभूतियों का वर्णन तथा उनमें विवेकज ज्ञान को स्पष्ट किया है॥५५॥ [१६१]

॥ इति श्रीपूर्णसिंहतनुजनुषा तोफादेवीगर्भजातेन, 'बलिया' मण्डलान्तर्गत 'छाता' वासिश्री-गुरुवर्यकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवा-लब्धविद्योदयेन, बुलन्दशहर-मण्डलान्तर्गत 'बनैल'-ग्रामवासिना-**उदयवीर-शास्त्रिणा**-समुन्नीते पातञ्जलयोगदर्शन-विद्योदयभाष्ये विभूतिपादस्तृतीयः॥

गुणरामव्योमनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे।
गुरौ चैत्रसिताष्टम्यां पादः पूर्तिमगादयम्॥

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

गत तीन पादों में यथाक्रम समाधि का स्वरूप, समाधि के साधन, उनसे प्राप्त विभूतियों का विस्तृत वर्णन किया गया। उनके सम्बन्ध की अन्य प्रासंगिक चर्चा का भी यथास्थान उपपादन कर दिया गया है। इन सबके फलस्वरूप कैवल्य का प्रतिपादन करने के लिए अब चतुर्थ पाद का प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रसंग में कैवल्य के योग्य चित्त का विवरण प्रस्तुत करने की भावना से सूत्रकार ने प्रथम पाँच प्रकारों से होने वाली सिद्धियों का उल्लेख किया—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥१॥ [१६२]

[जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः] जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से प्राप्त होने वाली **[सिद्धः]** सिद्धियाँ (पाँच प्रकार की बताई गई हैं)।

पाँच प्रकार की सिद्धियाँ हैं—जन्मजा, औषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा, समाधिजा। इनमें सबसे पहली सिद्धि है—

जन्मजा—जो जन्म से प्राप्त हो, वह जन्मजा है। उसकी प्राप्ति के लिए चालू जीवन में अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती। पूर्व जन्म के सुकृत कर्म व योगानुष्ठानों के प्रभाव से जन्म के साथ ही वह सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जैसे—कपिल आदि परमर्षियों को प्राप्त हुई। दूसरी सिद्धि है—

ओषधिजा—विशेष ओषधियाँ व रसायन आदि के प्रयोग से जो शरीर व इन्द्रियों आदि में दिव्य शक्तिरूप सिद्धि का प्रादुर्भाव होना है, वह ओषधिजा सिद्धि है। इसका प्रचलन प्रायः आसुर वर्ग में अधिक रहा है। सिद्धि प्राप्ति की इस पद्धति में आधिभौतिक भवनाओं का प्राधान्य एवं आध्यात्मिक भावनाओं

की उपेक्षा रहती है। प्रकार व आधारभेद होने पर भी सिद्धि प्राप्त होना असन्दिग्ध है। योगजनित सिद्धियों में उसकी गणना आपत्तिजनक न समझनी चाहिए। तीसरी सिद्धि है-

मन्त्रजा–'मन्त्र' पद का अर्थ मनन व चिन्तन करना है। यह मानसी क्रिया है, जो निरन्तर चलती है। इसी का अन्य नाम 'भावना' है। इसके अनवरत अभ्यास से भावना में एक अलौकिक दृढ़ता आती है, जो भावित विषयक ज्ञान में दिव्य शक्ति को जन्म देती है, वह 'मन्त्रजा' सिद्धि है। गायत्री व प्रणव आदि के जब इसी के अन्तर्गत आते हैं। तान्त्रिक पद्धति से प्राप्त सिद्धियाँ भी इसी में अन्तर्निविष्ट समझनी चाहिएँ। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्काररूप सिद्धियाँ भी इसी पद्धति के परिणाम हैं। गत एक सूत्र [२।४४] में इस सिद्धि का संकेत है। चौथी सिद्धि है-

तपोजा–यम-नियमों का निष्ठा से पालन करने पर शरीर और इन्द्रियों में जो अलौकिक चमत्कारपूर्ण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, वह तप से होने वाली सिद्धि मानी जाती है। गत सूत्र [२।४३] में इसका संकेत उपलब्ध है, तप से देह व इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय होकर निर्मल देह और इन्द्रियाँ अध्यात्म दिशा में सर्वोच्च प्रगति के लिए पूर्ण सशक्त होते हैं। पाँचवीं सिद्धि–

समाधिजा–का विस्तृत विवरण गत विभूति पाद में प्रस्तुत कर दिया गया है॥१॥ [१६२]

शिष्य जिज्ञासा करता है-उक्त सिद्धियाँ देह और इन्द्रियों के असाधारण दिव्य परिणामरूप हैं। वे परिणाम क्या पूर्वदेह और इन्द्रियों के उन्हीं उपादान कारणों से सम्पन्न हो जाते हैं, अथवा अन्य उपादान कारण अपेक्षित रहते हैं? आचार्य सूत्रकार ने बताया–

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥२॥ [१६३]

[जात्यन्तरपरिणामः] अन्य प्रकार व जाति में बदल जाना **[प्रकृत्यापूरात्]** प्रकृति-उपादान कारणों की अपेक्षित पूर्ति से होता है।

शरीर और इन्द्रियों के दिव्यरूप में परिणत होने के लिए पूर्वदेह और इन्द्रियों के कारणों में जो न्यूनता होती है, उसकी पूर्त्ति उन परिणामों के अनुकूल अन्य उपादान कारणों से हो जाती है। देह के कारण पाँच भूत हैं तथा इन्द्रियों का कारण अस्मिता- अहंकार है। जब योगी के देह-इन्द्रियाँ दिव्य रूप में परिणत होते हैं, तब पहली रचना के अपेक्षित कारणतत्त्व बने रहते हैं, अनपेक्षित निकल जाते हैं, उनके स्थान पर दिव्यता के अनुरूप अन्य अपेक्षित उपादान तत्त्व उस कमी को पूरा कर देते हैं। यह सब परिणाम-कार्य योगज धर्म के सहयोग एवं प्रभाव से हुआ करता है। रसायन आदि औषधि प्रयोगों के द्वारा होने वाले सिद्धिरूप परिणामों में भी योगज धर्म की निमित्तता अप्रतिहत बनी रहती है। रसायन आदि के ऐसे प्रयोग योग्य-सहयोगी पद्धतियों द्वारा किये जाने पर पूर्ण सफल होते हैं॥२॥ [१६३]

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या योगज धर्म प्रकृति तत्त्वों को सीधा प्रेरित करता है, या होनेवाले अनुकूल परिणाम में जो बाधायें हैं, उनको केवल हटा देता है? जिससे प्रकृति (उपादान) तत्त्व अपना कार्य निर्बाध कर सकें। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥३॥ [१६४]

[निमित्तम्] निमित्त-योगज धर्म **[अप्रयोजकम्]** प्रयोजक-प्रेरक नहीं होता सीधा **[प्रकृतीनाम्]** उपादान तत्त्वों का वरण-बाधा का भेदन तो होता है **[ततः]** उससे (निमित्त-योगज धर्म से) **[क्षेत्रिकवत्]** क्षेत्रिक-किसान के कार्य के समान।

सूत्रकार ने इस तथ्य को लौकिक दृष्टान्त द्वारा समझाया-जैसे किसान एक क्यारी से दूसरी क्यारी में पानी ले जाना चाहता है, तब वह पानी को सीधा अपने हाथ से खींचकर नहीं ले जाता, प्रत्युत पानी को रोकनेवाली मेंड़ को हटा देता है। उस बाधा के हट जाने पर पानी यथेष्ट स्थान में स्वयं बहकर पहुँच जाता है। अथवा प्रत्येक पौधे की जड़ में किसान अपने हाथ से जलीय एवं भौम (भूमिसम्बन्धी) रसों को नहीं पहुँचाता, प्रत्युत खेत में अभीष्ट धान्य के अतिरिक्त जो खरपत-घास कवाड़ उपजा होता है, उसको उखाड़कर फेंक देता है। खेत से इन बाधाओं के हट जाने पर जलीय आदि रस अभीष्ट पौधे की जड़ में स्वयं पहुँचते रहते हैं। इसी प्रकार योगी के देह-इन्द्रियादि में होनेवाले अनुकूल परिणामों के सन्मुख जो बाधायें होती हैं, योगज धर्म उनको हटा देता है, तब प्रकृतियाँ अर्थात् अनुकूल उपादान तत्त्व अभीष्ट परिणाम के लिए स्वयं प्रवृत्त होते रहते हैं। धर्म सीधा उनको प्रेरित नहीं करता। इस प्रकार निर्बाध प्रवृत्त हुए उपादान तत्त्व अवयवों की न्यूनता को पूरा कर देते हैं।

कभी योगजधर्म उभरते हुए प्रबल अधर्म को हटा नहीं पाता, तब परिणाम अशुद्ध हो जाता है। अभीष्ट परिणाम के स्थान पर अनिष्ट परिणाम हो जाता है। इसलिए ऐसे स्तर पर योगी को सदा अनावश्यक अभिमान एवं अनभिवाञ्छनीय आचरण से सावधानतापूर्वक बचना चाहिए॥३॥ [१६४]

शिष्य जिज्ञासा करता है, योगी सिद्धियों के प्रादुर्भूत होने पर जब अनेक देहों की रचना कर लेता है, तब एक ही अन्तःकरण से सब देहों में कार्य कैसे करता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥४॥ [१६५]

[निर्माणचित्तानि] बनाये हुए चित्त **[अस्मितामात्रात्]** केवल अस्मिता-अहंकार से।

जैसे सिद्धिप्राप्त योगी प्राकृतिक उपादान तत्त्वों के सहयोग से देहान्तर परिवर्त्तन कर लेता है, ऐसे ही उस देह के लिए उपयोगी चित्त का वह अहंकार उपादान से निर्माण कर लेता है।

प्रतीत होता है, इस सूत्र की स्पष्ट व्याख्या करने में प्रायः व्याख्याकारों ने उपेक्षा बरती है। इसकी स्पष्टता के लिए प्रथम सूत्रपदों के अर्थ को समझना चाहिए । "निर्मीयन्ते इति निर्माणानि, निर्माणानि च तानि चित्तानि, इति निर्माणचित्तानि"[१] जो बनाये गये हैं चित्त, वे 'निर्माणचित्त' हैं। किस उपादान से बनाये गये? उत्तर मिला-'अस्मितामात्रात्' अस्मितामात्र से। यहाँ 'अस्मिता' पद से 'मात्रच्' प्रत्यय प्रमाण अर्थ में है। केवल अस्मिता उपादान से चित्त का निर्माण हुआ है।

इससे स्पष्ट होता है, योगशास्त्र में 'चित्त' पद का प्रयोग 'मनस्' अन्तःकरण के लिए हुआ है, बुद्धि के लिए नहीं, जिसका अन्य नाम महत्तत्त्व है। महत्तत्त्व की रचना अहंकार महत् के अनन्तर उत्पन्न होता है। प्रस्तुत सूत्र में अहंकार से चित्त की उत्पत्ति बताकर यह स्पष्ट कर दिया है कि चित्त पद मन के अर्थ में प्रयुक्त है।[२] दो-तीन स्थलों को छोड़कर समस्त योगसूत्रों में मन के लिए चित्त पद का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न होता है, सिद्धि प्राप्त हो जाने पर योगी क्या अपने पूर्व शरीर में कतिपय अवयवों के अपहार तथा अपेक्षित प्रकृति-आपूर से एक समय में एक ही जात्यन्तर-परिणाम करता है? अथवा अपने पूर्वदेह के अतिरिक्त अन्य अनेक देहों का युगपत् निर्माण कर लेता है?

सिद्धयोगी के द्वारा एक काल में (युगपत्) अनेक देहों के निर्माण की भावना गौतम न्यायसूत्रों के व्याख्याकार वात्स्यायन

---

१. 'निर्' उपसर्गपूर्वक 'मानार्थक' 'मा' धातु से भाव अर्थ में ल्युट् [३।३।११५] प्रत्यय होकर 'निर्माण' पद व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है-'रचना'

२. द्रष्टव्य सूत्र-१।३५॥, २।५३॥, ३।४८॥

मुनि के एक[१] सन्दर्भ में ज्ञात होती है। वहाँ प्रसंग है-ज्ञान विभु आत्मा का गुण हो सकता है, अणु मन का नहीं, इसी को स्पष्ट व पुष्ट करने के लिए सिद्ध योगी का उदाहरण दिया है। ऐसा योगी इन्द्रियसहित अनेक शरीरों का निर्माण करके उन-उन शरीरों में युगपत् अनेक ज्ञेय पदार्थों को जान लेता है। यह बात विभु आत्मा में सम्भव हो सकती है, क्योंकि वह विभु होने से अनेक शरीरों के साथ सम्बद्ध रहने के कारण वहाँ युगपत् विषयों को ग्रहण कर लेता है। यदि ज्ञान को अणु मन का गुण माना जाय, तो योगी की उक्त स्थिति सम्भव न होगी, क्योंकि एक अणु मन एक ही शरीर में रह सकता है, अन्यत्र नहीं।

विचारना चाहिए, दार्शनिक अथवा वास्तविक दृष्टि से सिद्धिप्राप्त योगी के लिए क्या युगपत् अनेक ज्ञान होना सम्भव है? युगपत् होनेवाले अनेक ज्ञानों में सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रकार के ज्ञान हो सकते हैं। युगपत्-एक ही क्षण में ऐसे दो ज्ञानों का होना असम्भव है। शरीर या इन्द्रियाँ भले ही अलग-अलग हों, पर अनुभूति करनेवाला आत्मा तो एक है। वह एक ही क्षण में अनुकूल-प्रतिकूल दोनों का अनुभव करे, यह सम्भव नहीं।

दूसरी बात इसी सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि युगपत् अनेक शरीरों के निर्माण की भावना योगसूत्र से प्रतिफलित होता है, या नहीं? यहाँ सूत्र में 'जात्यन्तरपरिणामः' कहा है। इसका तात्पर्य है अपने जन्मप्राप्त पहले शरीर को अन्य प्रकार (जाति)

---

१. न्यायदर्शन [३।२।२०] सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन मुनि ने लिखा है-"योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु तेषु युगपज्ज्ञेयानुपलभते। तच्चैतद्विभौ ज्ञातर्युपपद्यते नाणौ मनसीति।"

योगी निश्चित ही सिद्धियों के प्रादुर्भूत हो जाने पर इन्द्रिय व्यवस्था से बँधा हुआ नहीं रहता, वह इन्द्रियों सहित अन्य शरीरों का निर्माण कर उन-उन शरीरों में ज्ञातव्य पदार्थों को प्राप्त करता एवं जान लेता है। यह स्थिति आत्मा के विभु होने पर सम्पन्न हो सकती है, अणु मन में नहीं। अतः ज्ञान को आत्मा का गुण मानना चाहिए, मन का नहीं।

के शरीर में परिणत कर लेना। यदि ऐसे परिणाम में पूर्वशरीर से अतिरिक्त तत्त्वों की अपेक्षा होती है, तो योगी अपने सामर्थ्य-विशेष से उन उपादान तत्त्वों का संग्रह कर लेता है तथा पूर्वदेह के अनपेक्षित तत्त्वों का परित्याग कर देता है। इस सूत्र से युगपत् अनेक शरीरों के निर्माण की भावना ध्वनित नहीं होती। अतः वात्स्यायन के लेख का आधार चिन्तनीय दशा में चला जाता है।

कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूत्र में अनेक चित्तों के निर्माण का कथन इस तथ्य को उजागर करता है कि योगी युगपत् अनेक शरीरों का निर्माण कर लेता है। अन्यथा अनेक चित्तों के निर्माण की क्या आवश्यकता होती है?

वस्तुतः अनेक चित्तों के निर्माण का कथन गम्भीरता से विचारणीय है। पूर्वदेह के 'जात्यन्तरपरिणाम' के परिप्रेक्ष्य में इस पर विचार करना होगा। जात्यन्तरपरिणाम में योगी के पूर्वदेह का अन्य जातीय देह के रूप में परिणाम होता है। यहाँ युगपत् अनेक देहों के परिणाम का कोई निर्देश व संकेत नहीं है।

विभूतिपाद के उपान्त्य सूत्र [५४] में जो सर्वविषयक युगपत् होनेवाले तारक-संज्ञक ज्ञान का वर्णन है, वह सर्ववस्तुविषयक ज्ञान के युगपत् [अक्रमम्] होने का है, अनेक देहों के युगपत् होने का नहीं। सर्ववस्तुविषयक युगपत् ज्ञान एक देह में भी योगी को हो सकता है।

अब विचारणीय है-अनेक चित्तों के निर्माण का रहस्य क्या है? वस्तुतः सर्वोच्च स्तर पर पहुँचे हुए योगी का चित्त नितान्त शुद्ध सात्त्विक व पूर्ण शान्त हो चुका होता है। योगी के मानव देह के अन्य जातीय देह में परिणत होने पर योगी का पहला शुद्ध चित्त उस जाति के अनुरूप कार्य करने में अक्षम रहता है। उस जाति के देह में उसी जाति के अनुरूप कार्य करनेवाला चित्त होना चाहिए। नितान्त शुद्ध चित्त विषयों में प्रवृत्ति का प्रयोजक नहीं होता, अतः उन-उन जातियों के

अनुरूप चित्तों का निर्माण योगी कर लेता है, जिन विविध जातियों के रूप में वह अपने देह को परिणत करता है।

यद्यपि अशुद्ध चित्त-विषयानुरक्त एक चित्त अनेक जातियों में उसी के अनुरूप कार्य करने में समर्थ रहता है। जैसाकि जन्म-जन्मान्तरों में प्राप्त होनेवाली विविध जातियों में आत्मा के साथ एक ही वह चित्त सम्बद्ध रहता है, जो सर्गादिकाल में परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार उसके साथ सूक्ष्मशरीर का अंग बनाकर लगा दिया गया है। योगीद्वारा निर्मित चित्त किसी एकजातीय परिणत देह के साथ उस देह के अवस्थितिकाल तक रहता है। देह के न रहने पर वह चित्त नहीं रहता। जब योगी उसे छोड़कर अन्य जातीय देह के रूप में अपने मानव देह को परिणत करता है, तब उसके अनुरूप अन्य चित्त का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार अनेक चित्तों के निर्माण की स्थिति स्पष्ट होती है। योगी का प्रधान शुद्ध चित्त उसी रूप में निरन्तर बना रहता है। पर वह योगी द्वारा अन्यजातीय परिणत देह में उसके अनुरूप कार्य करने में-नितान्त शुद्ध-सात्त्विक होने के कारण असमर्थ रहता है।

वात्स्यायन मुनि का उक्त सन्दर्भ [न्यायसूत्र, ३।२।२०, पर] आत्मा की विभुता को प्रमाणित करने की भावना से लिखा गया है। पर योगशास्त्र में सिद्धयोगी द्वारा युगपत् अनेक देहों के निर्माण का कोई संकेत न होने से वह आधार शिथिल हो जाता है। कालान्तर से जात्यन्तरपरिणाम में अनेकजातीय देह युगपत् न होने से आत्मा को अणु या परिच्छिन्न (एकदेशी) मानने पर कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। इस दर्शन के व्यासभाष्य [४।१०] में भाष्यकार ने आचार्य नाम से शास्त्रीय मत यह प्रकट किया है, चित्त विभु है। उसकी वृत्ति (व्यापार) संकोच-विकासशालिनी होती है। तात्पर्य है-चित्त के विभु मानने पर उसका व्यापार एकदेशी होना सम्भव है। योगी द्वारा चित्त-निर्माण की स्थिति में चित्त का विभु मानना चिन्तनीय प्रतीत होता है। यह भी जिज्ञासा

शान्त नहीं हो पाती, कि अन्य चित्त-निर्माण की स्थिति में योगी आत्मा दो चित्तवाला होना कैसे निर्बाध मान लिया जाता है? जात्यन्तर-परिणाम के अवसर पर पहले शुद्ध चित्त के विद्यमान रहते वह अन्य चित्त का भी निर्माण कर लेता है, तब द्विचित्तता का सामञ्जस्य कैसे किया जाय?

यह सम्भव है, सूत्रकार ने इन सूत्रों द्वार जिस अन्तर्हित रहस्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, कदाचित् उस वास्तविक स्थिति को यथायथ रूप में अभी उघाड़ा नहीं जा सका ॥४॥ [१६५]

निर्माणचित्तों का नियन्त्रण एक मुख्य चित्त द्वारा होता है; यह सूत्रकार ने बताया--

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥ [१६६]

[**प्रवृत्तिभेदे**] प्रवृत्ति के भेद में [**प्रयोजकम्**] प्रयोजक होता है [**चित्तम्**] चित्त [**एकम्**] एक [**अनेकेषाम्**] अनेक का।

कालभेद से जात्यन्तर-परिणत देहों में निर्माणचित्त जब ऐसी प्रवृत्ति की ओर सिद्धयोगी को आकृष्ट करने की स्थिति में आता है, जो योगमार्ग अथवा अध्यात्ममार्ग से योगी को दूर हटा ले जाये, तो उस प्रवृत्ति को रोकने में योगी का मुख्य चित्त प्रयोजक होता है, जो मल विक्षेप आदि के क्षय से नितान्त शुद्ध हो चुका है। उन-उन विभिन्न देहों में निर्माण चित्तों की अवाञ्छनीय प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने में शुद्ध चित्त प्रयोजक होता है। वह निर्माण चित्तों को उन्मार्ग पर जाने से रोके रखता है। वह मुख्य शुद्ध चित्त, जो सर्गादिकाल से आत्मा के साथ सम्बद्ध है, निर्माणचित्तों को अध्यात्म विरोधी मार्ग पर जाने से रोके रखता है, जिससे योगी आत्मा पथभ्रष्ट होने से बचा रहता है ॥५॥ [१६६]

आचार्य सूत्रकार ने उसी चित्त के विषय में बताया--

तत्र ध्यानजमनाशयम्॥६॥ [१६७]

[तत्र] उन चित्तों में से जो चित्त **[ध्यानजम्]** ध्यान एवं समाधिद्वारा शुद्ध सात्त्विकरूप में अभिव्यक्त हो गया है, वह **[अनाशयम्]** आशय-वासनाओं से रहित हो चुका है। अब वासना उसको प्रभावित नहीं कर पाती।

समाधि की अन्तिम सीमा तक संस्कार बने रहते हैं। यदि उन संस्कारों में कोई प्रबल हो उठे, तो उससे निर्माणच्चित्तों के प्रभावित होने की सम्भावना बनी रहती है। पर जो मुख्य चित्त समाधिद्वारा नितान्त शुद्ध हो चुका है, अब उसे कोई संस्कार दबा नहीं पाते। सूत्र के 'अनाशयम्' पद का यही तात्पर्य है। इसी कारण गत सूत्र में कहा गया है कि वह चित्त अन्य निर्माण-चित्तों को नियन्त्रण में रखकर योगी को निर्माणचित्तों द्वारा पथभ्रष्ट होने की सम्भावना से बचाये रखता है॥६॥ [१६७]

शिष्य जिज्ञासा करता है, योगी भी अयोगियों के समान अनेक कर्म करते देखे जाते हैं, वे कर्म अयोगियों के समान योगी को क्यों नहीं बाँधते? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥७॥ [१६८]

[कर्म] कर्म **[अशुक्लाकृष्णम्]** न शुक्ल न कृष्ण होता है, **[योगिनः]** योगी का, **[त्रिविधम्]** तीन प्रकार का होता है **[इतरेषमा्]** अन्य व्यक्तियों-अयोगियों का।

व्यक्तियों द्वारा किये जाते कर्म चार प्रकार में वर्गीकृत होते हैं-शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, मिश्रित-न शुक्ल, न कृष्ण। इनका विवरण इस प्रकार है—

शुक्ल—वे पुण्य कर्म हैं, जो ब्रह्मचर्य आदि तप, वेद एवं अध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा परमात्मा के ध्यान आदि के रूप में किये जाते हैं।

कृष्ण—वर्ग में वे पाप कर्म आते हैं, जो दुरात्माओं द्वारा

बाह्य साधनों के सहारे अन्य व्यक्तियों को अकारण पीड़ा पहुँचाये जाने आदि के रूप में किये जाते हैं। हिंसा, असत्य, स्तेय, दुराचार बलात्कार आदि के रूप में ये कार्य किये जाते हैं।

शुक्ल-कृष्ण मिश्रित—वर्ग में वे कर्म आते हैं, जो बाह्यसाधनों का आश्रय लेकर शुभ अशुभ रूप में किये जाते हैं। कृषि आदि शुभ कार्य करते हुए उसमें अनेक अशुभकर्म हो जाते हैं, जो अनिवार्य हैं। उसमें अनेक प्राणी मारे व ताड़े जाते हैं। फसलों की रक्षाहेतु अन्य प्राणियों को अनभिलषित कष्ट पहुँचता है, यह अनिवार्य है, इसको टाला नहीं जा सकता। ऐसे कर्म साधारण जनता द्वारा होते रहते हैं।

अशुक्ल-अकृष्ण—वे कर्म हैं, जो आत्मज्ञानियों द्वारा देहादि रक्षा के लिए उस अवस्था में किये जाते हैं, जब वे समस्त कर्मों की फलप्राप्ति कामना का पूर्ण परित्याग कर चुके होते हैं। ऐसे शुभ कर्मों का योगी को चालू जीवन में फल नहीं मिलता। वर्त्तमान में जीवनमुक्त हो जाने पर उनका जीवन केवल प्रारब्ध कर्मों के फल भोगने के रूप में चलता रहता है। क्योंकि इस जीवन में उनका फल नहीं मिलना है और जीवनमुक्त हो जाने के कारण इस देहपात के तत्काल अनन्तर मोक्ष हो जाने से नया देही जीवन आगे प्राप्त नहीं होता, परन्तु किया कर्म कभी निष्फल नहीं जाता, अतः ये शुभ कर्म-संस्काररूप से मुक्त आत्मा में अवस्थित रहते हैं। मोक्षकाल पूरा हो जाने पर इन्हीं के कारण वह आत्मा पुनः संसार में देहधारण करता है।

जीवनमुक्त होने पर देहपात के अनन्त सद्यः फलप्रद न होने के कारण इन शुभ-शुक्ल कर्मों को 'अशुक्ल' कहा जाता है। ऐसा जीवनमुक्त आत्मा अशुभ कर्म उस अवस्था में कभी कर ही नहीं सकता, इसलिए उसके कर्म 'अकृष्ण' कहे जाते हैं। यह नाम यथार्थ है और पहला 'अशुक्ल' नाम औपचारिक है। भोगने के लिए केवल उतने शुक्ल कर्म रहने पर भी उनका

सद्यः फलभोग सम्भव न होने से उन्हें न होने के बराबर समझ लिया जाता है। इसी औपचारिकता के आधार पर उन्हें 'अशुक्ल' नाम दिया गया। वस्तुतः वे कर्म नितान्त शुक्ल होते हैं एवं मोक्षकाल पूरा होने पर सर्गादिकाल अथवा कभी मध्यसृष्टि काल में ऐसे आत्माओं का पुनः देहधारण करना सम्भव होता है।

इस प्रकार पूर्णयोगी जीवनमुक्त आत्मज्ञानी के कर्म 'अशुक्ल-अकृष्ण' होते हैं। अन्य मानव समुदाय के कर्म यथायथ तीन प्रकार के होते हैं-शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित, जैसा व्याख्या के प्रारम्भ में निर्देश कर दिया गया है। योगी के कर्म वासनारहित होते हैं, शेष सब वासनामूलक ॥७॥ [१६८]

शिष्य जिज्ञासा करता है, अनादिकाल से कियेजाते कर्मों के संस्कार व वासना आत्मा में सञ्चित रहते हैं। वे सब किसी एक जन्म में उभरते क्यों नहीं? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया–

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥
[१६९]

[ततः] उस त्रिविध कर्म से **[तद्विपाकानुगुणानाम्]** उन कर्मों के परिपाक-फलों के अनुरूप **[एव]** ही **[अभिव्यक्तिः]** प्रकट होना होता है **[वासनानाम्]** वासनाओं का।

त्रिविध कर्मजनित सञ्चित संस्कार व वासनाओं में से वे ही संस्कार व वासना एक जन्म में प्रकट हो पाते हैं, जो सद्यः फलोन्मुख होते हैं। अर्थात् जिनका फल तुरन्त मिलनेवाला होता है।

आचार्यों ने कर्म-समूह के तीन भेद किये हैं-सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण।

सञ्चित–वे संस्कार व वासना हैं, जो अनादिकाल से किये जाते रहे कर्मों से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु जिनका फल अभी

तक नहीं भोगा गया। वे आत्मा में संस्कार व वासनारूप से एकत्रित (सञ्चित) रहते हैं।

प्रारब्ध—अगणित सञ्चित संस्कारों में से जो संस्कार सद्यः फलोन्मुख होते हैं, उनके अनुरूप किसी विशेष योनि में आत्मा देहधारण करता है। इस जन्म अथवा जीवनकाल के प्रारम्भक होने के कारण इन संस्कारों का नाम 'प्रारब्ध' है।

सञ्चित संस्कारों में से सद्यः फलोन्मुख संस्कारों का चुनना परमात्मा के हाथ का काम है। किसी योनि में किसी आत्मा का देहधारण करना उसके संस्कारों के अनुसार होता है। मान लीजिये, एक आत्मा गाय की योनि में देह-धारण करनेवाला है। इसमें उसके सद्यः फलोन्मुख संस्कार निमित्त होते हैं। यहाँ उसी के अनुरूप संस्कारों की अभिव्यक्ति होगी, अन्य मानव अथवा अश्वादि योनियों के अनुरूप संस्कारों की नहीं। इसी तथ्य को सूत्र में 'तद्विपाकानुगुण' पद से कहा गया है। सञ्चित कर्मों (संस्कारों) में से ऐसे सद्यः फलोन्मुख संस्कारों को छाँटना ईश्वरीय व्यवस्था का कार्य है, इसमें जीवात्मा का कोई हाथ नहीं रहता।

क्रियमाण—कर्म वे हैं, जो एक मानव देहधारण करने पर उस जीवन में प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए किये जाते हैं तथा जो अन्य नवीन कर्म किये जाते हैं, जिनसे नये संस्कार उत्पन्न होकर आत्मा में एकत्रित होते रहते हैं अथवा कतिपय जिन कर्मों का फल चालू जीवन में भोग लिया जाता है; आगे फल भोगे जाने के लिए उनके संस्कार नहीं बनते।

इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों के अनुकूल जो जीवन आत्मा को प्राप्त होता है, उसके अनुरूप वासना अभिव्यक्त होती हैं। इसलिए अगणित वासनाओं का सञ्चय रहने पर भी किसी एक जीवन में सबका अथवा चाहे जिन किन्हीं का उभर आना सम्भव नहीं॥८॥ [१६९]

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि मनुष्य योनि के अनन्तर

कोई आत्मा कर्मों के अनुसार गाय की योनि में जाता है, तो समीप अथवा आनन्तर्य होने से उस आत्मा में मानव-वासनाओं की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, न कि सहस्रों जीवनों के व्यवधान से पूर्व होनेवाले गाय के जीवन की? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार-योरेकरूपत्वात्॥९॥ [१७०]

[जाति-देश-कालव्यवहितानाम्] जाति, देश और काल से व्यवहित **[अपि]** भी (वासनाओं का) **[आनन्तर्यम्]** आनन्तर्य-अव्यवधान (स्मृति के साथ बना रहता है, क्योंकि) **[स्मृति-संस्कारयोः]** स्मृति और संस्कारों के **[एकरूपत्वात्]** एक रूप होने से–समानविषयक होने से।

यह एक निर्धारित नियम है-जैसा अनुभव होता है, उसी के अनुकूल संस्कार बनते हैं और जैसे संस्कार होते हैं, उसी के अनुरूप स्मृति होती है। स्मृति कभी संस्कार के प्रतिरूप नहीं हो सकती। स्मृति और संस्कार का परस्पर निर्धारित कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। अगणित संस्कार आत्मा में सुप्त पड़े रहते हैं। समय पर वे संस्कार जागते हैं, जिनका कोई अभिव्यञ्जक (जगानेवाला) उपस्थित हो जाता है। तात्पर्य है, मानवजीवन के अव्यवहित अनन्तर होनेवाले गाय के जीवन में संस्कारों का उद्बोधक मानवजीवन का सामीप्य व अव्यवधान नहीं है, प्रत्युत उस आत्मा का गाय की योनि में आना संस्कारों का अभिव्यञ्जक है। वह अपने-अपने अनुरूप संस्कारों को उद्बुद्ध करती है, उसमें चाहे जाति, देश और काल का कितना ही अधिक व्यवधान हो। जाति आदि के बड़े-से-बड़े व्यवधान के होने पर भी संस्कार और स्मृति का आनन्तर्य बना रहता है, क्योंकि ये समानविषयक होते हैं और सदा अपने अभिव्यञ्जक के अनुरूप।

सूत्र में 'जाति' पद का अर्थ जन्म, जीवन अथवा योनि समझना चाहिए। जो आत्मा अभी मानवजीवन अथवा योनि से गाय के जीवन या योनि में आया, वह चाहे सहस्रों जीवन बिताने के पहले गाय के जीवन में रहा हो, अब गाय के जीवन में आने पर जाति का लम्बा व्यवधान होने पर भी यहाँ गाय के जीवन के संस्कार का उद्बुद्ध होंगे, अन्य जाति के नहीं, क्योंकि यह योनि उसी के संस्कारों का अभिव्यञ्जक है, अन्य योनियों के संस्कारों का नहीं। इसी प्रकार देश और काल भी इसमें कोई रुकावट नहीं डालते। इसलिए कितना भी काल बीत जाने पर अथवा कोई भी देश बदल जाने पर जिस संस्कार का अभिव्यञ्जक उपस्थित हो जाता है, वे संस्कार उद्बुद्ध होकर अपने अनुरूप स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं। फलतः गाय की योनि में आये आत्मा के वे ही संस्कार-वासना उद्बुद्ध हो पाते हैं, जिनका सञ्चय कभी गाय की योनि में हुआ था, वे चाहे कितने भी जन्म पहले हुआ हो, किसी काल या देश में हुआ हो॥९॥ [१७०]

शिष्य जिज्ञासा करता है, जब आत्मा सर्गादिकाल में पहले-पहल देह धारण करते हैं, तब संस्कार व वासनाओं के न रहने से विभिन्न योनियों में जाने व विविध प्रवृत्तियों का कारण क्या होता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥१०॥ [१७१]

[तासाम्] उन-वासनाओं का **[अनादित्वम्, च]** अनादि होना भी जाना जाता है **[आशिषः]** जीवन की शुभ अभिलाषाओं के **[नित्यत्वात्]** सदा बने रहने से।

प्रत्येक प्राणधारी की अपने जीवन के प्रति यह अभिलाषा व भावना सदा जागृत रहती है कि-'ऐसा न हो कि मैं न रहूँ, प्रत्युत सदा ऐसा ही जीवित बना रहूँ।' यह भावना प्राणी के पूर्वानुभूत मृत्युभय की जानकारी को प्रकट करती है। उसने

मृत्यु के कष्ट का प्रथम अनुभव किया है, उसी को याद कर मृत्यु से बचने की इच्छा जागृत रहती है। इससे स्पष्ट होता है, चालू जीवन से पहले इसका जीवन रहा है। इसी कारण उससे और पहले जीवन की स्थिति स्पष्ट होने पर यह परिणाम सामने आता है कि जीवन का यह क्रम अनादि काल से चालू है। जीवन और मरण के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह पहला जीवन और यह पहला मरण है, इससे पहले कभी जीवन या मरण नहीं हुआ।

सृष्टि के आदि में जीवन धारण करनेवाले प्राणियों में गत सृष्टिकाल के अनुभूत जीवन-मरण के संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। इसी कारण पूर्वोक्त आशीर्वचन (मा न भूवम्, भूयासम्) को आत्मा का स्वाभाविक धर्म या भाव नहीं कहा जा सकता। यह किसी निमित्त से अभिव्यक्त होता है। वह निमित्त है मृत्यु का भय। उस स्थिति को आत्मा अपने लिए वाञ्छनीय नहीं समझता, इसीलिए उससे बचना चाहता है।

वासना या संस्कारों का अनादित्व वैयक्तिक रूप से नहीं समझना चाहिए। कोई वासना या संस्कार कभी उत्पन्न नहीं होता या नष्ट नहीं होता, ऐसा कदापि नहीं है। प्रत्येक वासना या संस्कार उत्पन्न होता और नष्ट होता है। इसलिए इनका अनादि होना प्रवाह के रूप में माना जाता है। वासना या संस्कारों का प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसी रूप में इन्हें नित्य कहा गया है। आशीर्वचन भी नैमित्तिक होता हुआ इसी रूप में नित्य है।

'मा न भूवम्, भूयासम्' इस वाक्य में अन्तिम क्रिया आशीर्वाद अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस कारण ऐसी प्रकट की गई इच्छा को आशीर्वचन व्याख्याकारों ने कहा है। यद्यपि यह इच्छा या भावना अज्ञानमूलक है। किसी एक देह के साथ आत्मा का भोगानुकूल सम्बन्ध होना 'जीवन' है, जिसको सदा बनाये रखने की इच्छा आत्मा में जागी रहती है, जो सर्वथा

असम्भव है। इसीलिए यह अज्ञानमूलक है। क्योंकि आत्मा स्वतः नित्य तत्त्व है, सदा एकरूप बना रहता है, उसके मरने–जीने का प्रश्न नहीं। फिर भी इस आधार पर मृत्युभय के संस्कारों से पूर्वानुभूत देह–वियोगरूप मृत्यु कष्ट का अनुमान कर वासनाओं की अनादिता सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं आती। सम्भव है, उक्त आशीष में जीवन के प्रवाह को अविरत बनाये रखने की इच्छा निहित हो, जिसे आत्मा वाञ्छनीय समझता है। फलतः पहले–पहल देह धारण करने का कोई अवसर नहीं॥१०॥ [१७१]

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि वासना अनादि हैं, तो उनका कभी नाश नहीं होना चाहिए। यदि वासना निरन्तर बनी रहती हैं, तो मोक्ष होना सम्भव न होगा। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्त्वादेषामभावे तदभावः॥११॥ [१७२]

[हेतुफलाश्रयालम्बनैः] हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से **[संगृहीतत्त्वात्]** संगृहीत होने के कारण **[एषाम्]** इनके (हेतु आदि के) **[अभावे]** अभाव में न रहने की दशा में **[तदभावः]** उन वासनाओं का अभाव हो जाता है।

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के साथ समस्त वासना सिमटी हुई [संगृहीत] रहती है। कोई ऐसी वासना नहीं, जो हेतु आदि से सम्बद्ध न हो। सभी वासनाओं के हेतु अविद्या आदि क्लेश और शुक्ल आदि कर्म हैं। वासनाओं के फल हैं--जाति, आयु और भोग [२।१२, १३]। आत्मा उनका आश्रय, तथा शब्द आदि विषय एवं चित्त आदि करण उनके आलम्बन हैं। वासनाओं के उद्भव में ये सभी सहयोगी हैं। वासना इन्हीं में सिमटी रहती हैं, संगृहीत रहती हैं, इन्हीं के अस्तित्व में उभरती हैं। जब इनमें से अपेक्षित हेतु आदि का अभाव हो जाता है, तो

वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। वस्तुत: वासनाओं का मूल अविद्या आदि क्लेश हैं; जब तक ये क्लेश विद्यमान रहते हैं, वासना बराबर उभरती रहती हैं। समाधि द्वारा जब प्रकृति-पुरुष के विवेक का साक्षात्काररूप ज्ञान या विद्या का उदय हो जाता है, तो अविद्या आदि के पूर्णतया तिरोहित हो जाने पर समस्त सञ्चित वासनाओं का तिरोभाव हो जाता है। आत्मज्ञानी योगी का जीवन उस दशा में केवल प्रारब्ध कर्मों को भागने के रूप में चालू रहता है। उस दशा में योगी कृष्ण कर्म तो कर ही नहीं सकता। शुक्ल कर्म किये हुए सद्य:फलप्रद नहीं होते [४।७]। अत: आत्मज्ञानी के देहपात के अनन्तर तत्काल जन्म देनेवाली वासनाओं के नितान्त अभाव में मोक्षप्राप्ति के लिए कोई बाधा नहीं रहती है, फलत: वासनायें उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं। इनका प्रवाह अनादि-अनन्त है। व्यक्तिरूप वासनाओं का अनादि-अनन्त होना नितान्त अप्रामाणिक एवं असम्भव है। अत: मोक्ष आदि होने में कोई बाधा नहीं॥११॥ [१७२]

शिष्य जिज्ञासा करता है, वासनाओं का नितान्त अभाव कैसे माना जाय? जबकि प्रस्तुत दर्शन का यह सिद्धान्त है कि असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश कभी नहीं होता। तब सत् वासनाओं का अभाव कैसे? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्
धर्माणाम्॥१२॥ [१७३]

[अतीतानागतम्] अतीत और अनागत **[स्वरूपतः]** स्वरूप से **[अस्ति]** बना रहता है (तात्पर्य है-अपने अस्तित्व को खोता नहीं)। **[अध्वभेदात्]** कालिक आधार पर मार्गभेद से **[धर्माणाम्]** धर्मों के-कार्यों के बने रहने से।

सूत्र में 'धर्म' पद का अर्थ 'कार्य' है। जब तक कार्य अपने कारण में छिपा है, प्रकाश में अभी नहीं आया, पर आगे

आनेवाला है, वह 'अनागत' है। जो कार्य प्रकाश में आने के अनन्तर कालान्तर में पुनः अपने कारणों में छिप गया है, वह 'अतीत' है। कालिक आधार पर धर्मों का–कार्यों का मार्ग भिन्न हो जाता है। जैसा उक्त पंक्तियों में 'अतीत–अनागत' पदों से प्रकट किया गया। कार्यतत्त्व जब प्रकाश में आकर चालू रहता है, तब वर्त्तमान है, इसके पहले–जब तक प्रकाश में नहीं आया–अनागत था। उपयुक्त समय तक प्रकाश में चालू रहने के अनन्तर पुनः जब कार्य अपने कारण में छिप जाता है, तब वह 'अतीत' है। तात्पर्य है–वह वस्तुतत्त्व अपने अस्तित्व को कभी नहीं खोता, काल के आधार पर अतीत, वर्त्तमान, अनागत मार्ग का आश्रय लिये रहता है, जो परस्पर भिन्न है। उसी आधार पर हम किसी वस्तु के अभाव या अविद्यमानता का कथन करते हैं; पर वस्तुतः जो अतीत व अनागत के रूप में विद्यमान है। यदि वह वस्तुसत् न हो, तो अतीत अनागत के रूप में उसका कथन अथवा व्यवहार नहीं किया जा सकता। द्रष्टव्य सूत्र २।१३ का भाष्य।

इसी के अनुसार आत्मज्ञानी की समस्त वासना अपने कारण अविद्या में अन्तर्हित हो जाती हैं तथा अविद्या का सम्पर्क आत्मज्ञानी आत्मा के साथ नहीं रहता। तात्पर्य है–जिस आत्मा ने अपना साक्षात्कार कर लिया है, उसके साथ अविद्या का सम्पर्क नहीं रहता, तब अविद्यामूलक वासनाओं के सम्पर्क का उस आत्मा के साथ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी स्थिति को कहा जाता है–वासनाओं का अभाव हो गया। वस्तुतः वे स्थानान्तरित हो जाती हैं। पुरुष सम्पर्क से हटकर प्रकृति–सम्पर्क में सिकुड़ आती हैं॥१२॥ [१७३]

शिष्य जिज्ञासा करता है, अनन्त भेदों से युक्त यह विश्वप्रपञ्च एकमात्र कारण 'प्रकृति' से कैसे हो जाता है? ये धर्म एक–दूसरे से विलक्षण हैं, पर इनका कारण प्रकृति–अविलक्षण एक है, यह कैसे? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः ॥१३॥ [१७४]

[ते] वे-कालिक आधान से तीनों मार्गों (भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्) पर चलनेवाले-धर्म **[व्यक्तसूक्ष्माः]** व्यक्त-प्रकट और सूक्ष्म सब प्रकार के **[गुणात्मानः]** गुणस्वरूप हैं।

समस्त धर्म अर्थात् कार्य जगत् जो वर्त्तमान में दृष्टिगोचर हो रहा है, वह व्यक्त है, तथा जो अतीत, अनागत एवं दृष्टिगोचर नहीं है, वह सब सूक्ष्म है। तात्पर्य है-समस्त कार्यजगत् जो दिखाई दे रहा या नहीं दे रहा है, गुणों का स्वरूप है। विश्व का मूल उपादान प्रकृति त्रिगुणात्मक है। उन सत्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों का यह सब परिणाम है। वे तीनों गुण परस्पर विलक्षण हैं। वस्तुतः मूल उपादान तत्त्वों के ये तीन वर्ग हैं, जो एक-दूसरे से विलक्षण हैं। विविध अथवा अनन्त प्रकारों में इन अवयवों [मूलतत्त्वों] के सन्निवेश (क्रम-अनुक्रम से व्यवस्थित किये जाने) से यह विश्व उपलभ्यमानरूप में अभिव्यक्त होता है।

मूलतत्त्वों का वास्तविक स्वरूप किसी के दृष्टिगोचर नहीं होता। प्राचीन या आधुनिक तत्त्वदर्शी विद्वानों ने उपादानतत्त्वविषयक विचार-सागर में गहरा गोता लगाकर मूलतत्त्व के विषय में जो देखा-समझा है, वह दृष्टिगोचर जगत् पर आधारित अनुमानों का चमत्कार है। निःसन्देह उसे यथार्थ का ही उपपादन समझना चाहिए। पर जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब नश्वर परिणामी होते हुए भी मूल उपादान तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का अनुमान कराने में सफल रहा है। इस प्रकार परस्पर विलक्षण त्रिगुण का विविध प्राकारिक सन्निवेश (संघटन-अन्योन्यमिथुनवर्त्ती होना) जगत् की विलक्षणता का कारण होता है। आत्माओं के शुभ-अशुभ विविध कर्म भी जगत् की विलक्षणता में निमित्त रहते हैं, क्योंकि आत्माओं के भोग को सम्पादन करने के लिए जगत् की रचना होती है। इस बात को

कभी विस्मृत न करना चाहिए कि मूल उपादान तत्त्व के कथन की भावना से प्रकृति को एक माना जाता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के अतिरिक्त जगत् के उपादानरूप में अन्य किसी तत्त्व का अंशदान नहीं है। एकमात्र प्रकृति जगत् का उपादान तत्त्व है; इसी आशय से उसका एकत्व कथन है। त्रैगुण्यरूप से स्वतः उनमें वैलक्षण्य अन्तर्निहित है, जो दृष्टिगोचर जगत् में दिखाई देता है। फलतः त्रिगुणात्मक प्रकृति से विलक्षण जगत् की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिए॥१३॥ [१७४]

शिष्य जिज्ञासा करता है-जब दृष्टिगोचर जगत् अनेक तत्त्वावयवों का सन्निवेश (संघटन) है, तो जगत् में किसी वस्तुतत्त्व के एकत्व की प्रतीति नहीं होनी चाहिए-एक शब्द, एक गाय, एक वस्त्र आदि। प्रत्येक पदार्थ अनेकरूप गृहीत होना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्॥१४॥ [१७५]

[परिणामैकत्वात्] परिणाम के एक होने से **[वस्तुतत्त्वम्]** वस्तु की एकता जानीजाती है।

अनेक कारणों से मिलकर जो कार्य उद्भव में आता है, वह स्वरूप से एक होता है। अथवा अपनी स्थिति में एक जाना जाता है। जैसे तेल, बत्ती और आग की लो मिलकर एक प्रदीप होता है। तेल आदि सब मिलकर परस्पर सहयोग करते हुए 'प्रदीप' अथवा प्रकाशरूप एक परिणाम को प्रस्तुत करते हैं। ऐसे ही तीन गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) मिलकर अन्योन्यमिथुनरूप हुए पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए पृथक्-पृथक् एक-दूसरे से भिन्नरूप में वस्तुओं का उद्भव करते रहते हैं। वस्तुओं का परस्पर भिन्नरूप ही उनकी पृथक् एकता का नियामक है। तात्पर्य है, तीन गुण परस्पर विलक्षण होते हुए भी अन्योन्य मिथुनवृत्ति होकर जिस परिणाम का उद्भव करते हैं, वह प्रत्यक्ष से एकरूप जाना जाता है। फलतः कारणों के विलक्षण व

अनेक होने पर भी उनसे परिणत होकर उद्‌भूत हुए कार्य की एकता में कोई बाधा नहीं आती। इस प्रकार जब त्रिगुण का करणरूप से परिणाम होता है, तब एक इन्द्रिय श्रोत्र अथवा चक्षु आदि का ज्ञान यथार्थ है। वे ही गुण जब ग्राह्य विषयरूप में परिणत होते हैं, तब एक शब्द अथवा रूप यह ज्ञान यथार्थ है। शब्द आदि के रूप में त्रिगुण का परिणाम ऐसा ही है, जैसा अन्य मूर्त्त द्रव्यों का परिणाम। पृथिवी का एक परमाणु तन्मात्ररूप अवयवों के संघात से परिणत होता है उन परमाणुओं से मिलकर स्थूल पृथिवी तथा आगे उससे गाय, वृक्ष, पर्वत आदि स्थूल परिणाम होते रहते हैं। अनेक के संघात से परिणाम एक होने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

इस प्रसंग में यह कथन श्रद्धायोग्य नहीं है कि गाय, वृक्ष आदि का ज्ञान एक होता है, पर वस्तुतः उस ज्ञान का विषय एक न होकर अवयवों का संघातमात्र है। इस मान्यता की पुष्टि में कहा जाता है कि विषय ज्ञान के बिना नहीं रह सकता; पर ज्ञान स्वप्न आदि के बिना विषय के रह जाता है। इसलिए बाह्य-विषय एक रूप न रहने पर भी ज्ञान एकरूप हो जता है, क्योंकि ज्ञान बाह्यविषय की अनिवार्य अपेक्षा नहीं रखता।

उक्त मान्यता की पुष्टि का यह मार्ग संगत नहीं है। स्वप्न में जो ज्ञान होता है, उसका आधार जाग्रत अवस्था का सविषयक ज्ञान है। यदि जाग्रत में विषयानुसारी अथवा विषयानुबद्ध ज्ञान न हो, तो स्वप्न में वह उभर नहीं सकता। फलतः वस्तुभूत विषय का अपलाप करके ज्ञानमात्र के आधार पर यथार्थ लोकव्यवहार का समर्थन न करनेवाले विश्वसनीय नहीं हैं।

जो विचारक यह कहते हैं कि दृष्टिगोचर होनेवाला समस्त वस्तुतत्त्व मूलभूत अवयवों का संघातमात्र है, किसी इकाई के रूप में परिणाम की सम्भावना करना निराधार एवं व्यर्थ है, वह संघात ही एकत्व ज्ञान का विषय होता है, कारणभूत अवयवों से किसी अतिरिक्त इकाई का प्रादुर्भाव हो

जाता हो, ऐसा नहीं है।

इस विचार को प्रस्तुत करनेवालों से पूछना चाहिए कि कारणभूत अवयवों का संघात उन अवयवों से अतिरिक्त है, अथा अवयवस्वरूप ही है? अर्थात् अवयवों से भिन्न कुछ नहीं। यदि पहला पक्ष मान्य है, तो कारणभूत अवयवों के परिणामस्वरूप इकाई को स्वीकार कर लिया गया, जो एकत्व ज्ञान का विषय है। अवयवों का परिणाम अवयवरूप नहीं होता, यदि अवयवरूप ही रहे, तो वह कारण अवस्था है, परिणाम नहीं कार्य अवस्था है। कार्य कारण में परस्पर भेदाऽभेद सम्बन्ध परिणाम मान्य है। प्रत्येक परिणाम अपने रूप से भिन्न, तथा कारणरूप से अभिन्न है। इसलिए परिणत अवस्था अपनी स्वतन्त्र इकाई रखती है, जो एकत्व बुद्धि का विषय है।

यदि द्वितीय पक्ष को माना जाता है, तो अनेक कारणभूत अवयवों में एकत्व बुद्धि का होना भ्रान्त होगा। जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होना भ्रमपूर्ण माना जाता है, जैसे–सीप में चाँदी का ज्ञान। ऐसे ही यहाँ अनेक में एक का ज्ञान होना भ्रमपूर्ण होगा। दूसरा यह भ्रम है कि जो कारणभूत अवयव हैं, उन्हीं को परिणामरूप में जानना। फलतः कारणभूत अनेक अवयवों का परिणाम एक इकाईरूप है, जो एकत्व प्रतीति का विषय होता है। ऋषि कणाद और गौतम ने ऐसे परिणाम को 'अवयवी' पद से व्यवहृत किया है।

इस सब विवेचन के आधार पर यह निश्चय समझना चाहिए, परस्पर विलक्षण अनन्तानन्त त्रिगुण का परिणाम एक–वस्तुरूप होने में कोई बाधा नहीं होती॥१४॥ [१७५]

शिष्य जिज्ञासा करता है, ज्ञान अपरिहार्य तत्त्व है। ज्ञान के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व प्रमाणित नहीं हो पाता, तब वस्तुतत्त्व को स्वीकार करना व्यर्थ है। ज्ञान ही वस्तुतत्त्व के रूप में प्रतीत होता रहता है। फिर अनेक कारणतत्त्वों के संघात से परिणाम की एकता के लिए प्रयास अनपेक्षित हो जाता है।

अतः विज्ञान से अतिरिक्त वस्तुतत्त्व को मानना व्यर्थ है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया--

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥ [१७६]

[वस्तुसाम्ये] वस्तु को उसकी समस्थिति (यथार्थ स्थिति) में मानने पर **[चित्तभेदात्]** चित्त--ज्ञान अथवा विज्ञान के भेद से **[तयोः]** वस्तु और विज्ञान उन दोनों का **[विभक्तः]** बँटा हुआ है **[पन्थाः]** मार्ग।

सूत्र का 'चित्त' पद यहाँ 'चिति' अथवा चेतन आत्मतत्त्व का उपलक्षण है। बाह्यविषयों का वृत्त्यात्मक ज्ञान चित्त-करण द्वारा आत्मा को होता है। यह ज्ञान उसी को हो सकता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, चेतन है। चित्त वृत्त्यात्मक ज्ञान का साधनमात्र हैं। साधनपद 'चित्त' द्वारा मुख्य लक्ष्य चेतन आत्मतत्त्व का निर्देश लक्षित है।

शिष्य द्वारा उत्थापित जिज्ञासा में भावना यह है कि चेतन आत्मतत्त्व को बाह्यविषय का वृत्त्यात्मक ज्ञान द्वारा जो बोध होता है, उसे आतमतत्त्व-स्वरूप ही क्यों न मान लिया जाय। बाह्यविषयक वृत्तियाँ अनादिकाल से चित्त में उभरती रही हैं, उनसे जनित अनन्त वासनाओं का अम्बार आन्तर में लगा रहता है। उन्हीं वासनाओं की छाया में विभिन्न बाह्य वस्तुएँ प्रतीत हुआ करती हैं। वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान इस प्रकार स्पष्ट किया-

वस्तुतत्त्व की सन्तुलित स्थिति अपनी निश्चित है। आन्तर विज्ञान का उससे भेद है। क्योंकि दोनों मार्ग परस्पर बँटा हुआ है। आन्तर विज्ञान चेतन तत्त्व है, बाह्यविषय जड़। इन दोनों का एक होना कभी सम्भव नहीं। बाह्य जड़तत्त्व विषय है और आन्तर विज्ञानतत्त्व चेतन विषयी। इसी को आत्मतत्त्व अथवा 'चिति' शक्ति कहा जाता है।

सोचना चाहिए, अनादिकाल से संकलित अनन्त वासनाओं

का अम्बार जो चित्त में बताया गया, वह बाह्यविषय के अस्तित्व को अपने निजी रूप में स्वीकार न किये जाने पर तथा केवल आन्तरविज्ञान की सत्ता मानने पर कहाँ से आ जाता है? वासनाओं का आन्तर में संकलन बाह्यविषय की सत्ता को माने बिना असम्भव है।

इसके साथ यह भी सोचना चाहिए-बाह्य वस्तुतत्त्व ज्ञान का विषय होता है, जो आन्तर तत्त्व जानने वाला है, वह 'विषयी' है। विषय और विषयी सदा दो विभिन्न तत्त्व हैं, वे कभी एक नहीं हो सकते। फलतः आन्तर विज्ञान विषयी बाह्य वस्तुतत्त्व विषय के रूप में प्रतीत होता है, यह नितान्त व्यामोहमात्र है।

सूत्र का अन्य अर्थ व्याख्याकारों ने इस प्रकार किया है-वस्तु के एक होने पर भी[१] चित्तभेद से ज्ञात होता है कि वस्तु और चित्त का मार्ग भिन्न है, अर्थात् चित्त को ही वस्तु का स्वरूप नहीं माना जा सकता। प्रतीक रूप में पद्मावती नामक नारी बाह्य वस्तु-स्थानीय है। जब धर्मयुक्त पति (चित्त) उसे देखता है, तो सुखी होता है। उसी को जब सपत्नी (चित्त) देखता है, तो दुःख का उदय होता है। उसी को जब कोई अन्य कामी पुरुष देखता है और उसे प्राप्त नहीं कर सकता, तब उसे मोह (विषाद) उत्पन्न होता है। उसी को जब कोई सत्त्वदर्शी विरक्त पुरुष देखता है, तो उसके प्रति उपेक्षाभाव का उदय होता है।

यहाँ बाह्य वस्तु एक है-पद्मावती नारी। उसे किसी एक अथवा अनेक चित्तों का परिणाम नहीं माना जा सकता। यदि किसी एक का हो, तो वह बाह्य केवल वैसा ही प्रतीत होना चाहिए, अन्य रूप नहीं। अनेकों का वह परिणाम इसलिए नहीं हो सकता कि एक चित्त से परिकल्पित अर्थ के साथ अन्य

---

१. श्रीरङ्गम् के वाणीविलास प्रेस से प्रकाशित श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत वृत्ति के सूत्रपाठ में 'अपि' पद भी है, 'वस्तुसाम्येऽपि'।

चित्त का उपराग होना अयुक्त है। विभिन्न चित्तों की बाह्यवस्तूपराग के विषय में अपनी निजी स्वतन्त्र धारा होती है, अन्य चित्त से सम्मिश्रित नहीं। यहाँ बाह्य वस्तु पद्मावती एक है, परन्तु आन्तर चित्त विभिन्न अनेक हैं। फलतः यह बाह्य वस्तु आन्तर चित्त का उपराग नहीं। इन दोनों का मार्ग परस्पर भिन्न है। अतः बाह्य वस्तु का अपलाप भ्रान्ति है ॥१५॥ [१७६]

शिष्य जिज्ञासा करता है, भले ही बाह्य वस्तु और आन्तर चित्त भिन्न हों, पर बाह्य वस्तु का अस्तित्व चित्त पर निर्भर करता है। आन्तर चित्त द्वारा जानने पर बाह्य वस्तु का सत्ता प्रमाणित होती है। ज्ञान से भिन्न काल में बाह्य वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। अतः बाह्य वस्तु का सद्भाव आन्तर चित्त पर अवलम्बित मानने में क्या हानि है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥१६॥ [१७७]

[न च] और नहीं है **[एकचित्ततन्त्रम्]** एकचित्त के अधीन कोई **[वस्तु]** वस्तु, **[तत्]** वह वस्तु **[अप्रमाणकम्]** प्रमाणरहित–अप्रामाणिक **[तदा]** तब **[किम्]** क्या **[स्यात्]** हो जायगी?

कहा जाता है-वस्तु का अस्तित्व ज्ञान के समानकाल में है, उससे अतिरिक्त काल में नहीं। ज्ञान चित्त के द्वारा होता है, अतः वस्तु के अस्तित्व को चित्त के अधीन माना जाना चाहिए। वस्तु का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह कथन सर्वथा चिन्तनीय है, क्योंकि इस विषय में यह समझना चाहिए कि चित्त वस्तु का उत्पादक है, या केवल ज्ञापक? देखा जाता है, प्रत्येक वस्तु अपने नियत उपादान कारणों से उत्पन्न होती है, उन उपादान तत्त्वों में चित्त कोई अंश नहीं होता, वस्तु का प्रादुर्भाव स्वतन्त्ररूप में अपने कारणों से हुआ करता है। यदि

चित्त वस्तु का केवल ज्ञापक है, तो किसी वस्तु का ज्ञान होना अलग बात है और उसका अस्तित्व अलग। न जानने की दशा में भी वस्तु के अस्तित्व पर कोई बाधा नहीं आती। वस्तु का अस्तित्व उसके कारणों के बहाल रहने से उस दशा (ज्ञान न होने की दशा) में भी निर्बाध बना रहता है।

वस्तु के अस्तित्व को चित्त के अधीन मानने पर यह भी विचार करना होगा, कि कोई वस्तु किसी एक नियत चित्त के अधीन मानी जाय? या अनेक चित्तों के अधीन? पहला विकल्प इसलिए युक्त प्रतीत नहीं होता कि उस चित्त के अन्य किसी विषय में व्यग्र-संलग्न होने पर अथवा निरुद्ध होने पर उस वस्तु का अस्तित्व ज्ञात न होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है। अन्य चित्तों के द्वारा उस दशा में भी उक्त वस्तु के अस्तित्व को बराबर देखा जाता है। अनेक चित्तों के अधीन मानने पर एकचित्त के द्वारा वस्तु की प्रतीति न होनी चाहिए। इस विकल्प में यह व्यवस्था करना भी अशक्य होगा कि वे अनेक चित्त कितने होने चाहिएँ। फलतः यह निश्चित समझना चाहिए कि वस्तु का अस्तित्व उसके अपने कारणों पर अवलम्बित होता है, चित्त पर नहीं। ऐसी दशा में चित्त-साधन द्वारा वस्तुज्ञानकाल से अतिरिक्त काल में क्या वस्तु के अस्तित्व को अप्रामाणिक कहा जाएगा? कदापि नहीं। जब तक वस्तु के कारणतत्व व्यवस्थित दशा में विद्यमान है, वस्तु के अस्तित्व को चुनौती नहीं दी जा सकती॥१६॥ [१७७]

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि बाह्य पदार्थ सर्वथा स्वतन्त्र हैं, चित्त एवं चिति से उनका कोई लगाव नहीं, तो जड़स्वभाव पदार्थ कभी 'प्रकाश' में नहीं आना चाहिए। 'प्रकाश' का तात्पर्य यहाँ 'ज्ञान' अर्थात् जानना है। जड़ कभी ज्ञान नहीं हो सकता। यदि बाह्य पदार्थ का धर्म ज्ञान-प्रकाश माना जाय, तो वह अपने जड़स्वभाव को छोड़कर आपे को खो बैठेगा। किसी वस्तु का 'स्वभाव' उसका अस्तित्व है। यदि स्वभाव न रहा,

तो वस्तु कहाँ रह जायगी? इसलिए जिज्ञासा है, यह जड़पदार्थ स्वतन्त्र होने पर प्रकाशित-ज्ञात कैसे हो जाता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥१७॥ [१७८]

[तद्-उपरागापेक्षित्वात्] उस बाह्यविषय के उपराग-सम्बन्ध की अपेक्षा करनेवाला होने से **[चित्तस्य]** चित्त के **[वस्तु]** बाह्य पदार्थ **[ज्ञाताज्ञातम्]** ज्ञात और अज्ञात रहते हैं।

ज्ञान, चिति [चेतन आत्मतत्त्व] का धर्म अथवा स्वरूप है। वृत्त्यात्मक ज्ञान (बाह्य पदार्थ का जानना) यद्यपि करणों के सहयोग से होता है, पर वह हो सकता है केवल चिति को, अन्य किसी को नहीं। इन्द्रिय का बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध होने पर इन्द्रिय के साथ चित्त का सम्बन्ध बना रहता है। चित्त-मन का अहंकार से और अहंकार का बुद्धि से सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध-परम्परा को सूत्र में 'उपराग' पद से कहा है। सूत्र में प्रथम 'तत्' सर्वनाम पद बाह्य पदार्थ का बोधक है। 'चित्त' पद अपने साथ अन्य समस्त करणों का उपलक्षण है। तात्पर्य है–जब बाह्य पदार्थ-विषय से समस्त करण उपरक्त-सम्बद्ध हो जाते हैं, तब बाह्य विषय आत्मा [चिति] को ज्ञात होता है। जब यह उपराग-सम्बन्ध नहीं होता, तब बाह्य विषय अज्ञात रहता है। चित्त तथा उसके अन्य साथी करणों का ऐसे ज्ञान में यही उपयोग है कि वे बाह्य पदार्थ की छाया [रंग, रूप, आकृति, प्रकार आदि विशेषताओं] को आन्तर आत्मा तक पहुँचने में सहयोग देते हैं। ये सब उस ज्ञान के साधनमात्र हैं, ज्ञाता नहीं।

फलतः ज्ञान अथवा प्रकाश चिति का धर्म एवं स्वरूप है, जड़ पदार्थ का नहीं। चित्त व बुद्धि भी प्राकृतिक त्रिगुणात्मक होने से जड़ हैं। ज्ञान इनका धर्म नहीं हो सकता। कवेल ज्ञानानुकूल व्यापार इनका धर्म है, जिसको 'वृत्ति' पद से कहा जाता है। इसी कारण ऐसे व्यापार से होनेवाले बाह्य पदार्थविषयक

ज्ञान को 'वृत्त्यात्मकज्ञान' कहा जाता है। बाह्य और आन्तर करणों के साथ बाह्य विषय का नियत प्रक्रियानुसार सम्बन्ध होने पर वह विषय ज्ञात होता है, सम्बन्ध न होने पर अज्ञात रहता है,[१] यह सूत्र का स्पष्ट अर्थ है॥१७॥ [१७८]

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत सूत्रों में चितत और बाह्य पदार्थ के परस्पर भेद को स्पष्ट किया। क्या चित्तवृत्तियों का ज्ञाता चित्त है, या अन्य कोई तत्त्व ? आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या-परिणामित्वात्॥१८॥ [१७९]

[सदा] सर्वदा **[ज्ञाताः]** जानी जाती हैं **[चित्तवृत्तयः]** चित्तवृत्तियाँ (अन्य तत्त्व के द्वारा) **[तत्-प्रभोः]** उसके-चित्त के स्वामी **[पुरुषस्य]** पुरुष के **[अपरिणामित्वात्]** अपरिणामी होने से।

परिणामी तत्त्व कभी ज्ञाता नहीं होता। बाह्य पदार्थ के समान चित्त भी परिणामी तत्त्व है। जो परिणामी है, वह त्रिगुणात्मक है, जड़ है। वह ज्ञाता होना सम्भव नहीं। इसलिए जड़पदार्थ से अतिरिक्त तत्त्व के द्वारा चित्तवृत्तियाँ जानी जाती हैं। इसमें कभी व्यभिचार होने की सम्भावना नहीं। फलतः सदा उसी तत्त्व द्वारा चित्तवृत्तियाँ जानी जाती हैं। कभी त्रिगुण चित्त से और कभी अत्रिगुण अन्य से जानी जायें, ऐसा कभी नहीं होता।

वह त्रिगुणात्मक चित्त से अन्य तत्त्व उसका प्रभु-स्वामी पुरुष-चेतन आत्म-तत्त्व-है। वह ज्ञाता क्यों है? हेतु दिया-'अपरिणामित्वात्'-अपरिणामी होने से। इस हेतु-निर्देश से आचार्य

---

१. मध्यकालिक सांख्य-योगाचार्यों ने बाह्यवस्तु बोध की प्रक्रिया का जो आडम्बरपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है, इसके विशद विवेचन के लिए द्रष्टव्य है-हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृ० ८४-८८।

ने यह स्पष्ट किया, कि जो परिणामी हैं, वह ज्ञाता नहीं हो सकता। इसलिए चित्त को ज्ञाता मानना अशास्त्रीय है।

यह सब बाह्य वस्तुओं से उपरक्त चित्त की वृत्तियों के विषय में कहा गया। जब चित्त बाह्य वस्तुओं से उपरक्त न होकर आन्तर भावों से उपरक्त होता है, तब उसमें जो ज्ञान, इच्छा, राग, द्वेष, सुख, दु:ख तथा आत्म-चिन्तन आदि की वृत्तियाँ उभरती रहती हैं, उनको भी पुरुष जानता है। कोई उभरती चित्तवृत्ति पुरुष-बोध से बोझल नहीं रहती। पुरुष [-आत्मतत्त्व] चित्त-एवं उसमें उभरनेवाली वृत्तियों का एकमात्र स्वामी है।

चित्त अथवा अन्य किसी करण का विषयाकाररूप में परिणत होने के कथन का केवल इतना तात्पर्य है कि करण में साधनभूत रूप से विषय को ग्रहण करने का सामर्थ्य है। यह ग्रहीता, ज्ञाता या बोद्धा-शक्ति नहीं है, यह केवल 'ग्रहण' शक्ति है। जब स्वच्छ स्फटिक के आगे लाल फूल रखा जाता है, तो स्फटिक लाल दिखाई देता है, पर वस्तुत: वह तब भी स्वच्छ शुक्ल है, यदि ऐसा न हो, तो वह लाल दिखाई नहीं दे सकता। यह उसकी ग्रहण-शक्ति का चमत्कार है। इसी प्रकार करणों में 'ग्रहण' शक्ति है, 'ग्राहकता' शक्ति नहीं। आत्मतत्त्व में 'ग्राहकता' शक्ति है, चेतन होने से। साधारण दशा में ग्रहणशक्ति आत्मा में नहीं रहती, उसे इसके लिए कारणों की अपेक्षा रहती है। इसलिए संसार दशा में स्थूल देह के साथ सूक्ष्म देह के रूप में समस्त करण आत्मा से तब तक सम्बद्ध रहते हैं, जब तक विवेकख्याति के अनन्तर देहपात नहीं हो जाता। परन्तु असाधारण दशा में अर्थात् जब आत्मा पूर्णज्ञानी आत्मदर्शी जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर देहपात के अनन्तर मुक्त हो जाता है, उस समय ग्रहण के लिए आत्मा को कारणों की अपेक्षा नहीं रहती। तब उसके अनुकूल सामर्थ्य उसमें उभर आता है। भले ही उस दशा में आत्मा की वैषयिक अनुभूतियों

की ओर प्रवृत्ति या रुचि न हो; पर ऐसी अनुभूतियों के लिए उसमें स्वाभाविक सामर्थ्य उभर आता है, ऐसा अनुभवी आचार्यों ने बताया है॥१८॥ [१७९]

शिष्य जिज्ञासा करता है, चित्त को ही ज्ञाता क्यों न मान लिया जाय? तब ज्ञातारूप में अन्य तत्त्व की कल्पना करना अनावश्यक होगा, आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया--

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्॥१९॥ [१८०]

[न] नहीं **[तत्]** वह–चित्त **[स्वाभासम्]** स्वप्रकाश–स्वरूप **[दृश्यत्वात्]** दृश्य होने से।

समस्त विश्व दो वर्गों में विभक्त है, एक प्राकृतिक परिणामी जड़रूप। दूसरा–अप्राकृतिक अपरिणामी चेतन स्वरूप। प्रकृति एवं प्रकृति से परिणत समस्त जगत् पहले वर्ग में और प्रकृति से भिन्न अपरिणामी चेतन आत्मतत्त्व दूसरे वर्ग में आते हैं। पहला वर्ग दृश्य और दूसरा द्रष्टा है। चित्त पहले वर्ग में आता है, क्योंकि वह प्राकृतिक है, परिणामी, त्रिगुणात्मक है, जड़ है।

सूत्र के 'स्व–अभास' पदों का अर्थ 'स्व–प्रकाश' केवल पदान्तर का प्रयोग है। यहाँ 'आभास' या 'प्रकाश' पद से भौतिक प्रकाश अभिप्रेत न होकर 'ज्ञान' रूप प्रकाश अभिप्रेत है। यद्यपि लौकिक प्रकाश दृश्य को दिखाने में साधन होता है, पर वह स्वयं ज्ञाता व द्रष्टा नहीं होता। भौतिक प्रकाश के रहने पर दृश्य का द्रष्टा व ज्ञाता उक्त प्रकाश से अतिरिक्त केवल आत्मतत्त्व रहता है। फलतः चित्त दृश्य होने से स्वभास–स्वरूपेण ज्ञाता व द्रष्टा नहीं हो सकता॥१९॥ [१८०]

चित्त के 'स्वाभास' न होने में सूत्रकार अन्य युक्ति प्रस्तुत करता है–

एकसमये चोभयानवधारणम्॥२०॥ [१८१]

[एकसमये] एक समय में **[च]** तथा **[उभयानव-धारणम्]** दोनों का अवधारण-निश्चय-ज्ञान नहीं हो सकता।

वृत्त्यात्मक ज्ञान विविध प्रकार का होने से 'विज्ञान' कहा जाता है। यह व्यापार क्योंकि चित्त का है, इसलिए चित्त विज्ञान से अतिरिक्त कुछ नहीं। विज्ञान ही चित्तरूप है। विज्ञान क्योंकि क्षण-क्षण में नया-नया उभरता रहता है, इसी स्थिति को लक्ष्य कर यह विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि चित्त को 'स्वाभास' माना जाता है, तो इसका यह तात्पर्य है, कि वह चित्त अथवा विज्ञान जिस क्षण में अपने आपको प्रकाशित करता है, उसी क्षण में वह विषय को प्रकाशित करता है। उसके अस्तित्व का इतना ही काल है, क्योंकि अगले क्षण में दूसरा विज्ञान उभरना है। इसलिए यदि विज्ञानरूप चित्त 'स्वाभास' है, तो वह उस एक ही काल में अपने आपको और विषय को [अर्थात् इन दोनों को] प्रकाशित नहीं कर सकता। वह अपने आपको और विषय को एक ही समय में जाने, यह सम्भव नहीं।

एक व्यापार एक समय में दो विभिन्न कार्यों को सम्पादन करने में सक्षम नहीं हो सकता। फलतः चित्त को 'स्वाभास' नहीं माना जा सकता, वह व्यापार केवल विषय का ज्ञान करा देता है। इसलिए विज्ञानरूप चित्त एक समय में अपने आपका और अपने से भिन्न विषय का अवधारण-ज्ञान करे, यह युक्तिविरुद्ध है। उस समय में वृत्त्यात्मक विज्ञान का होना या उभरना ही एक क्रिया (व्यापार) है। वह क्रिया एक का ज्ञान करा सकती है, वह विषय है। अतः चित्त को स्वभास कहना अप्रामाणिक है। इससे स्पष्ट होता है-चित्त के दृश्य होने के कारण उसका द्रष्टा कोई अन्य होना चाहिए, वह अपरिणामी चेतन आत्मतत्त्व है॥२०॥ [१८१]

शिष्य जिज्ञासा करता है-यह माना कि चित्त 'स्वाभास' न हो, पर यह क्यों न मान लिया जाय, कि पहले चित्त का द्रष्टा

अगला चित्त रहे। प्रत्येक चित्त अपने विषय का और अपने से पहले चित्त का ज्ञान करायेगा। तब अतिरिक्त आत्मतत्त्व मानना अनावश्यक होगा। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया -

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृति-संकरश्च॥२१॥ [१८२]

[चित्तान्तरदृश्ये] एक चित्त के अन्य चित्त से देखे जाने पर **[बुद्धिबुद्धेः]** उस दूसरी बुद्धि के ज्ञान से **[अतिप्रसङ्गः]** अनवस्था दोष उपस्थित होगा, **[स्मृति-सङ्करः च]** और स्मृति का संकर दोष होगा।

चालू शास्त्रीय चर्चा के प्रसंग में 'बुद्धि, विज्ञान, चित्त' ये पद एक ही अर्थ को कहते हैं। सूत्र में चित्त पद एक बार और बुद्धि पद दो बार प्रयुक्त हुआ है। पहला बुद्धि पद चित्त का पर्याय है और दूसरे बुद्धि पद का अर्थ केवल ज्ञान अथवा 'जानना' है। यदि एक चित्त दूसरे चित्त से जाना जाता है, तो अनवस्था दोष उपस्थित हो जाता है।

शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार से यह स्पष्ट है कि चित्त एक दृश्य पदार्थ है। उसको देखने या जाननेवाला कोई द्रष्टा, ज्ञाता अन्य पदार्थ है। इसका संकेत गत अठारहवें सूत्र में कहा गया है। वह द्रष्टा आत्मतत्त्व है, यह योगशास्त्र बताता है। यदि अन्य विचारक के अनुसार पहले चित्त का द्रष्टा उससे आगे होनेवाले चित्त को माना जाता है, तो जहाँ चित्तसन्तति समाप्त होगी, उस अन्तिम चित्त का ज्ञाता कौन होगा? यदि चित्तसन्तति अनन्त स्थिति तक मानी जाती है, तो इसके कहीं अवस्थित न होने से अनवस्था दोष स्पष्ट है।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि क्या अगले चित्त (विज्ञान) के काल में पहला चित्त अवस्थित रहता है, या नहीं? यदि अगले चित्त का दृश्य होने के कारण उसे अवस्थित माना जाता है, तो यह विचार असंगत हो जाता है कि प्रत्येक

विज्ञान (चित्त) प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता रहता है, क्योंकि पहला विज्ञान दृश्यरूप से दूसरे विज्ञान के काल में अवस्थित है। यदि दूसरे विज्ञान के काल में पहला विज्ञान क्षणिक [एक क्षण स्थायी] होने से नहीं रहा, तो वह दूसरे विज्ञान का दृश्य कैसे बनेगा? विज्ञान, चित्त या बुद्धि के क्षणिक मानने पर अग्रिम क्षणवर्ती चित्त से पूर्वक्षणवर्त्ती चित्त का जानना असम्भव होगा। यदि चित्त को चित्तान्तर का दृश्य माना जाता है, तो ये दोष स्पष्ट हैं।

इसके अतिरिक्त इस विचारधारा के अनुसार स्मृति में सङ्कर हो जायगा। जितने ज्ञान हुए हैं, उन सबकी स्मृतियों के उभरने का अवसर निरन्तर बना रहेगा, उन सब स्मृतियों में अपेक्षित स्मृति का कहीं पता नहीं लगेगा। तात्पर्य है-कोई एक निश्चित स्मृति हो, ऐसा कभी सम्भव न होगा। इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि द्रष्टा के देखे अर्थ को अन्य द्रष्टा स्मरण नहीं कर सकता। 'नान्यदृष्टमन्यः स्मरति' यह दार्शनिकों का सर्वमान्य सिद्धान्त है। यदि इसकी उपेक्षा कर दी जाती है, तो इस दृष्टि से भी स्मृतियों का साङ्कर्य होगा। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य के अथवा किन्हीं अन्यों के अनुभवों को स्मरण कर सकेगा, तब इस रूप में भी स्मृति-साङ्कर्य दोष उपस्थित होगा।

फलतः अस्थायी चित्त को द्रष्टा मानेजाने में उक्त दोषों का निवारण अशक्य है, इसलिए द्रष्टा को नित्य स्थिर मानना ही निर्दोष है। सांख्योगाचार्यों ने ऐसे नित्य स्थिर चेतन आत्मतत्त्व को द्रष्टा स्वीकार किया है॥२१॥ [१८२]

शिष्य जिज्ञासा करता है, चित्त न स्वप्रकाश है, न अन्य चित्त से जानाजाता है, तो उसका अनुभव कैसे माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने बताया-

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि-संवेदनम्॥२२॥ [१८३]

[चितेः, अप्रतिसंक्रमायाः] प्रतिसंक्रम-परिणतिगति से रहित अर्थात् स्थिर चिति (चेतन आत्मतत्त्व) के समीप **[तद्-आकारापत्तौ]** विषयाकार चित्त के प्राप्त होने पर, चिति को **[स्व-बुद्धि-संवेदनम्]** अपने चित्त का अनुभव हो जाता है।

चिति शक्ति-चेतन आत्मा अपरिणामी है। उसमें प्रति-संक्रमण-परिणाम कभी नहीं होता। इन्द्रिय प्रणाली से जब विषय चित्त में प्रतिबिम्बित होता है, तो चित्त का विषयाकार परिणाम आचार्यों ने माना है। ऐसा चित्त जब चेतन आत्मा के सम्पर्क में आता है, तब आत्मा को उस विषयाकार चित्त का बोध हो जाता है। विषय और चित्त दोनों का अनुभव उस बोध में झलकता है। यहाँ सविषय चित्त दृश्य है, चेतन अपरिणामी नित्य आत्मा द्रष्टा है। आत्मा अपने नित्य चेतनस्वरूप में अवस्थित रहता है। यदि ऐसा न हो, उसके चेतनस्वरूप में परिणाम हो जाय, तो उसे किसी का अनुभव या बोध न हो सकेगा। जैसे स्वच्छ स्फटिक के सम्पर्क में जपा कुसुम (गुड़हल का लाल फूल) आता है, तो स्फटिक लाल दिखाई देता है, पर वस्तुतः उस समय भी स्फटिक की स्वच्छ शुभ्रता बराबर बनी रहती है। यदि शुभ्रता न रहे, उसमें परिणाम या परिवर्तन हो जाय, तो वहाँ रक्तिमा का प्रतिफलित होना सम्भव न होगा। इसी प्रकार शुद्ध चेतनस्वरूप आत्मा के सम्पर्क में जब विषयाकार परिणत चित्त आता है, तब आत्मा को सविषय चित्त का बोध होता है, यदि आत्मा अपने चैतन्यरूप में उस समय अवस्थित न रहे, तो वह बोध होना सम्भव न होगा। अतः विषयबोध के अवसर पर आत्मा में कोई विकार या परिणाम नहीं होता। फलतः चेतन द्रष्टा आत्मा को नित्य स्थिर मानना सर्वप्रमाण सिद्ध है। सविषय चित्त दृश्य का अनुभव द्रष्टा आत्मा को होता है, अन्य चित्त को नहीं॥२२॥ [१८३]

चित्त को द्रष्टा माननेवाले विचारकों की भ्रान्ति का आधार आचार्य सूत्रकार ने बताया—

द्रष्ट्दृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥२३॥ [१८४]

[द्रष्ट्दृश्योपरक्तम्] द्रष्टा और दृश्य दोनों से उपरक्त-रंगा हुआ **[चित्तम्]** चित्त **[सर्वार्थम्]** सब विषयोंवाला प्रतीत होता है।

चेतन आत्मतत्त्व को द्रष्टा न मानकर उसके स्थान पर अचेतन चित्त को द्रष्टा माननेवाले विचारकों को कदाचित् इस विषय में भ्रान्ति होना संभावित है। उस भ्रान्ति का आधार क्या हो सकता है? इसी तथ्य को सूत्रकार ने यहाँ स्पष्ट किया है।

जब हम किसी वस्तु को इन्द्रियों के द्वारा देखते या जानते हैं, इस जानने के तीन स्तर रहते हैं। ग्राह्य वस्तु बाहर विद्यमान रहती है, उस वस्तु का बोध या अनुभूति ज्ञान आन्तर आत्मा को होता है। वस्तु बाहर ही रहती है, वह अन्दर नहीं चली जाती, इस प्रकार आत्मा उस वस्तु का द्रष्टा है। तीसरा स्तर करणों का है। करण सत्त्वप्रधान होने से अर्थ के प्रकाशक होते हैं। उनमें ग्राह्य विषय को ग्रहण करने की शक्ति रहती है। ये करण बाह्य इन्द्रिय से लगाकर आन्तर चित्त तक हैं। बाह्य विषय इन्द्रिय प्रणाली द्वारा चित्त पर प्रतिबिम्बित होता है, तब चित्त विषयाकार हो उठता है। इसी रूप में वह आत्मा से सम्बद्ध होकर आत्मा को बाह्य वस्तु का बोध कराने में मुख्य साधन होता है। इस प्रकार बाह्य वस्तु ग्राह्य, समस्त करण ग्रहण (साधन) और आत्मा (ग्रहीता) द्रष्टा है। ग्राह्य, ग्रहण और द्रष्टा इन तीन स्तरों पर गुजरता हुआ बाह्य वस्तु का ज्ञान (बोध-अनुभव) आत्मा को होता है।

कतिपय विचारक कदाचित् ऐसा समझते रहे हैं कि जब इन्द्रिय प्रणाली द्वारा बाह्य विषय अतिशय सत्त्वप्रधान चित्त तक पहुँचता है, तो अपने सर्वातिशायी सात्त्विकरूप के कारण बाह्य वस्तु का ज्ञान चित्त को हो जाता है, तब अतिरिक्त आत्मा को द्रष्टा मानना अनावश्यक है, क्योंकि तब द्रष्टा और दृश्य दोनों

स्थितियों से चित्त उपरक्त रहता है, ये दोनों भाव उसमें उभर आते हैं। इसी आधार पर कदाचित् अन्य कतिपय विचारक चित्त को द्रष्टा मान बैठे।

पर वस्तुतः चित्त प्राकृतिक [सत्त्व-रजस् तमस् जड़ तत्त्वों का विकार] होने से जड़ है, अतः उसकी रचना में सत्त्व का कितना भी प्राधान्य हो, उसके जड़स्वरूप में परिवर्तन नहीं हो सकता। बोध या अनुभूति केवल चेतन का धर्म या स्वरूप है; अतः यह जड़ चित्त में सम्भव नहीं।

यदि जड़ चित्त को द्रष्टा माननेवाला विचारक चित्त को चेतन के समान होने के लिए अतिरिक्त चेतन को स्वीकार कर उसके सम्पर्क से चेतन के समान हुए चित्त को द्रष्टा कहता है, तो साक्षात् चेतन को ही द्रष्टा क्यों न माना जाय? उसने क्या अपराध किया? जो द्रष्टा एवं साक्षीस्वरूप आत्मा को ऐसे जड़तत्त्व का सहयोगी बना दिया गया, जिसको 'परार्थ' माना गया है। यह तो वास्तविकता का शीर्षासन कर देने के समान है। जो चित्त आत्मा के प्रयोजन (भोग, अपवर्ग) को सिद्ध करने के लिए एक साधनमात्र है, इसीलिए 'परार्थ' कहा गया है, पर जब जड़ चित्त को चेतन के समान बनाने के लिए आत्मा का उपयोग किया जाता है, तो उल्टा आत्मा 'परार्थ' हो गया।

इस विवेचन से स्पष्ट है चित्त की सर्वार्थता (सब विषयोंवाला होना) इसी तथ्य पर आधारित है कि वह समस्त बाह्य का आन्तर विषयों की-आत्मा के लिए-जानकारी के प्रमुख साधन है तथा आत्मा के साक्षात् सम्पर्क में रहने से उसमें द्रष्टृत्व का आरोप कर लिया जाता है। इसी कल्पनामूलक व औपचारिक द्रष्टृत्व को चित्त में मान लेने से वास्तविक द्रष्टा आत्मा का अपलाप सर्वथा निराधार व अप्रामाणिक है॥२३॥ [१८४]

इसी आधार पर आचार्य सूत्रकार ने आत्मा को भोक्ता बताया। जो द्रष्टा है वही भोक्ता हो सकता है। द्रष्टा अन्य हो

और भोक्ता अन्य, यह सम्भव नहीं। इस तथ्य को आचार्य ने सूत्रित किया—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्य कारित्वात्॥२४॥ [१८५]

[तत्] वह चित्त **[असंख्येयवासनाभिः]** अनगिनत वासनाओं से **[चित्रम्]** चित्रित हुआ-चितेरा हुआ **[अपि]** भी **[परार्थम्]** अन्य के लिए होता है; **[संहत्यकारित्वात्]** संहत्यकारी होने के कारण।

सांख्य-योग का यह सिद्धान्त है कि जो संघात है, वह परार्थ होता है। समस्त विश्व 'सत्त्व-रजस्-तमस' तीन गुणों का संघात है। ये गुण इकट्ठे होकर-एक-दूसरे में गुथकर [अन्योन्यमिथुनीभूत होकर] जो रूप धारण करते हैं, वह अन्य के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए होता है। अन्य समस्त करणों के साथ चित्त भी 'संघात' है। सत्त्वादि गुण संहत होकर चित्त के रूप में अभिव्यक्त हुए अन्य के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। वह अन्य 'पुरुष' अर्थात् चेतन आत्मा है।

आत्मा के साथ-चित्त आदि के रूप में प्रकृति का सम्बन्ध अनादि काल से प्रवृत्त है। शुभ-अशुभ जिन कर्मों को आत्मा अब तक करता आ रहा है, उनसे जनित अनगिनत वासनाओं का योग चित्त के द्वारा प्रसाधित होता है। चित्त स्वयं उन कर्म व वासनाओं से कोई लाभ या हानि नहीं उठाता। उनसे अनुकूल या प्रतिकूल जैसी अनुभूति होती है, वह सब आत्मा को होती है। पर इस सबके लिए मुख्य साधन चित्त होता है। इन विविध अनन्त वासनाओं से साधनरूप में चित्रित हुआ भी चित्त सब-कुछ आत्मा के लिए करता रहता है। क्योंकि प्रत्येक संघात 'पर' के लिए होता है। यदि वह 'पर' भी संघात हो, तो वह भी 'पर' के लिए होगा। 'पर' को संघात मानने से अनवस्था दोष होता है, इसलिए 'पर' असंहत तत्त्व

होना चाहिए। फलतः प्रकृति से भिन्न पुरुष–आत्मा ही असंहत तत्त्व है। उसी के भोग–अपवर्ग रूप प्रयोजन को समस्त संघात यथायथ सिद्ध किया करता हैं

कहा जा सकता है कि सांख्य[१] [१।३१, १०५] के अनुसार संहत पदार्थ ही परार्थ माना जाता है, साम्यावस्थापन्न मूल प्रकृति संहत नहीं है। तात्पर्य है–संघात विषम अवस्था में संभव है, सम अवस्था में नहीं। जब संघात के परार्थ होने का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है, तब बुद्धि आदि संघात को परार्थ कहना चाहिए, मूल प्रकृति को नहीं। बुद्धि आदि परिणाम हैं–प्रकृति के, परन्तु प्रकृति किसी का परिणाम नहीं है, इसलिए प्रकृति अपरिणत है, असंहत है। ऐसी दशा में बुद्धि आदि की परार्थता–प्रकृति के लिए मानने पर–चरितार्थ होता है। सांख्यकारिका (६२,६३) के अनुसार प्रकृति के ही बन्ध और मोक्ष होते हैं; इसका भी सामञ्जस्य हो जाता है।

यदि इस विचार को वास्तविकता की हवा दी जाती है, तो सांख्य से 'पुरुष' हवा हो जाता है; क्योंकि संघात को प्रकृति के लिए परार्थ मानकर फिर पुरुष चेतन की आवश्यकता क्या रह जाती है? प्रकृति सब–कुछ अपने लिए करती रहती है, यही कहना चाहिए। सांख्य में पुरुष–विषयक जितना आघोष है, वह भी सब व्यर्थ हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि संघात के स्वरूप को समझ जाय तथा प्रकृति को उसी वर्ग में गिना जाय।

वस्तुतः जो त्रिगुणात्मक है, सब संघात है। साम्य अवस्था में प्रकृति को असंहत समझना पूर्ण सांख्यदृष्टि नहीं है। यह ठीक है कि प्रकृति किसी का परिणाम नहीं, पर इसीलिए उसे असंहत कहना और पुरुष के समकक्ष समझना युक्त नहीं। किसी का परिणाम न होने में दोनों के समान होने पर भी पुरुष का कोई परिणाम नहीं होता, पर प्रकृति का समस्त विश्व परिणाम है। इसप्रकार पुरुष अत्रिगुण, अपरिणामी है, जबकि प्रकृति त्रिगुण,

१. यह संख्या विद्योदयभाष्य के अनुसार है। ३५ जोड़कर अन्यत्र द्रष्टव्य है।

परिणामी। उसका त्रिगुण होना ही उसके 'संहत' होने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। यह आवश्यक नहीं कि विषम अवस्था ही 'संघात' मानी जाय, सम न मानी जाय। फलतः 'संघातपरार्थत्व' हेतु त्रिगुणात्मक जड़ तत्त्व से अतिरिक्त चेतन पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने में समर्थ होता है। प्रकृति के बन्ध-मोक्ष कहना केवल औपचारिक है। इसलिए चित्त से परे भोक्ता पुरुष-चेतन आत्मा को मानना आवश्यक है॥२४॥ [१८५]

गत प्रसंग से चित्त और आत्मा के भेद को बताकर सूत्रकार कहता है कि जब योग-समाधि द्वारा इनके भेद का आत्मा को साक्षात्कार हो जाता है, तब यह सब विचारधारा स्वयं समाप्त हो जाती है। इस भाव को आचार्य ने सूत्रित किया-

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः॥२५॥ [१८६]

[विशेषदर्शिनः] भेद का साक्षात्कार कर लेनेवाला योगी को **[आत्मभाव-भावना-विनिवृत्तिः]** चित्त में आत्मीयता की भावना समाप्त हो जाती है।

सूत्र में पहला 'विशेष' पद भेद को पर्याय है। जब योगी को समाधि द्वारा प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जाता है, तब प्राकृत चित्त, देह आदि में आत्मभाव (आत्मीयता, चित्त आदि को आत्मा का स्वरूप समझने) की भावना समाप्त हो जाती है। जब तक पुरुष को विवेकज्ञान नहीं होता, तब तक वह प्रकृति के सम्पर्क में रहता हुआ प्रकृति के कार्य चित्त-देह आदि को आत्मा का रूप समझता है। देह-इन्द्रिय आदि से विकार होने पर तब आत्मा यही जानता-समझता है कि यह विकार मुझमें हो रहा है। मुझे ज्वर हो गया, मुझे अतिसार लग गये; इत्यादि देहधर्मों को आत्मा में समझने की तात्पर्य है-वह देहादि में आत्मभाव रखता है, देहादि को आत्मा समझता है। इस प्रकार की भावना विवेकज्ञान हो जाने पर समाप्त हो जाती है।

जैसे वर्षा ऋतु में मेह बरसने के बाद पृथिवी पर अनेक

प्रकार की ओषधि वनस्पतियाँ अंकुरित हो आती हैं, इससे अनुमान होता है कि उनके बीज पृथिवी में पहले से विद्यमान थे, इसी प्रकार मोक्षविषयक कथा-प्रवचन आदि सुनने पर हर्ष से जिसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं अथवा भावनाओं का उद्गार उभर आने से आँसू निकल आते हैं, उससे अनुमान होता है इस व्यक्ति ने पूर्वजीवन में मोक्ष-मार्ग का अभ्यास किया हुआ है। यहाँ अपवर्ग प्राप्त कराने का बीज विद्यमान है। ऐसी दशा में आत्मभाव की स्वाभाविक भावना प्रवृत्त रहती है। आत्मा को आत्मा समझना, देहादि को आत्मा से भिन्न प्राकृतिक समझना, ओर यह जानना कि प्राकृतिक जड़ चित्त आत्मा का साधनमात्र रहकर उसके लिए निरन्तर बाह्य आभ्यन्तर विषयों को प्रस्तुत किया करता है।

जिस आत्मा में अपवर्गभागीय बीज नहीं होते, वहाँ स्वभाव को छोड़कर दोषों (राग, द्वेष, मोह आदि) से अभिभूत अनधिकारी आत्मा में विषय-भागीय बीज विद्यमान रहते हैं। वहाँ अपवर्गीय मार्ग से विपरीत भाव उभरते रहते हैं। जैसे-कर्मों का फल कुछ नहीं मिलता, पूर्व-पर जन्म (जीवन) का कोई अस्तित्व नहीं है। मैं कौन था? कैसे था? यह सब जगत् क्या है? किस प्रकार हुआ है? हम क्या होंगे? और कैसे होंगे? इत्यादि बातों को कौन जानता है? इसलिए संसार में जैसे चाहो-मजे से रहो।

इस प्रकार की पूर्वपक्षीय-विषयभागीय भावना उस समय पूर्णरूप से समाप्त हो जाती हैं, जब अपवर्गभागीय बीज प्रबल होकर अध्यात्म-मार्ग को अंकुरित कर निरन्तर योगाङ्गों के अनुष्ठान से समाधि अवस्था को उजागर कर देते हैं। उस समय आत्मा अपने शुद्ध, पवित्र अपरिणामी चैतन्य स्वरूप का अनुभव करता है तथा समझ लेता है-मैं प्रकृति एवं प्राकृत चित्तधर्मों से सर्वथा अछूता हूँ। तब प्राकृत तत्त्वों में आत्मीयता की भावना नितान्त निवृत्त हो जाती है॥२५॥ [१८६]

शिष्य जिज्ञासा करता है, उस समय चित्त की दशा कैसी हो जाती है? आचार्य सूत्रकार ने बताया -

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥२६॥ [१८७]

[तदा] उस समय **[विवेक-निम्नम्]** विवेक की ओर झुकनेवाला **[कैवल्य प्राग्भारम्]** कैवल्य-भावना के प्रभाव से भरा हुआ **[चित्तम्]** चित्त हो जाता है।

विवेकदर्शी आत्मा का चित्त उस दशा में वैषयिक प्रवृत्तियों से हटकर विवेक की ओर झुका हुआ आत्मा के कैवल्य-प्रवाह से ओत-प्रोत रहता है।

विवेकज्ञान होने से पहले जो चित्त विषयों में लिपटा हुआ अज्ञानमार्ग की ओर प्रवृत्त रहता था, अब उससे विपरीत दशा में अवस्थित हो गया है। आत्मा ने अपने केवल- प्रकृतिविनिर्मुक्त (प्रकृति से असंसक्त) शुद्धरूप को साक्षात् कर लिया है, चित्त उसी भावना के प्रवाह से आपूरित रहता है। अज्ञानमूलक प्रवृत्तियों से हटकर विवेक से अभिव्यक्त ज्ञान के मार्ग में अवस्थित हो गया है॥२६॥ [१८७]

शिष्य जिज्ञासा करता है, योगी का चित्त उस समय उक्त प्रकार का होना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि योगी को भिक्षाटन करते, सामान्य दैहिक कार्यों को प्रवृत्त रखते देखा जाता है। यह सब व्युत्थान दशा की प्रवृत्ति हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥२७॥ [१८८]

[तत्-छिद्रेषु] विवेकी चित्त के छिद्रों-अन्तराल के अवसरों में **[प्रत्ययान्त-राणि]** विवेकज्ञान-प्रवाह से भिन्न ज्ञान होते रहते हैं। **[संस्कारेभ्यः]** संस्कारों से।

योगी के चित्त का विवेकख्याति का प्रवाह जब तक चलता रहता है, उस बीच में कोई व्युत्थान संस्कार उभार में

नहीं आते। यह दशा पूर्णयोगी की पूर्णसमाधि की है। ऐसे योगी के समाधिकाल में व्युत्थान के कोई संस्कार नहीं उभरते। ऐसे योगी का जीवन प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए चालू रहता है। तब जीवन सम्बन्धी आहार व दैहिक कार्यों को पूरा करने के लिए समाधि दशा से उठकर व्युत्थान दशा में आना होता है। यह क्रम योगी का उस समय तक चलता रहता है तब तक प्रारब्ध कर्म भोगे जाकर समाप्त नहीं हो जाते। ये ही अवसर व्युत्थान के बीच--बीच में आते रहते हैं। ऐसे अन्तराल काल को सूत्र में 'छिद्र' पद से कहा है। इन्हीं अवसरों में व्युत्थान की वृत्तियाँ–यह मैं हूँ, यह मेरा है, मैं जानता हूँ, या नहीं जानता, इत्यादि–उभरती हैं, पर इन वृत्तियों के संस्कार परिणत नहीं होते, क्योंकि ये वृत्तियाँ केवल प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए सक्रिय होती हैं। उस कर्म का फल भोगे जाने पर न वह प्रारब्ध कर्म रहता है और न उससे सम्बद्ध वृत्तियाँ न उनके संस्कार।

पूर्ण योगी के आत्मा में उन्हीं कर्मों के संस्कार सम्भावित रहते हैं, जो प्रारब्ध कर्मों के भोगने में सहयोगी नहीं होते। ऐसा योगी अशुभ व अवांछनीय कर्म कर ही नहीं सकता, जो स्वतन्त्र शुभ कर्म किये जाते हैं, उनके संस्कार आत्मा में रह जायें, ऐसा सम्भव है। ये संस्कार प्रारब्ध कर्म भोगे जाने पर देह–पात के अनन्तर उस आत्मा से मुक्त होने में बाधक नहीं होते। मुक्ति में वे ही कर्म बाधक होते हैं, जो अज्ञान दशा में अर्थात् पूर्ण विवेकज्ञान से पूर्व किये गये हैं। उनमें से सञ्चित कर्म योगाग्नि से दग्ध हो जाते हैं तथा प्रारब्ध कर्म भोगे जाकर समाप्त कर दिये जाते हैं। अब पूर्ण योगी के सञ्चित व प्रारब्ध कर्म ऐसे कोई नहीं रहते, जो चालू देहपात के अनन्तर उस आत्मा को सद्यः देहबन्धन में डालने के लिए समर्थ हों। जो क्रियमाण स्वतन्त्र शुभ कर्म पूर्णज्ञान की दशा में आत्मा द्वारा हुए हैं, उनके शुभ संस्कार आत्मसाक्षात्कार की प्रतियोगिता में इतने दुर्बल होते हैं कि वे उस पूर्णज्ञानी आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने

में बाधा नहीं डाल पाते। फलतः उस समय शान्त हो आत्मा में निहित हो जाते हैं। मोक्ष-काल पूरा होने पर वे सक्रिय हो उठते हैं। उन्हीं से प्रेरित आत्मा मोक्षकाल के अनन्तर शुभ योनियों में जन्म लेकर अथवा सर्गादिकाल में अमैथुनी सृष्टि के अवसर पर संसार में आता है। यह चक्र अनिश आवर्त्तमान अनादि अनन्त है[१] ॥२७॥ [१८८]

शिष्य जिज्ञासा करता है, पूर्ण आत्मज्ञान हो जाने पर व्युत्थान संस्कारों को नष्ट करने का क्या उपाय है? जिससे पूर्ण आत्मज्ञान की दशा में वे संस्कार व्युत्थान-वृत्तियों को न उभार सकें सूत्रकार ने समाधान किया--

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥ [१८९]

[हानम्] हान--नाश **[एषाम्]** इन संस्कारों का **[क्लेशवत्]** क्लेशों के समान **[उक्तम्]** कहा गया समझना चाहिए।

जो उपाय अविद्या आदि क्लेशों को निवृत्त करने व नाश करने के लिए बताया गया है, वही उपाय इन व्युत्थान संस्कारों के नाश के लिए समझना चाहिए।

साधनपाद के प्रारम्भिक सूत्रों द्वारा आचार्य ने बताया है-तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान-क्लेशों को शिथिल करने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं। ब्रह्मचर्य आदि का पालन, द्वन्द्वसहन, अध्यात्मशास्त्रों का परिशीलन, प्रणव--जप आदि का निरन्तर अनुष्ठान ऐसे उपाय हैं, जिनसे अविद्या आदि क्लेश सर्वथा निष्क्रिय दशा में पहुँच जाते हैं, पुनः सिर उठाने-उभरने का सामर्थ्य उनमें नहीं रहता। व्युत्थान के संस्कारों को शिथिल

१. मोक्षकाल के अनन्तर किन कर्मों से प्रेरित आत्मा पुनः संसार में आता है, यह इससे (पूर्वोक्त प्रसंग से) स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र में मुक्ति से न लौटने के कथन मुक्तिकाल के अतिदीर्घ होने के अभिप्राय से है। अतः उपनिषदों के ऐसे कथन औपचारिक समझने चाहिए। छान्दोग्य [४।१५।५ तथा ८।१५।१] और बृहदारण्यक [६।२।१५] के उक्तविषयक सन्दर्भों की व्याख्या करते हुए आद्य आचार्य शंकर ने भी ऐसा ही अपना अभिमत प्रकट किया है। इसके लिए देखें-ब्रह्मसूत्र [४।४।२२] विद्योदयभाष्य, आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत।

करने के लिए भी यही सर्वोत्तम उपाय है। प्रस्तुत शास्त्र में इन उपायों को 'क्रियायोग' पद से कहा गया है। यह क्रियायोग अविद्या आदि क्लेशों के समान व्युत्थान संस्कारों को भी दग्ध कर देता है॥२८॥ [१८९]

शिष्य की पूर्वोक्त जिज्ञासा का पूर्ण समाधान करने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने क्लेशदाह की पद्धति को अग्रिम दो सूत्रों से स्पष्ट किया—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥२९॥ [१९०]

[प्रसंख्याने] विवेकख्याति में **[अपि]** भी **[अकुसीदस्य]** अनुराग न रखनेवाले योगी को **[सर्वथा]** पूर्णरूप में **[विवेक-ख्यातेः]** विवेकख्याति से **[धर्ममेघः]** धर्ममेघ नामक **[समाधिः]** समाधि दशा प्राप्त हो जाती है।

सूत्र के प्रथम 'प्रसंख्यान' पद में 'प्र' और 'सम्' उपसर्ग हैं, 'ख्यान' पद 'ख्याति' का पर्याय है। जब विवकेख्याति निरन्तर अभ्यास आदि से अपने पूरे रूप में उभर आती है, उस स्थिति को 'प्रसंख्यान' कहा जाता है। 'कुसीद' पद का लोक में प्रयोग ब्याज या सूद के लिए होता है, जो ऋणरूप में धन देकर अधमर्ण से अतिरिक्त धन लिया जाता है। इस व्यवहार में उत्तमर्ण का धन के प्रति रागातिरेक प्रकट होता है। इस कारण प्रकृत में कुसीद पद राग अर्थ को कहता है। 'कुत्सितेषु सीदति, इति कुसीदो रागः।' इसके अनुसार सूत्रार्थ हुआ—जब योगी विवेकख्याति के स्तर पर पहुँच जाता है, वह अवस्था समप्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाने की है। पर योगी और आगे की अवस्था प्राप्त करने के लिए उसमें अनुराग को छोड़ देता है, अर्थात् उतने ही से सन्तुष्ट होकर नहीं बैठ जाता। तब निरन्तर उपयुक्त प्रणव जप आदि अभ्यास में लगे रहने पर विवेकख्याति की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह परमवैराग्य का स्तर

है, जहाँ व्युत्थान की समस्त वृत्तियाँ रुद्ध हो जाती हैं तथा विवेकख्यान का प्रवाह निरन्तर निर्बाध प्रवाहित होता रहता है। इसी को 'असम्प्रज्ञात योग' कहा जाता है। योग की इसी स्थिति का नाम 'धर्ममेघ' समाधि है। यह योग की सर्वोच्च अथवा अन्तिम अवस्था कही जाती है। समाधि की इस अवस्था को प्राप्त कर योगी आत्मज्ञानी होकर जीवन्मुक्त हो जाता है और चालू देह पूरा हो जाने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। तब सद्यः देहान्तर की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रसंग में यह याद रखना चाहिए, समाधि की सर्वप्रथम उद्‌बोधक अवस्था 'सम्प्रज्ञात' है। इसमें उस अनुपम आनन्दानुभूति की केवल झलकमात्र होती है। इसका फल प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) है, जब आत्मा यह स्पष्ट साक्षात् समझ लेता है-मैं प्रकृति से सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतनस्वरूप हूँ, प्रकृति जड़ एवं परिणामिनी है। प्रसंख्यान जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है, तब धर्ममेघ समाधि का स्तर आता है। इसका प्रवाह चालू रहने पर व्युत्थान के संस्कार सर्वथा रुद्ध हो जाते हैं। जबकि सम्प्रज्ञात समाधि में व्युत्थान के संस्कार उभर आते हैं और समाधि को भंग कर देते हैं। ऐसा अवसर धर्ममेघ समाधि अथवा असम्प्रज्ञात में नहीं आता। इस समाधि की पराकाष्ठा परवैराग्य है, जब पूर्ण ज्ञानप्रसाद का उदय होकर विवेकख्याति का प्रवाह भी निरुद्ध हो जाता है। यह निर्बीज समाधि की अवस्था है, जब आत्मा कैवल्य का अनुभव करता है॥२९॥ [१९०]

आचार्य सूत्रकार ने धर्ममेघ समाधि का फल बताया-

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥३०॥ [१९१]

[ततः] उससे-धर्ममेघ समाधि सिद्ध होने के अनन्तर **[क्लेशकर्मनिवृत्तिः]** क्लेश तथा तन्मूलक कर्मों की निवृत्ति-समाप्ति-हो जाती है।

धर्ममेघ समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाने से आत्मा के

अविद्या आदि क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। कर्मों से क्लेश और क्लेशों से अन्य कर्मों की परम्परा चलती रहती है। तब क्लेशों की निवृत्ति होने पर कर्मों का क्रम भी समाप्त हो जाता है। क्लेश-कर्मों के निवृत्त होने पर आत्मज्ञानी योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। अविद्या-मिथ्याज्ञान ही संसार का कारण है। अविद्या के क्षीण हो जाने पर कोई कहीं देहधारण करता नहीं देखा जाता। प्रारब्ध कर्म भोगे जाने पर जब चालू देह का पतन हो जाता है, तब ज्ञानी आत्मा मोक्ष पा जाता है॥३०॥ [१९१]

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाने पर जब समस्त क्लेश-कर्म निवृत्त हो जाते हैं, तब चित्त की कैसी अवस्था सामने आती है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेयमल्पम्॥३१॥ [१९२]

[तदा] तब-क्लेश कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर धर्ममेघ समाधि की दशा में **[सर्वावरणमलापेतस्य]** सब आवरण और मलों से रहित हुए **[ज्ञानस्य]** चित्त के **[आनन्त्यात्]** अनन्त-अत्यधिक शक्तिसम्पन्न हो जाने से **[ज्ञेयम्]** ज्ञेय-जानने योग्य विषय **[अल्पम्]** थोड़ा हो जाता है।

चित्त सत्त्वप्रधान होने से स्वभावत: वह सब वस्तुओं के प्रकाश करने में समर्थ रहता है। परन्तु तम से अभिभूत हो जाने पर उसका प्रकाशसामर्थ्य ढक जाता है। रजोगुण की प्रवृत्ति से जब कहीं आवरण उघड़ जाता है, तो चित्त विषय को ग्रहण कराने में समर्थ हो जाता है। इसके आवरण व मल आदि का विवरण प्रथम पाद के तीस-इकत्तीस सूत्रों में दिया गया है। इनके रहते चित्त सब विषयों के ग्रहण कराने में असमर्थ रहता है। सूत्र में 'ज्ञान' पद चित्त के लिए प्रयुक्त हुआ है-'ज्ञायते अनेन, इति ज्ञानम्, वृत्त्यात्मक ज्ञान साधनं चित्तमित्यर्थ:।' 'ज्ञा' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर सिद्ध हुआ

'ज्ञान' पद वृत्यात्मक ज्ञान के साधन चित्त का वाचक है।

यह चित्त धर्ममेघ समाधि के स्तर पर जाकर समस्त आवरण व मल आदि से रहित होकर प्रकाश करने के पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त करता है। अर्थप्रकाश करने की पूर्ण शक्ति को सूत्र में 'अनन्त' पद से कहा है। चित्त का अनन्त होना [आनन्त्य] यही है, कि इस अवस्था में चित्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, अनागत सब अर्थतत्त्वों के ग्रहण कराने [प्रकाश] में समर्थ रहता है। अब ऐसा विषय रहा कहाँ, जिसका वह ग्रहण न करा सके। इसी आशय से चित्त (प्रकाश) को अनन्त और ज्ञेय (ग्राह्य-प्रकाश्य) को अल्प कहा है।

इस अवस्था में योगी निर्मल चित्त-साधन द्वारा स्वरूप के साक्षात्कार के साथ प्रकृति एवं समस्त प्राकृत दिव्य- अदिव्य विषयों (ज्ञेयों) की वास्तविकता का साक्षात्कार कर लेता है। उनकी जड़ता, परिणामशीलता आदि दोष योगी को हथेली पर रखे आँवले के समान साक्षात् हो जाते हैं। तब नितान्त सत्त्व-प्रधान चित्त की प्रवृत्ति बाह्य विषयों की ओर से पूर्ण विरक्ति की दशा में आ जाती है। उनकी ओर चित्त की प्रवृत्ति नितान्त निवृत्त हो जाती है। इसी अवस्था शास्त्र में 'परवैराग्य' कहा है। इस समय व्युत्थान के संस्कार सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं। यही कारण है कि इस अवस्था को प्राप्त योगी संस्कारों के निःशेष हो जाने से सद्यः फिर देहधारण नहीं करता। क्योंकि देह-धारण के निमित्त संस्कार नहीं रहते।

यदि बिना निमित्त के कार्य हो जाया करे, तो अन्धा मोती में छेद करे, लुञ्जा (जिसके हाथ व अंगुली नहीं है, वह) माला गूँथे, ग्रीवारहित उसे धारण करे और जिह्वा (वागिन्द्रिय) रहित व्यक्ति उसकी स्तुति करे। तात्पर्य है-कारण के बिना कार्य हो जाया करे, तो ये बातें भी हो जाया करें। पर यह सम्भव नहीं। इसी प्रकार संस्कार (सञ्चित) हीन आत्मा का देह-धारण सम्भव नहीं॥३१॥ [१९२]

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद रूप परवैराग्य भले ही व्युत्थानसंस्कारों, क्लेश कर्मों आदि को समूल नष्ट कर दे, परन्तु नैसर्गिक विकार व परिणामस्वभाव वाले गुण (सत्त्व-रजस्-तमस्) देह इन्द्रिय आदि को उस आत्मा के लिए क्यों न उत्पन्न कर दें? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्॥३२॥ [१९३]

[ततः] उससे–धर्ममेघ समाधि के उदय से **[कृतार्थानाम्]** कृतकार्य हुए **[परिणाक्रमसमाप्तिः]** परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है **[गुणानाम्]** गुणों के।

प्रकृति के परिणाम-महत्तत्त्व से लगाकर स्थूल पृथिवी, ओषधि–वनस्पति आदि पर्यन्त सब–पुरुष के भोग तथा अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए होते हैं। जन्म-जन्मान्तरों में चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए जब आत्मा उनसे ऊबकर उनकी नश्वरता दुःखबहुलता का अनुभव करता है, तब उधर से नितृष्ण होकर वैराग्य की भावना आत्मा में जागृत हो जाती है; तब अनुभवी आचार्यों व अध्यात्म शास्त्रों के उपदेशों से प्रेरणा पाकर पुरुष आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हो उठता है। योगाङ्गानुष्ठान की पद्धति से उस दिशा में निरन्तर श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास करता हुआ धर्ममेघ समाधि के स्तर को कालान्तर में प्राप्त कर लेता है। यह पूर्ण आत्मसाक्षात्कार का स्तर है। समस्त शास्त्र में अभी तक इसी का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चालू देह में प्रारब्ध कर्मों को भोगने तक पुरुष की जीवन्मुक्त अवस्था रहती है।

ऐसे आत्मसाक्षात्कर्त्ता पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग को सिद्धकर गुण [सत्त्व–रजस्–तमस्] कृतकार्य हो जाते हैं। उस पुरुष के लिए अपना कार्य सम्पन्न कर चुके होते हैं। अतः पुनः उसके लिए देह इन्द्रिय आदि की रचना से विमुख हो जाते हैं।

तात्पर्य है- विश्व के उपादान कारण प्रकृतिरूप गुण जगन्नियन्ता सर्वान्तर्यामी परमात्मा के नियन्त्रण में उससे प्रेरित हुए महत् आदि कार्यों के रूप में परिणत होते रहते हैं। यह समस्त परिणाम पुरुष [जीवात्मतत्त्व] के भोग-अपवर्ग को सिद्ध करता है। जिस आत्मा का भोग-अपवर्ग को सिद्ध करता है। जिस आत्मा का भोग-अपवर्ग सम्पन्न हो जाता है, वह अन्तिम लक्ष्य मोक्ष (अपवर्ग) को प्राप्त कर लेता है। तब उसके लिए सद्यः गुणों को कोई कार्य करना शेष नहीं रह जाता। फलतः वे गुण उस मुक्त आत्मा के लिए देहादि की रचना नहीं करते। अन्य आत्माओं के लिए प्रवृत्त रहते हैं। यह सब कार्य ऋत [ऐश्वरी व्यवस्था] के अनुसार चला करता है॥३२॥ [१९३]

शिष्य जिज्ञासा करता है, गतसूत्र में पठित 'परिणाम-क्रमसमाप्तिः' पद के अन्तर्गत 'क्रम' का तात्पर्य क्या है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया-

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥[१९४]

[क्षणप्रतियोगी] क्षण के साम्मुख्य से बाधित होनेवाला **[परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः]** परिणाम के अवसान पर गृहीत होनेवाला **[क्रमः]** क्रम कहा गया है।

काल का सर्वातिशायी न्यून अंश 'क्षण' है, काल का जिससे छोटा और अंश सम्भव न हो। एक क्षण में क्रम का होना सम्भव नहीं। क्रम की अभिव्यक्ति के लिए अनेक क्षणों का समूह आवश्यक है। क्रमवाले के बिना क्रम का निरूपण अशक्य है। अतः वस्तुतत्त्व को काल के साम्मुख्य में लाकर परिणाम[१]-क्रम का निरूपण होता है।

मृतिपण्ड से घड़ा बना, तन्तुओं का कपड़ा बना। घड़ा और कपड़ा जब बनते हैं, तब नवीन दृढ़ व स्थिर दिखाई देते हैं।

---

१. विभूतिपाद के प्रारम्भिक पाँच सूत्रों [९-१३] में परिणाम का विस्तृत विवरण दिया गया है। इस प्रसंग को पढ़ने व समझने के समय उसे स्मरण रखना चाहिए।

न केवल दिखाई देते, पर वस्तुतः वे वैसे ही होते हैं। कालान्तर में जाकर उनमें परिवर्तन देखा जाता है। प्रारम्भ में कुछ काल तक वस्तु की नवीनता स्थिरता आदि उसी तरह दिखाई देती रहती है। कुछ अधिक काल बीतने पर वस्तु की इन स्थितियों में स्पष्ट परिवर्तन दीखने लगता है एक समय ऐसा आता है, जब घड़े का कोई भाग पकड़कर उठाया जाय, तो उतना ही टूटकर हाथ में आ जाता है, शेष भाग वहीं पड़ा रह जाता है। ऐसे ही सुरक्षित रखा हुआ भी कपड़ा कालान्तर में इतना जीर्ण-शीर्ण हो जाता है कि छूते ही धागे टूट टूटकर अलग हो जाते हैं।

परिणामशील वस्तु में यह परिवर्तन एक-साथ नहीं हो जाता। यह धीरे-धीरे प्रतिक्षण होता रहता है। वस्तु का जब उदय हुआ, वह भी परिणाम का फल है। तब से ही प्रतिक्षण परिणाम चालू रहता है। इसकी स्पष्ट प्रतीति वस्तु के अवसान समय पर होती है। वर्त्तमान वस्तु के अन्तराल में भी निपुण दृष्टि द्वारा इसे पहचाना जा सकता है। इस प्रकार क्षणसमूह के साम्मुख्य में वस्तुगत परिणाम के अवसान पर परिणाम का क्रम स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाता है। यदि परिणाम के क्रम का बोध न हो, तो कोई भी नवीन वस्तु पुरानी नहीं देखी जा सकती। नई वस्तु कालान्तर में पुरानी देखी जा सकती है, यह परिणामक्रम के अस्तित्व में पुष्ट प्रमाण है।

व्याख्याकारों ने नित्य पदार्थों में भी परिणामक्रम को स्वीकार किया है। नित्यता दो प्रकार की बताई है, एक-कूटस्थनित्यता, दूसरी-परिणामिनित्यता। पहली नित्यता-चेतन आत्मतत्त्व आदि की दूसरी गुणों की। परन्तु अपरिणामी चेतन तत्त्व में परिणाम की कल्पना प्रौढ़िवादमात्र है। वे व्याख्याकार कूटस्थ नित्य में परिणामक्रम का उपपादन नहीं कर सके, उसे केवल कल्पनामूलक औपचारिक कहकर उन्होंने अपना सन्तोष प्रकट किया है। वस्तुतः परिणामिनित्यता में भी मूलभूत गुणों का अपना अस्तित्व सदा निर्बाध बना रहता है, वहाँ भी क्रम

का वास्तविक अस्तित्व नहीं। परिणाम-क्रम का वास्तविक अस्तित्व गुणों के परिणामस्वरूप 'महत्' आदि में परिलक्षित होता है। इसी सीमा में वस्तु के उदय और अवसान के रूप में परिणाम-क्रम चला करता है। अपरिणामी कूटस्थनित्य में परिणाम-क्रम की कल्पना निराधार है।

परिवर्त्तनशील संसार को देखते हुए यह स्पष्ट है कि यह सब परिणामक्रम का उदाहरण है। तब प्रश्न होता है, क्या संसार का कभी अवसान होगा? वस्तुतः यह अतिप्रश्न है, इसका निश्चित उत्तर दिया जाना सम्भव नहीं। कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनका निश्चित उत्तर दिया जा सकता है। प्रश्न हुआ-क्या जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी मर जायगा? उत्तर है-अवश्य, जिसने जन्म लिया, वह एक दिन अवश्य मर जायगा। कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनका विवेचनपूर्वक उत्तर दिया जाता है। जैसे प्रश्न हुआ-जो मरता है, क्या मरने के अनन्तर प्रत्येक व्यक्ति जन्म लेगा? इसका उत्तर विवेचन या विभागकर (बाँटकर) दिया जाता है। जो आत्मज्ञानी हो गया है, चालू-देहपात के अनन्तर उसका जन्म न होगा। जो अन्य अज्ञानी प्राणी हैं, उनका जन्म होगा।

इसी कोटि का अन्य प्रश्न है-क्या मनुष्य जाति सबमें श्रेष्ठ है? उत्तर है-पशु-आदि की समानता में श्रेष्ठ हैं, देव तथा ऋषियों को लक्ष्य कर श्रेष्ठ नहीं। परन्तु पूर्वोक्त प्रश्न-संसार अन्तवाला है, या अनन्त है? इसका उत्तर दिया जाना सरल नहीं। वस्तुतः शास्त्रीय आधार पर यह कहा जा सकता है-जिसका आदि होता है, उसका अन्त होता है। संसार का आदि नहीं, तब अन्त भी न होना चाहिए। फलतः संसार अनादि अनन्त हैं; यही कहा जा सकता है[१] ॥३३॥ [१९४]

१. सांख्यदर्शन के दो सूत्र हैं-अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम्। "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः।" [१।१२३-२४]; अनादि संसार जब आज तक विद्यमान है, तो आगे भी इसका अत्यन्त उच्छेद होनेवाला नहीं है। तात्पर्य-संसार अनादि अनन्त है। यह सूत्रसंख्या संस्थान से प्रकाशित विद्योदय भाष्य के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर किसी भी अन्य संस्करण में सूत्र देखे जा सकते हैं।

गुणों के परिणाम का क्रम जिस पूर्ण आत्मज्ञानी के लिए टूट जाता है, वह चालू देह का पतन होने पर कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। इस प्रसंग से प्रस्तुत शास्त्र का अन्तिम सूत्र कहते हुए आचार्य ने कैवल्य का स्वरूप बताया

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥३४॥ [१९५]

[पुरुषार्थशून्यानाम्] पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि से शून्य हुए **[गुणानाम्]** गुणों का **[प्रतिप्रसवः]** अपने कारणों में लीन हो जाना **[कैवल्यम्]** कैवल्य है। **[स्वरूपप्रतिष्ठा वा]** अथवा स्वरूप में प्रतिष्ठित **[चितिशक्तिः]** चितिशक्ति कैवल्य है। **[इति]** यह शास्त्र समाप्त होता है।

प्रकृति [सत्त्व-रजस्-तमस् तीनों गुणों] के परिणाम पुरुष [आत्मा] के प्रयोजन को सिद्ध-सम्पन्न करने के लिए होते हैं। आत्मा का प्रयोजन है-भोग और अपवर्ग। इन्हीं को शास्त्र में 'पुरुषार्थ' पद से कहा जाता है। जो आत्मा निर्बीज समाधि के स्तर को प्राप्त कर पूर्ण आत्मज्ञानी हो जीवन्मुक्त हो चुका है; वह प्रारब्ध कर्मों को भोगकर चालू देह को त्याग देता है। इस आत्मा के भोग और अपवर्ग सम्पन्न हो जाने के कारण अब सत्त्वादि गुण उसके लिए शून्य हो जाते हैं अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि से रहित हो जाते हैं। जो कार्य उन्होंने करना था, वह कर चुके हैं। इस आत्मा के लिए उनकी आवश्यकता नहीं रही। अपना कार्य पूरा कर वे अपनी कारण अवस्था में लौट आते हैं। इसी का नाम कैवल्य है।

अथवा चितिशक्ति-चेतन आत्मतत्त्व का प्रकृति एवं प्राकृत महत् आदि पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। योग के सर्वोच्च स्तर में पहुँच जाने पर योगी के चित्त की व्युत्थान वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तथा व्युत्थान, समाधि और निरोध के संस्कार चित्तव्यापार के रुद्ध हो जाने से चित्त (मन) में

लीन हो जाते हैं। मन अपने कारण अस्मिता में, अस्मिता (अहंकार) बुद्धि (महत्तत्त्व) में और बुद्धि मूल उपादान प्रकृति में लीन हो जाती है। इस प्रकार वह पुरुष (आत्मतत्त्व) गुणों के सम्पर्क से अलग होकर स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' [१।३]।

अब आत्मा केवल स्वरूप में अवस्थित है, गुणों के साथ इसका कोई सम्पर्क नहीं। इसी कारण आत्मा की इस अवस्था को 'कैवल्य' कहा जाता है। तब आत्मा अपने नैसर्गिक सामर्थ्य से-जो योग-समाधि द्वारा उजागर (अभिव्यक्त) हो गया है- आनन्दस्वरूप परमात्मा में सम्बद्ध होकर उस दिव्य आनन्द का अनुभव किया करता है। सूत्र में 'इति' पद शास्त्र की समाप्ति का द्योतक है॥३४॥ [१९५]

ज्येष्ठकृष्णद्वितीयायां सम्प्राप्ते शनिवासरे।
गुणकालाकाशनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे॥
पूर्णसिंहतनूजेनोदयवीरेण शास्त्रिणा।
उद्भावितं योगभाष्यं शुभं विद्योदयाभिधम्॥
परेशकृपया नूनं निर्बाधं पूर्णतामगात्।
शास्त्रतत्त्वबुभुत्सूनां वितनोतु सदा मुदम्॥

॥ इति श्रीपूर्णसिंहतनुजनुषा तोफादेवीगर्भजातेन, 'बलिया' मण्डलान्तर्गत 'छाता' वासिश्रीगुरुवर्यकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन, बुलन्दशहर-मण्डलान्तर्गत 'बनैल'-ग्रामवासिना-**उदयवीर-शास्त्रिणा**-समुन्नीते
पातञ्जलयोगदर्शन-विद्योदयभाष्ये
चतुर्थः कैवल्यपादः॥
॥ सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः॥

परिशिष्ट १

योगसूत्राणां वर्णानुक्रमसूची

ह

परिशिष्ट २

योगसूत्रस्थपदानां वर्णानुक्रमसूची

परिशिष्ट ३

उद्धृत-सन्दर्भ-सूची

(अकारादिक्रमानुसार)

ओ

च

त

द

न

प

भ

म

य

परिशिष्ट ४

विषय-निर्देशिका

अकारादिक्रमानुसार

ह

❑❑❑